भक्तिपरक पद ८९, शृङ्गार एवं विरह-मिलन सम्बन्धी पद ९०, आध्यात्मिक पद ९१, दार्शनिक पद ९२, योग साधनापरक पद ९३, उपदेशात्मक पद ९४।

तृतीय अध्याय : **९५-१६५**

आनंन्दघन की विवेचन-पद्धति—

प्रतीकात्मकता ९८, अमूर्त तत्त्वों का मानवीयकरण १०२, रूपकात्मक पद्धति १११, रहस्यात्मकता १२०, अनेकांत-दृष्टि १२८, निश्चय और व्यवहारमूलक नय-पद्धति ११२, समन्वयात्मक दृष्टि १४७, अपरोक्षानुभूति १५८।

चतुर्थ अध्याय : **१६६-२५०**

आनन्दघन के रहस्यवाद के दार्शनिक आधार—

आत्मज्ञान की जिज्ञासा १६६, आत्मा का स्वरूप १७०, आत्मा १७१, आत्मा का लक्षण १७२, कर्तृत्व १७८, भोक्तृत्व १७९, निषेधात्मक रूप से आत्मा के स्वरूप पर विचार १८०, आत्मा का अनिर्वचनीय स्वरूप १८२, नित्यवाद और अनित्यवाद १८४, नित्य आत्मवाद १८५, अनित्य आत्मवाद, आत्मा की विभिन्न अवस्थाएँ १९३, आत्मा की स्वाभाविक एवं वैभाविक अवस्थाएँ १९४, बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा २०१, जैनेतर परम्परा में आत्मा की अवस्थाओं का चित्रण २०३, निद्रा, स्वप्न, जाग्रत और तुरीय २१६, बन्धन (दुःख) और उसका कारण २२०, प्रकृतिबन्ध २२७, स्थितिबन्ध २२९, अनुभागबन्ध २२९, प्रदेशबन्ध २२९, कर्म की अवस्थाएँ २२९, बन्ध २२९, उदय २३०, उदीरणा २३०, सत्ता २३०, बन्धन का कारण २३०, आत्मा का साध्य—मुक्ति, आनन्द २३५, मुक्ति के उपाय २४९।

पंचम अध्याय : **२५१-२७०**

आनन्दघन का साधनात्मक रहस्यवाद—

रत्नत्रय की साधना २५१, सम्यग्दर्शन २५२, सम्यग्दर्शन के विविध रूप २५२, (अ) दृष्टिपरक अर्थ में २५२, (ब) तत्त्व श्रद्धा-

परक अर्थ में २५२, (स) श्रद्धापरक अर्थ में २५३, सम्यग्दर्शन का लक्षण एवं स्वरूप २५३, सम्यक् ज्ञान २५६, सम्यक् चारित्र २५८, भक्ति योग की साधना : जैन भक्ति का स्वरूप २६०, योग साधना २६२, योग साधनापरक शब्दावली २६२, योग का स्वरूप २६३, योग के विविध भेद २६३, हठयोग २६३, लययोग २६४, राजयोग २६५, यम और नियम २६५, आसन २६६, प्राणायाम २६६, प्रत्याहार २६६, धारणा २६७, ध्यान २६७, समाधि २६८, मन्त्रयोग २६८, जैन योग २६९, अवंचक त्रय योग साधना २६९।

षष्ठ अध्याय : **२७१–३३५**

आनन्दघन का भावात्मक रहस्यवाद—

भावात्मक रहस्यवाद में अनुभूति का महत्त्व २७१, रहस्यवाद की अवस्थाएँ २७५, प्रेम और विरह का सम्बन्ध २७८, अनन्य प्रेम २७८, विरह का स्वरूप २८४, विरह के द्वारा वेदना की तीव्रता २८५, विरह के अश्रुपात २८८, दर्शन की उत्कण्ठा २९९, मिलन की उत्कण्ठा ३०३, मिलन की प्रतीक्षा ३०५, निराशा में आशा की किरण ३०९, विघ्न की अवस्था ३१३, माया ३१४, ममता ३१७, परमात्म दर्शन में बाधक घाती कर्म-पर्वत ३१८, मिलन की अवस्था ३२१, आत्म-समर्पण की अवस्था ३२६, तादात्म्य अथवा आत्मोपलब्धि की अवस्था ३३१।

सहायक ग्रन्थ-सूची : **३३६–३५२**

प्रथम अध्याय

रहस्यवाद : एक परिचय

भूमिका

वस्तुतः रहस्यवाद अर्वाचीन सम्प्रत्यय है, किन्तु रहस्य-भावना भारतीय वाङ्मय में प्राचीनकाल से विद्यमान है। रहस्य-भावना का आशय आध्यात्मिक परमतत्त्व की प्राप्ति है। रहस्य-भावना में साधक की उत्कट जिज्ञासा का विशेष महत्त्व है, क्योंकि यहाँ साध्य सदैव रहस्यमय रहता है। जिज्ञासावृत्ति ही साधक को रहस्यमय साध्य तक पहुँचाती है। इसी कारण भारतीय रहस्यवादी चिन्तकों ने परमतत्त्व के प्रति जिज्ञासा और उत्सुकता का साधक में जागरित होना अनिवार्य माना है।

वास्तव में, अज्ञात तत्त्व के प्रति जिज्ञासा मानव की चिन्तनशीलता एवं बौद्धिकता का परिणाम है। भारतीय ऋषि-महर्षियों द्वारा व्यक्त और दृश्य देह-जगत् के भीतर अव्यक्त, अदृश्य और अरूपी आत्मतत्त्व को खोजने का प्रयास चिरन्तन काल से होता रहा है। साधनाओं और भावनाओं द्वारा अपने घट में ही विराजमान 'आत्मदेव' के साथ तादात्म्य स्थापित किया गया है। ये आध्यात्मिक अनुभव जब शब्दों में अभिव्यक्त होते हैं, तब उन्हें रहस्य-भावना, रहस्य-विचार अथवा रहस्य-साधना कहा जाता है। इसे आज 'रहस्यवाद' के नाम से अभिहित किया गया है। "मूलतः अपनी अन्तःस्फुरित अपरोक्ष अनुभूतियों द्वारा सत्य, परमतत्त्व अथवा ईश्वर का प्रत्यक्ष साक्षात्कार करने की प्रवृत्ति ही रहस्यवाद है।"[1]

रहस्यवाद शब्द रहस्य + वाद इन दो शब्दों के मेल से बना है। रहस्य = परमतत्त्व और वाद = विचार। इस प्रकार रहस्यवाद का अर्थ है परमतत्त्व विषयक विचार। आध्यात्मिक दृष्टि से रहस्यवाद का मूलार्थ है— परमतत्त्व सम्बन्धी वह विचार या भावना जिसमें अन्तःज्ञान (इन्ट्युशन) पर आधारित अपरोक्षानुभूति का तत्त्व सन्निहित हो। रहस्य-भावना के बीज तो वेद-उपनिषद् आदि प्राचीनतम साहित्य में समाहित थे, किन्तु आगे

---

१. साहित्य कोश, पृ० ६२५।

चलकर यह भावना सिद्धों, नाथों तथा मध्ययुगीन सन्त-साहित्य में प्रस्फुटित हुई। वस्तुतः रहस्य-भावना किसी एक देश, काल, जाति अथवा धर्म-सम्प्रदाय की सीमा में आबद्ध नहीं है अपितु सर्वकालीन एवं सार्वभौम है, अर्थात् सनातन और चिरन्तन है।

दृश्य (शरीर) में अदृश्य (शुद्धात्म तत्त्व) को देखना एवं उसका प्रत्यक्ष अनुभव करना ही रहस्य-भावना अथवा रहस्यवाद है 'धर्मस्य तत्त्व निहितं गुहायां' एवं 'ऋषयो मन्त्र द्रष्टारः' जैसे पद रहस्य-भावना के प्राचीनतम संकेत हैं। रहस्यवादी विचारधारा में यह माना जाता है कि परमतत्त्व कोई रहस्य है जो इस प्रतीयमान जगत् के मूल में कहीं छिपा है, जिसका दर्शन स्थूल इन्द्रियों से सामान्यतः नहीं होता। इस रहस्यमय परमतत्त्व का अनुभव करने के लिए विशेष दृष्टि अर्थात् 'अन्तर्दृष्टि' या प्रातिभज्ञान चाहिए। रहस्य-दृष्टि वास्तव में एक विशेष प्रकार की अनुभूति है जिसकी प्राप्ति के बाद और कुछ पाना शेष नहीं रह जाता।

'रहस्य' शब्द की व्युत्पत्ति

यद्यपि 'रहस्य' और 'वाद' दोनों संस्कृत शब्द हैं, अतः यहाँ 'रहस्य' शब्द की व्युत्पत्ति एवं उसके विविध अर्थों पर विचार करना अपेक्षित है। लतः 'रहस्य' शब्द 'रह त्यागे' धातु से निर्मित है। त्यागार्थक 'रह्' धातु में असुन् प्रत्यय जोड़ने पर रह + असुन् = 'रहस्' शब्द बनता है।[1] 'दिगादिभ्यो यत्'[2] सूत्रानुसार यत् प्रत्यय लगाने पर 'रहस्य' शब्द निष्पन्न होता है। इस प्रकार 'रहस्य' शब्द की 'रह्यते अनेन इति रहः, 'रहसि भवं रहस्यम्,' 'रहो भवं रहस्यम्' इत्यादि व्युत्पत्तियां की जा सकती हैं। अभिधानराजेन्द्रकोश के अनुसार रहस्य शब्द की व्युत्पत्ति 'रहः एकान्तस्तत्र भवं रहस्यम्' है तथा रहस्य शब्द का अर्थ एकान्त किया है।[3]

'रहस्य' शब्द के विविध अर्थ

सामान्यतः रहस् का अर्थ एकान्त है। एकान्त में जो होता है, उसे रहस्य कहा जाता है। पाइअ-लच्छी नाम-माला कोश में 'गुज्झं रहस्सं'—गुह्य

१. सर्वधातुभ्योऽसुन् (उणादि सूत्र-चतुर्थपाद)।

२. तत्रभवः दिगादिभ्यो यत् (पाणिनि सूत्र ४।३।५३, ५४)

३. अभिधान राजेन्द्र कोश, खण्ड ६, पृ० ४९३।

अर्थ में रहस्य शब्द का प्रयोग हुआ है।[1] इसी तरह अभिधान-चिन्तामणि में भी गुह्य अर्थ में रहस्य शब्द व्यवहृत हुआ है।[2] पाइअ-सद्द-महण्णव में रहस्य शब्द के अनेक अर्थ दिए गए हैं यथा—गुह्य, गोपनीय, एकान्त में उत्पन्न, तत्त्व, भावार्थ, अपवाद-स्थान आदि।[3] धवला में अन्तराय कर्म को रहस्य कहा गया है। अन्तराय कर्म का अवशिष्ट नाश तीन घातिया कर्मों के नाश का अविनाभावी परिणाम है और अन्तराय कर्म का नाश होने पर अघातिया कर्म दग्ध बीज के समान शक्तिरहित हो जाते हैं।[4]

जैनेतर कोशों में भी 'रहस्य' शब्द के भिन्न-भिन्न अर्थ पाए जाते हैं। अमरकोश में रहस् का अर्थ विविक्त, विजन, छन्न, निःशलाक, रहः, रपांशु और एकान्त किया गया है।[5] मेदिनीकोश में रहस् शब्द की दृष्टि से उसका अर्थ 'रहस्तत्त्वे रमे गुह्ये' जैसे प्रमाणों के आधार पर 'तत्त्व' अथवा 'सार पदार्थ' है।[6] रहस्य शब्द भेद, मर्म या सारतत्त्व के पर्यायवाची के रूप में भी प्रयुक्त हुआ है।[7] इस प्रकार, भिन्न-भिन्न कोशों में रहस्य शब्द के विभिन्न अर्थ होने पर भी सब अर्थों से 'गोपनीयता' का बोध ही अधिक होता है। किन्तु उक्त अर्थों के अतिरिक्त रहस्य शब्द खेल, विनोद, मजाक, मश्करी[8], मैत्री, स्नेह, प्रेम एवं पारस्परिक सद्भाव जैसे अन्य अर्थों में भी व्यवहृत हुआ है।

---

१. पाइअ-लच्छी नाममाला कोश, गाथा २७१।

२. गुह्ये रहस्यं........। अभिधान चिन्तामणि कोश, ७४२।

३. पाइअ-सद्द-महण्णवो, पृ० ७०८।

४. रहस्यमन्तरायः, तस्य शेष घाति त्रितय विनाशा-विनाभाविनो भ्रष्ट बीजवन्निःशक्ति कृता घाति कर्मणोः
—धवला १.१.१, १.४४.४।
उद्धृत—जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, भाग ३, पृ० ४०७।

५. विविक्त विजनः छन्नानिः शलाकास्तथा रहः।
रहस्योपांशु चालिंग रहस्यं तद्भवे त्रिषु॥
—अमरकोश २।८, २२-२३ एवं अभिधान चिन्तामणि कोश, ७४१।

६. 'मेदिनी कोश,' उद्धृत—रहस्यवाद, आचार्य परशुराम चतुर्वेदी, पृ० ३।

७. भगवद् गोमण्डल, भाग ८, पृ० ७५५।

८. महाराष्ट्र शब्दकोश (भाग ६), पृ० २५९८।

विभिन्न धर्म-ग्रन्थों में 'रहस्य' का अर्थ

विभिन्न धर्म-ग्रन्थों में भी 'रहस्य' का प्रत्यय उपलब्ध होता है। ऋग्वेद में 'रहसूरि वागः'[१] के 'रहस्' शब्द का प्रयोग 'गुह्य' अर्थ में हुआ प्रतीत होता है। वस्तुतः गुह्य और रहस्य शब्द समानार्थक हैं। 'उपनिषद्' शब्द भी 'रहस्यात्मकता' का परिचायक है जिसका अर्थ है 'रहस्यमय पूजा पद्धति'[२]। भगवद्गीता में इस शब्द का विशेष प्रयोग दृष्टिगत होता है। वहाँ एकान्त अर्थ में 'योगी युञ्जीत सततं आत्मानं रहसि स्थितः'[३] तथा मर्म अर्थ में 'भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम्'[४] और गुह्यार्थ में 'गुह्याद् गुह्यतरं,'[५] 'सर्व गुह्यतमं,'[६] 'परमं गुह्यं'[७] तथा आध्यात्मिक उपदेश के अर्थ में 'परमं गुह्यमध्यात्म संज्ञितम्'[८] इत्यादि द्रष्टव्य हैं। जिस प्रकार वैदिक साहित्य में 'रहस्' शब्द का प्रत्यय पाया जाता है, उसी तरह जैनागम – नायाधम्मकहाओ,[९] उत्तराध्ययन,[१०] पह्णावागरणं,[११] सूयडांग,[१२] रायपसेणी,[१३] दसवैकालिय,[१४] औपपातिक,[१५]

१. ऋग्वेद, २।२९।१।

2. Indian writers use the term (Upanishad) in the sense of secret doctrine or Rahsya. Upanishadic texts are generally referred to as Paravidya, the great secret. —Prof. A. Chakravarti, Introduction to Samayasar of Kund Kund—Bhartiya Gyana Pith, Kashi. 1st Edition May 1950, p. XLIV—XLV.

३. भगवद्गीता—६।१०।

४. वही, ४।३।

५. वही, १८।६३।

६. वही, १८।६४।

७. वही, १८।६८।

८. वही, ११।१।

९. नायाधम्मकहाओ, १।७।१४, ८।१४।

१०. उत्तराध्ययन, १।१७।

११. पण्हावागरणं, १।४।

१२. सूयडांग, १।४।१।१८।

१३. रायपसेणी, २१०।२८३।

१४. दसवैकालिय, ५।१।१६ एवं १०।१७।

१५. औपपातिक, ३८।

उवासगदसांग,[1] ठाणं[2] आदि में भी 'रहस्य' शब्द व्यवहृत हुआ है और उनमें इसका अर्थ गुप्त बात, छिपी हुई बात, प्रच्छन्न, गोप्य, विजन, एकान्त, अकेला, गूढ़, ह्रस्व, अपवाद-स्थान आदि किया गया है। किन्तु 'रहस्य' शब्द का अर्थ केवल एकान्त, गोप्य या गुह्य विषय ही नहीं है, प्रत्युत इसका आध्यात्मिक क्षेत्र में एक विशेष अर्थ है और वह विशेष अर्थ भी हमे जैन-साहित्य में मिलता है। ओघनिर्युक्ति में 'रहस्य' शब्द का प्रयोग 'परमतत्त्व' के रूप में हुआ है।[3] ओघनिर्युक्ति में 'परम रहस्य' शब्द का स्पष्टीकरण करते हुए बताया गया है कि आध्यात्मिक विशुद्धि से युक्त ऋषियों द्वारा प्रणीत समस्त गणिपिटक (जैन आध्यात्मिक साहित्य) का सारतत्त्व 'आत्म-साक्षात्कार' है। यही 'परम रहस्य' है।[4] वृत्तिकार ने 'रहस्य' शब्द का अर्थ 'तत्त्व' भी किया है।[5] इससे यह स्पष्ट होता है कि परमतत्त्व या आत्मतत्त्व ही 'रहस्य' है। स्वयं ग्रन्थकार ने भी स्पष्ट किया है कि रहस्यानुभूति आध्यात्मिक विशुद्धि से युक्त ज्ञानीजनों को ही प्राप्त होती है। यह आत्म-बोध या रहस्यानुभूति निश्चय अर्थात् सत्ता के शुद्ध स्वरूप के अवलम्बन से ही उपलब्ध होती है। निश्चय नय के आधार पर तत्त्व का साक्षात्कार करनेवाला ऐसा [illegible] नियमों के परिपालन में सजग होता है। तात्त्विक अनुभूति गूढ़ होती है, किन्तु उसकी

१. उवासगदसांग, १।४६।

२. ठाणं, ३, ४।

३. ओघनिर्युक्ति, ७६०।

४. जा जयमाणस्स भवे विराहणा सुत्तविहि समग्गस्स।
सा होई निज्जरफला अज्झत्थ विसोहि जुत्तस्स ॥
परम रहस्समिसीणं समत्तगणिपिडग झरित साराणं।
परिणामियं पमाणं निच्छयमवलंब माणाणं ॥
निच्छयमवलंबंता निच्छयओ निच्छयं अयाणंता।
नासंति चरण करणं बाहिर करणालसा केइ ॥
—ओघनिर्युक्ति, ७६०-६१-६२।

५. किं विशिष्टस्य ? '[illegible]' विशुद्धभावस्येत्यर्थः। किञ्च —परमं प्रधानमिदं रहस्यं—तत्त्वं, केषाम् 'ऋषीणां' सुविहितानां, किं विशिष्टानां ? समग्रं च तद् गणिपिटकं च समग्रगणिपिटकं तस्य क्षरितः सारस्तेषामिदं रहस्यं।
—ओघनिर्युक्ति-द्रोणीवृत्ति ७६०-६२।

अभिव्यक्ति बाह्य जीवन में आवश्यक है। जो लोग परमतत्त्व की अनुभूति को वस्तुतः प्राप्त न करके निश्चय या रहस्यात्मकता की बात करते हैं, उन्हें ओघनिर्युक्तिकार ने बाह्य व्यवहार का नाश करनेवाला ही कहा है।

'रहस्यवाद' शब्द का प्रयोग

रहस्य-भावना प्राचीन है, किन्तु 'रहस्यवाद' शब्द अर्वाचीन है। हिन्दी-साहित्य में इस शब्द का प्रयोग आधुनिक काल की ही उपलब्धि कहा जा सकता है, क्योंकि प्राचीन भारतीय वाङ्मय एवं मध्यकालीन सन्तों की वाणी में यह शब्द इसी रूप में प्रयुक्त नहीं है। वैसे भारतीय वाङ्मय में ऋग्वेद से लेकर उपनिषद्, गीता, जैनागमों आदि में 'रहस्य' का प्रत्यय आध्यात्मिक अर्थ में उपलब्ध है। आगे चलकर इस प्रत्यय का सुविकसित रूप हमें सिद्धों और नाथपंथियों के साहित्य में तथा मध्ययुगीन कबीर आदि निर्गुण सन्तों की वाणी में परिलक्षित होता है। लेकिन आधुनिक युग में हिन्दी काव्य-शैली के क्षेत्र में इस शब्द ने स्वतन्त्र रूप से एक वाद का ही रूप धारण कर लिया जो 'रहस्यवाद' के नाम से प्रचलित हुआ। इस प्रकार, रहस्यवाद शब्द नितान्त आधुनिक होते हुए भी एक सुस्थापित प्राचीन परम्परा का विकास है।

हिन्दी भाषा में इस शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने काव्य-रचना शैली के प्रसंग में ई० सन् १९२७ में 'सरस्वती' पत्रिका के मई अंक में किया। रहस्यवाद को अंग्रेजी में Misticism कहा जाता है। संभवतः हिन्दी-साहित्य में रहस्यवाद शब्द का प्रयोग मिस्टिसिज्म के अनुवाद के रूप में ही प्रयुक्त हुआ है। मिस्टिसिज्म शब्द का प्रयोग अंग्रेजी-साहित्य में भी प्रायः सन् १९०० के बाद ही प्रचलित हुआ है।[1] मिस्टिसिज्म शब्द Mystic से बना है। मिस्टिक शब्द की व्युत्पत्ति सम्भवतः ग्रीक शब्द Myste's 'मिस्टेस' अथवा Mystes 'मस्टेस' से हुई है, जिसका अर्थ है—किसी गुह्य ज्ञान प्राप्ति के लिए दीक्षित शिष्य।[2]

१. द कन्साइज आक्सफोर्ड डिक्शनरी, पृ० ७८२—वर्ड 'मिस्टिक', आक्सफोर्ड १९६१। अनन्देल का अंग्रेजी शब्दकोश भी देखिए।

2. Bonquet, P.C.—Comparative Religion (Petieam Series, 1953) p. 286.

मराठी भाषा में मिस्टिसिज्म के लिए 'गूढ़पाद' या 'गूढ़गुंजन' जैसे शब्द पाये जाते हैं[1] और बंगाली भाषा में इसके लिए अधिकतर 'मरमियावाद' शब्द का प्रयोग किया गया है।[2]

ऐसा प्रतीत होता है कि आधुनिक काल में जब काव्य-प्रवृत्ति के क्षेत्र में छायावाद, प्रगतिवाद, प्रयोगवाद जैसे वादों का प्रचलन प्रारम्भ हुआ, तभी सन् १९२० ई० के लगभग रहस्यवाद का भी नामकरण हुआ। इतना स्पष्ट है कि हिन्दी काव्य क्षेत्र में सन् १९२० के पहले रहस्यवाद शब्द का प्रयोग कहीं परिलक्षित नहीं होता। बीसवीं शती के द्वितीय दशक में बंगला और अंग्रेजी साहित्य के प्रभाव से हिन्दी में छायावाद का उद्भव हुआ और प्रारम्भ में छायावाद को ही रहस्यवाद कहा जाने लगा। किन्तु साहित्यिक क्षेत्र में जब छायावाद की आलोचना-प्रत्यालोचना होने लगी, तब सम्भवतः उसी की प्रतिक्रिया के परिणामस्वरूप रहस्यवाद का जन्म हुआ। इस प्रकार हिंन्दी-साहित्य में रहस्यवाद का प्रयोग आधुनिक युग की देन है।

रहस्यवाद की विविध व्याख्याएं एवं परिभाषाएं

वस्तुतः हिन्दी-साहित्य का रहस्यवाद एक ऐसा नया शब्द है जिसके सम्बन्ध में भारतीय एवं पाश्चात्य विद्वानों में इसके स्वरूप, अर्थ प्रकार एवं परिभाषा व्याख्या आदि के विषय में भिन्न-भिन्न धारणाएँ रहीं हैं। इसी कारण इसमें विविधरूपता और अव्यवस्था दृष्टिगोचर होती है। परिणामतः रहस्यवाद की अभी तक कोई समुचित सर्वमान्य और सामान्य परिभाषा स्वीकृत नहीं हुई है। फिर भी, पाश्चात्य एवं भारतीय विद्वानों के द्वारा रहस्यवाद को, जिन परिभाषाओं में बांधने का प्रयास किया गया है, उनका संक्षेप में अवलोकन करना समीचीन होगा।

मनोवैज्ञानिक आधार पर की गई रहस्यवाद की परिभाषाओं को चार भागों में विभक्त किया जा सकता है—

१. डा० प्रहलाद नरहर जोशी : 'मराठी साहित्यांतील मधुराभक्ति' (पुणे. १९५७ ई०), पृ० १५०-५१।
२. रमा चौधुरी : 'वेदान्त ओ सूफी दर्शन' (कलिकाता, १९४४ ई०), पृ० १४६, १६४-६५।

१. चेतना के रूप में,
२. संवेदन (भावात्मक बोध) के रूप में,
३. अनुभूति के रूप में,
४. मनोवृत्ति के रूप में।

रहस्यवाद को 'चेतना' के रूप में व्याख्यायित करनेवाले पाश्चात्य विद्वानों में प्रथम आर० एल० नेटलशिप (Nettleship) हैं। उनके अनुसार "सच्चा रहस्यवाद है इस बात का ज्ञान हो जाना कि जो कुछ हमारे अनुभव में आता है अर्थात् अपने वास्तविक रूप में, वह अपने से किसी अधिक वस्तु का प्रतीक मात्र है।"[1]

इसी तरह वाल्टर टी० स्टेस के मतानुसार "रहस्यवाद में किसी 'अनिर्दिष्ट एकता' का बोध होता है।"[2] यहां एकता का संवेदन 'अन्तिम सत्' की ओर ले जाता है और इस तरह चेतना का सम्बन्ध उस अनिर्दिष्ट 'एक ही तत्त्व' से जुड़ता है। 'इनसाइक्लोपिडिया आफ रिलिजन' में रहस्यवाद की विशिष्टता इस रूप में बतायी गयी है कि "आत्मा अपनी आन्तरिक उड़ान में व्यक्त और दृश्य का सम्बन्ध अव्यक्त और अदृश्य सत्ता के साथ जोड़ना चाहती है, जो रहस्यवाद की सर्वसम्मत विशेषता है।"[3] ऐसी चेतना को विलियम जेम्स बौद्धिक चेतना से पृथक् करते हुए कहते हैं—"यह रहस्यात्मक चेतना एक नितान्त नवीन प्रकार की चेतना है और हम इसे साधारण बौद्धिक चेतना से कुछ पृथक् ठहरा सकते हैं। मात्र इतना ही नहीं, जेम्स इसके लिए 'Sensory intellectual

---

1. True Mysticism is the consciousness that everything that we experience is an element and only an element in fact i. e., that in being what it is, it is symbolic of something more.".
   Quoted in 'Mysticism and Religion by Dr. W. R. Inge, p. 25 (New York).
2. Walter T. Stace: 'The Teachings of the Mystics' (New York, 1960), p, 238.
3. "It is one of the axioms of Mysticism that there is a correspondence between the microcosm and macrocosm, the seen and the unseen worlds."—Encyclopaedia of Religion.

consciouseness' जैसे शब्द का प्रयोग भी करते हैं।"[1] उन्होंने इसे 'मस्तिष्क-सम्बन्धी बौद्धिक चेतना' जैसा विचित्र नाम भी दे डाला है।

वास्तव में रहस्यवाद में मात्र चेतना ही नहीं होती, 'संवेदन' भी होता है। 'संवेदन' के रूप में रहस्यवाद को परिभाषित करने वाले पाश्चात्य विद्वान् फ्लेइडरर (Pfleiderer) का कथन है कि 'रहस्यवाद ईश्वर के साथ अपनी एकता का स्पष्ट संवेदन है, जिस कारण इसे हम इसके अतिरिक्त कुछ नहीं कह सकते कि अपने मूल रूप में यह केवल एक धार्मिक संवेदन मात्र है। परन्तु जिसके कारण यह धर्म के अन्तर्गत किसी विशिष्ट प्रवृत्ति का स्थान ग्रहण करता है, वह है ईश्वर में, ईश्वरत्व के अनुरूप अपने जीवन का पूर्ण तादात्म्य। इस प्रकार, ऐसे समस्त साधनों एवं मार्गों से पृथक् रहकर, जो हमारे लिए प्रायः माध्यमों का काम कर दिया करते हैं, यह एक पवित्र संवेदन के जीवन में प्रवेश भी कर जाना है तथा वहाँ पर उसके एकान्त अन्तर्वर्तितत्व में अपना कोई चिरस्थायी निवास-स्थान बना लेना है।"[2]

आइन्स्टीन जैसा वैज्ञानिक भी ऐसा संवेदन अनुभव करने पर लिखता है, 'सबसे सुन्दर वस्तु जिसे कि हम अनुभव कर सकते हैं, वह रहस्यवादी है और वह मूलतः भाव है।"[3] प्रसिद्ध दार्शनिक बर्ट्रेन्ड रसेल (Bertrand Russel) भी रहस्यवाद को संवेदन के रूप में परिभाषित

---

1. The Teaching of the Mystics : W. T. Stace, p. 12.
2. Mysticism is the immediate feeling of the unity of the self with God; it is nothing therefore, but the fundamental feeling of religion, the religious life at its very heart and centre. But what makes the mystical special tendency inside religion is the endeavour to fix the immediateness of the life in God as such, abstracted from all intervening helps and channels whatever, and find a permanent abode in the abstract inwardness of a life of pious feeling. Quoted at p. 25 of 'Mysticism and Religion' by Dr. W. R. Inge.
3. Eastern Religion and Western Thought, by S. Radhakrishnan, p. 61.

करता है। उनके अनुसार "रहस्यवाद तत्त्वतः 'संवेदन' की उस तीव्रता और गम्भीरता के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है जो अपनी विश्वात्मक भावना के प्रति अनुभूत की जाती है।"[१] रसेल की इस परिभाषा से फ्लेइडरर के मत का समर्थन होता है। फ्लेइडरर जहाँ ईश्वर के अव्यवहित सान्निध्य की चर्चा करते हैं, वहाँ रसेल महोदय ने उसी बात को मात्र 'आस्था' शब्द के द्वारा अभिव्यक्त कर दिया है।[२]

'अनुभूति' के रूप में रहस्यवाद की व्याख्या करनेवाले विलियम जेम्स के अनुसार "रहस्यवाद उस मनोदशा को सूचित करता है जिसमें अनुभूति अव्यवहित बन जाती है। तज्जन्य आनन्दातिरेक को किसी अन्य के प्रति सम्प्रेषित नहीं किया जा सकता।" इसी बात को और अधिक स्पष्ट करते हुए अन्यत्र उन्होंने यह भी कहा है—"अपने हर्षातिरेक की असम्प्रेषणीयता ही रहस्यवादी समस्त दशाओं की एकमात्र व्याख्या ठहरायी जा सकती है।" इस प्रकार का हर्षातिरेक उस अनुभूति में प्रकट होता है जिसमें न केवल हम किसी निरपेक्ष सत्ता के साथ एकरूप हो जाते हैं, प्रत्युत वैसी एकरूपता का हमें आभास भी हो जाया करता है।[३] इवेलिन अण्डरहिल का कथन है कि "रहस्यवाद भगवत् सत्य के साथ एकता स्थापित करने की कला है। रहस्यवादी वह व्यक्ति है जिसने न्यूनाधिक रूप में इस एकता को प्राप्त कर लिया है, अथवा जो उसकी प्राप्ति में विश्वास करता है और जिसने इस एकता सिद्धि को अपना चरम लक्ष्य बना लिया है।"[४] अण्डरहिल के अनुसार इस परिभाषा में व्यक्ति और ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार किया गया है। साथ ही, दोनों में एकता स्थापना की सम्भावना भी की गई है, लामा एनागोरिक गोविन्द, विलियम जेम्स के कथन का समर्थन करता है। जहां जेम्स हर्षातिरेक की चर्चा करता है, वहां लामा ऐसे अनुभव को केवल प्रातिभ अनुभूति (इन्ट्युटिव एक्सपीरिएन्स) की

1. Mysticism is, in essence, little more than a certain intensity and depth of feeling in regard to what is believed about the universe.
   Mysticism and Logic, by Burtrand Russel, p. 3.
2. Exploring Mysticism, First Staal, p. 59.
3. The Varieties of Religious Experience, William James, p. 379-429.
4. Practical Mysticism by Under Hill. p. 3.

संज्ञा देकर रह जाता है। लामा गोविन्द के मतानुसार भी "(रहस्यवाद) असीम तथा जो कुछ भी अस्तित्व में है उस समग्र की विश्वात्मक एकता की प्रातिभ अनुभूति है और इसके अन्तर्गत समग्र चेतना (अथवा यदि कहना चाहें तो) समूचा जीवन तत्त्व तक आ जाता है।"[१] जबकि रूडोल्फ ओट्टो के अनुसार 'रहस्यवाद सीमित में असीम को धारण करने के लिए है। वे उसे 'अनन्त का रहस्यवाद' कहते हैं।[२]

रहस्यवाद को मनोवृत्ति के रूप में व्यक्त करने वाले वान हार्टमैन का कथन है—"रहस्यवाद चेतना का वह तृप्तिमय बोध है जिसमें विचार, भाव एवं इच्छा (थाट् फीलिंग एंड विल) का अन्त हो जाता है तथा जहाँ अचेतनता (पूर्ण निमग्नता) से ही उसकी चेतना जाग्रत होती है।"[३] इसी तरह ई० केयर्ड (E. Caird) रहस्यवाद को चित्त की मनोवृत्ति-विशेष कहते हैं—"रहस्यवाद अपने चित्त की वह विशेष मनोवृत्ति है जिसके बन जाने पर अन्य सारे सम्बन्ध ईश्वर के प्रति आत्मा के सम्बन्ध के अन्तर्गत जाकर विलीन हो जाते हैं।"[४] केयर्ड की इस परिभाषा की अपेक्षा आर० डी० रानाडे ने इसकी अधिक समीचीन व्याख्या की है। उनके अनुसार मात्र ईश्वर के साथ ही सम्बन्ध नहीं होता है, अपितु आनन्द का भी अनुभव होता है।

---

1. The intuitive experience of the infinity and the all-embracing oneness of all that is, of all consciousness of all life or however, we may call it.
   Foundation of Tibaten Mysticism ; of Lama Anagarika Govind p. 77. Varieties of Religious Experiences, p.38 (Rider Co:, London, 1959)
2. Mysticism, East and West, Rudolf otto, p. 95.
3. Von Hartman—"Mysticism is the feeling of the consciousness with a content (feeling, thought and desire) by an involuntary emergence of the same out of the unconsciousness."
4. It (Mysticism) is that of the mind in which all other relations are swallowed in the relations of the soul to God.
   Quoted in 'Mysticism in Religion' by Dr. W. R. Inge, p. 25.

ह्वीलर ऐसी मानसिक अनुभूति को अनन्त के प्रति समर्पण और समाधि बताते हैं। उनके अनुसार—"रहस्यवाद में मूलभूत मानसिक अनुभूति जीवन के आवेग से इन्कार है, जीवन की थकान से इन्कार है। अनन्त को निःसंकोच समर्पण और जो समाधि है उसकी पराकाष्ठा है.... रहस्यवाद जीवन की निष्क्रियता, शान्तता, वीतरागी और चिन्तनशील है।"[1]

सी० एफ० ई० स्पर्जन (C. F. E. Spurgeon) रहस्यवाद को स्वभाव विशेष और वातावरण विशेष कहते हैं। उनके अनुसार "वास्तव में रहस्यवाद किसी धार्मिक मत की अपेक्षा एक स्वभाव विशेष है और दार्शनिक पद्धति की अपेक्षा एक वातावरण विशेष है।"[2]

इस प्रकार, चेतना, संवेदन, अनुभूति और मनोवृत्ति के रूप में, रहस्यवाद की उपर्युक्त व्याख्याएँ एवं परिभाषाएँ उसके दार्शनिक और मनोवैज्ञानिक पक्ष को ही अभिव्यक्त करती हैं। ये केवल उसके शास्त्रीय पहलू पर बल देती हैं उसकी व्यावहारिकता पर नहीं।

'विशुद्ध चेतना' को महत्त्व देनेवाली रहस्यवाद की व्याख्याएँ मानसिक वृत्तियों के मूल स्रोत तक अथवा अन्तिम सूक्ष्म ज्ञानपरक स्थिति तक ले जाकर कोरे तत्त्वज्ञान का ही परिचय देती प्रतीत होती हैं।

'संवेदन' को महत्त्व देने वाली परिभाषाओं में भी यही दोष परिलक्षित होता है। यद्यपि 'अनुभूति' परक व्याख्याएँ व्यावहारिकता का विचार करती हैं, तथापि वे व्यक्तिगत सीमा तक ही सीमित हैं और उसमें भी आन्तरिक संवेदन की ही प्रधानता दिखाई देती है। अन्तिम 'मनोवृत्ति' परक व्याख्याओं में व्यावहारिक रूप दृष्टिगत होता है और उसे मनोवृत्ति अथवा स्वभाव विशेष बताया गया है। साथ ही वह एकमात्र आन्तरिक प्रक्रिया नहीं रहती। तदुपरान्त वह व्याख्या भी आध्यात्मिक दृष्टि से

1. Quoted in 'Eastern Religion and Western Thought', p. 66.
2. Mysticism is, in truth a temper rather than a doctrine, an atmosphere rather than a system of philosophy.

   Quoted in Mysticism in the Bhagvad Gita by Dr. M. N. Sircar (Calcutta, 1944), p. V (Preface).

मार्गदर्शक से अधिक महत्त्व की प्रतीत नहीं होती। उपर्युक्त परिभाषाओं रहस्यवाद के किसी क्रियात्मक (साधनात्मक) पहलू पर चिन्तन किया गया है। अतः इन व्याख्याओं के अध्ययन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि ये व्याख्याएँ एकांगी हैं।

उक्त पाश्चात्य विद्वानों के अतिरिक्त कुछ अन्य पाश्चात्य चिन्तकों ने भी रहस्यवाद की परिभाषाएँ देने की चेष्टा की है। उनमें से एक डब्लू० ई० हाकिंग (W. E. Hokcing) हैं, जिन्होंने रहस्यवाद को साधन के रूप में स्वीकार किया है।

"रहस्यवाद ईश्वर के साथ व्यवहार करने का एक मार्ग है।"[1] दूसरे शब्दों में, वह ईश्वर की उपासना का एक प्रकार मात्र है। चार्ल्स बेनेट रहस्यवाद को जीवन पद्धति के रूप में स्वीकार करते हुए लिखते हैं— "रहस्यवाद का अर्थ कभी विचारप्रधान रहस्यवाद किया जाता है और उसे एक ऐसा दार्शनिक मत मान लिया जाता है जो परमात्मतत्त्व की मात्र एकता का तथा विभिन्न जीवात्माओं और सीमित पदार्थों के उसमें विलीन हो जाने का प्रतिपादन करता है। परन्तु ऐसे सिद्धान्तों के साथ हमारा सम्बन्ध नहीं है। हम रहस्यवाद को जीवन की एक ऐसी पद्धति के रूप में देखते हैं जिसका मुख्य अंग ईश्वर का अव्यवहित अनुभव कहा जा सकता है।"[2]

---

1. Mysticism is a way of dealing with God.
The Meaning of God in Human Experience (New Haven, 1912), p. 355.
2. By Mysticism is sometime meant speculative mysticism a metaphysical doctrine which proclaims the abstract unity of the Godhead and the obliteration in it of the particularity of individual souls and finite objects. With this doctrine we are not concerned but with mysticism as a way of life, in which conspicuous element is the immediate experience of God.
Philosophical Study of Mysticism, Bennet C, p. 7 (New Haven, 1923).

भारतीय विद्वानों के अनुसार रहस्यवाद की परिभाषाएँ इस प्रकार हैं—

डा० महेन्द्रनाथ सरकार रहस्यवाद को तर्कशून्य माध्यम बताते हुए लिखते हैं— "रहस्यवाद सत्य और वास्तविक तथ्य तक पहुंचने का एक ऐसा माध्यम है जिसे निषेधात्मक रूप में, तर्कशून्य कहा जा सकता है।"[१] किन्तु डा० राधाकमल मुकर्जी रहस्यवाद को, न केवल किसी एक साधन के रूप में अपितु एक विशिष्ट कला के रूप में भी परिभाषित करते हैं। उनके अनुसार "रहस्यवाद भीतरी समायोजन विषयक वह 'कला' है जिसके द्वारा मनुष्य विश्व का, उसके विभिन्न अंशों की जगह उसके अखण्ड रूप में बोध करता है।"[२] रहस्यवाद को मात्र साधन और कला के रूप में ही नहीं, प्रत्युत जीवन पद्धति के रूप में परिभाषित करने वाले विद्वानों में स्व० वासुदेव जगन्नाथ कीर्तिकर एवं डा० राधाकृष्णन् हैं। स्व० वासुदेव कीर्तिकर का कथन है कि—"रहस्यवाद एक आचार प्रधान 'अनुशासन' है जिसका लक्ष्य उस दशा को प्राप्त कर लेने का रहता है जिसे किसी यूरोपीय रहस्यवादी के अनुसार, 'मनुष्य का ईश्वर के साथ मिलने अथवा (जैसा भारतीय योगी कहते हैं) अपने अन्दर रही हुई आत्मानुभूति को उपलब्ध करना या ब्रह्म के साथ एकता का अनुभव करना कहा जाता है........यह तत्त्वतः और मूलभूत रूप में एक वैज्ञानिक 'श्रद्धा' है और सभी तरह से व्यावहारिक भी है।"[३] इसी प्रकार डा० राधाकृष्णन् रहस्यवाद के

1. "Mysticism is an approach to Truth and Reality, which can be negatively indicated as non-logical." Mysticism in Bhagvad Gita, p. I Preface (Calcutta. 1944).
2. "Mysticism is the art of inner adjustment by which man apprehends the universe as a whole instead of its particular parts."

   The Theory and Art of Mysticism (Bombay, 1960), p. XII (Preface).
3. "It (Mysticism) is a moral discipline having for its object the acquisition of a condition in directing, as a European mystic puts it. The union of man with God or (as an Indian Yogin might say) a selfrealization, within oneself, or one's identity with Brahma, the universal self........Mysticism is, in essence, at foundation, a scientific faith and it is entirely practical in its character."
   Studies in Vedanta, pp. 150-160 (Bombay, 1924).

"मानवीय प्रकृति का एक सतत अभ्यास सिद्ध करना चाहते हैं जिसका परिणाम आध्यात्मिक तत्त्व की उपलब्धि है।"[१] अन्यत्र भी उन्होंने कहा है कि "हिन्दू धर्म एक विचारधारा की अपेक्षा एक जीवन-पद्धति है। जहां विचार के क्षेत्र में, वह स्वतन्त्रता प्रदान करता है, वहीं व्यवहार के क्षेत्र में वह कोई कठोर आचारसंहिता भी निर्दिष्ट कर देता है।"[२]

उपर्युक्त दोनों परिभाषाएँ रहस्यवाद को धार्मिक अथवा आध्यात्मिक क्षेत्र तक ही सीमित रखती हैं। डा० एस० एन० दासगुप्ता के अभिमतानुसार "रहस्यवाद कोई बौद्धिकवाद नहीं है, यह मूलतः एक सक्रिय, रूपात्मक, रचनात्मक, उन्नायक तथा उत्कर्षप्रद सिद्धान्त है।............इसका अभिप्राय जीवन के उद्देश्यों तथा उसके प्रश्नों को, उससे कहीं अधिक वास्तविक और अन्तिम रूप से आध्यात्मिक रूप में ग्रहण कर लेना है जो कि शुष्क तर्क की दृष्टि से कदापि सम्भव नहीं कहा जा सकता है........ रहस्यवादपरक विकासोन्मुख जीवन का अर्थ, आध्यात्मिक मूल्य, अनुभव तथा आदर्शों के अनुसार कल्पित सोपान द्वारा क्रमशः ऊपर चढ़ते जाना है। इस प्रकार, अपने विकास की दृष्टि से यह बहुमुखी भी है और यह उतना ही समृद्ध होता है जितना स्वयं जीवन के लिए कहा जा सकता है। इस दृष्टिकोण से देखने पर रहस्यवाद सभी धर्मों का मूल आधार बन जाता है और यह विशेषतः उन लोगों के जीवन में उदाहृत होता दीख पड़ता है जो वस्तुतः धार्मिक होते हैं।"[३] यद्यपि डा० दासगुप्ता की

2. Discipline of human nature leading to a realization of spiritual.
   Counter Attack from the East—C. E. M. Joad, p. 149.
3. Hinduism more a way of life than a form of thought which it gives absolute liberty in the world of thought it enjoins a strict code of practices The Hindu view of Life, p, 77 (Allen and Unwin, 1931)
1. Mysticism is not an intellectual theory; it is fundamentally an active, formative, creative, elevating and ennobling principle of life.......Mysticism means a spiritual grasp of the aims and problems of life in a much more real and ultimate manner than is

यह व्याख्या रहस्यवाद का मूल स्रोत, कार्य, पद्धति, स्वरूप और आदर्श का स्पष्टीकरण करती है, फिर भी, इसमें रहस्यात्मक भावना का समावेश नहीं हुआ है । अतः परशुराम चतुर्वेदी के अनुसार—"रहस्यवाद एक ऐसा जीवन दर्शन है जिसका मूल आधार, किसी व्यक्ति के लिए उसकी विश्वात्मक सत्ता की अनिर्दिष्ट वा निर्विशेष एकता वा परमात्मतत्त्व की प्रत्यक्ष एवं अनिर्वचनीय अनुभूति में निहित रहा करता है और जिसके अनुसार किए जानेवाले उसके व्यवहार का स्वरूप स्वभावतः विश्वजनीन एवं विकासोन्मुख भी हो जा सकता है।"[१] इस व्याख्या के अनुसार रहस्यवाद एक जीवन-दर्शन बनता है, जो निर्विशेष एकता की अनुभूति से उसके व्यवहार के विकासोन्मुख स्वरूप का ख्याल कराती है ।

डा० आर० डी० रानाडे के अनुसार "रहस्यवाद मन की एक ऐसी प्रवृत्ति है, जो परमात्मा से प्रत्यक्ष, तात्कालिक, प्रथम स्थानीय, और अन्तर्ज्ञानीय सम्बन्ध स्थापित करती है।"[२] डा० वासुदेव सिंह के मतानुसार "वस्तुतः अध्यात्म की चरम सीमा ही रहस्यवाद की जननी है" ।[३]

डा० रामनारायण पाण्डेय के अनुसार "रहस्यवाद मानव की वह प्रवृत्ति है, जिसके द्वारा वह समस्त चेतना को परमात्मा अथवा परम सत्य के

---

possible to mere reason. A developing life of mysticism means a gradual ascent in the scale of spiritual values, experience, and spiritual ideals. As such, it is many-sided in its development and as rich and complete as life itself. Regarded from this point of view, mysticism is the basis of all religions-particularty of religion as it appears in the lives of truly religious men.

(Chicago, 1927), p. IX (Preface).

१. रहस्यवाद, आ० परशुराम चतुर्वेदी, पृ० २५ ।

2. Mysticism denotes that attitude of mind which involves a direct immediate, first-hand, intuitive apprehension of God.

R. D. Ranade, Mysticism in Maharashtra, Aryabhushan Press, office, Poona-2, Ist. Edition, 1963 (Preface p. I).

३. अपभ्रंश और हिन्दी में रहस्यवाद, पृ० १३ ।

साक्षात्कार में नियोजित करता है तथा साक्षात्कारजन्य आनन्द एवं अनुभव को आत्मरूप में समस्त में प्रसारित करता है।"[१]

डा० रामकुमार वर्मा रहस्यवाद की परिभाषा इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं कि "रहस्यवाद जीवात्मा की उस अन्तर्हित प्रवृत्ति का प्रकाशन है, जिसमें वह दिव्य और अलौकिक शक्ति से अपना शान्त और निश्चल सम्बन्ध जोड़ना चाहती है और यह सम्बन्ध यहाँ तक बढ़ जाता है कि दोनों में कुछ भी अन्तर नहीं रह जाता।"[२] डा० कस्तूरचन्द कासलीवाल का रहस्यवाद के सम्बन्ध में कथन है कि "आध्यात्मिकता की उत्कर्ष-सीमा का नाम रहस्यवाद है।"[३] इसी तरह डा० पुष्पलता जैन का रहस्यवाद के सम्बन्ध में कहना है कि "रहस्य-भावना एक ऐसा आध्यात्मिक साधन है, जिसके माध्यम से साधक स्वानुभूतिपूर्वक आत्मतत्त्व से परमात्मतत्त्व में लीन हो जाता है।"[४]

रहस्यवाद के प्रकार

रहस्यवाद की विविध व्याख्याओं एवं परिभाषाओं के आधार पर प्राच्य एवं पाश्चात्य विद्वानों द्वारा रहस्यवाद को विभिन्न रूपों में विभक्त करने का प्रयास किया गया है। किसी ने इसे योग से सम्बद्ध किया है तो किसी ने इसे भावनात्मक माना है। किसी ने काव्यात्मक रहस्यवाद के नाम से परिभाषित किया है तो किसी ने इसे मनोवैज्ञानिक रहस्यवाद कहा है। इस प्रकार, साहित्यकारों ने रहस्यवाद को एक नहीं, अनेक रूपों में देखने की चेष्टा की है, यथा—प्रकृतिमूलक रहस्यवाद, धार्मिक रहस्यवाद, दार्शनिक रहस्यवाद, साहित्यिक रहस्यवाद, आध्यात्मिक रहस्यवाद, रासायनिक रहस्यवाद, प्रेममूलक रहस्यवाद, अभिव्यक्तिमूलक रहस्यवाद आदि-आदि।

'माडर्न इण्डियन मिस्टिसिज्म' (Modern Indian Mysticism) में रहस्यवाद के तीन प्रकारों की चर्चा की गई है—

---

१. भक्तिकाव्य में रहस्यवाद, भूमिका, पृ० ५।

२. कबीर का रहस्यवाद, पृ० ३४।

३. हिन्दी-पद-संग्रह, पृ० २०।

४. आनन्द ऋषि अभिनन्दन ग्रन्थ, पृ० ३३४।

(१) डिवोशनल मिस्टिसिज्म (भक्तिमूलक रहस्यवाद),

(२) इन्टेलेक्चुअल मिस्टिसिज्म (बौद्धिक रहस्यवाद),

(३) एक्टिविटीक मिस्टिसिज्म (क्रियात्मक रहस्यवाद)।[1]

'कबीर और जायसी का रहस्यवाद और तुलनात्मक विवेचन' में कबीर और जायसी के अनेकविध रहस्यवादों का उल्लेख किया गया है। उसमें कबीर में तीन प्रकार के रहस्यवाद का निर्देश किया गया है—अनुभूति-मूलक, योगमूलक और अभिव्यक्तिमूलक रहस्यवाद।[2] इसी तरह जायसी में पाँच प्रकार के रहस्यवाद बताए गए हैं—आध्यात्मिक, प्रकृतिमूलक, प्रेम-मूलक, योगमूलक और अभिव्यक्तिमूलक रहस्यवाद।[3] एस० एन० दासगुप्ता ने 'हिन्दू मिस्टिसिज्म' में रहस्यवाद का एक वर्गीकरण याज्ञिक रहस्यवाद (Sacrificial Mysticism) अथवा कर्म-काण्डात्मक रहस्यवाद के रूप में भी किया है।[4] डा० राजेन्द्र सिंह रायजादा ने 'रहस्यवाद' नामक पुस्तक में रहस्यवाद के विभिन्न रूपों की चर्चा की है। उसमें सर्वप्रथम रहस्यवाद को दो भागों में विभक्त किया गया है—एक प्रेम और ऐक्य का रहस्यवाद तथा दूसरा ज्ञान और समझ का रहस्यवाद। अन्य दृष्टिकोण से उसमें रहस्यवाद के तीन भेद किए गए हैं—

(१) आत्म-रहस्यवाद,

(२) ईश्वर-रहस्यवाद, और

(३) प्रकृति-रहस्यवाद।

इसके अतिरिक्त उसमें साधनात्मक रहस्यवाद, कृतक रहस्यवाद (Pseudo Mysticism) तथा प्रेतात्मा रहस्यवाद का भी उल्लेख किया है।[5] किन्तु डा० भगवत् स्वरूप मिश्र ने 'कबीर ग्रन्थावली' में रहस्यवाद के मूलतः दो भेदों का ही संकेत किया है—

---

1. Modern Indian Mysticism, p. 38.
२. 'कबीर और जायसी का रहस्यवाद और, तुलनात्मक विवेचन—डा० गोविन्द त्रिगुणायत, पृ० ६५।
३. वही, पृ० २०१।
4. Hindu Mysticism, p. 3.
५. रहस्यवाद,—डा० राजेन्द्र सिंह रायजादा, पृ० २४-३१।

(१) भावानात्मक रहस्यवाद,

(२) साधानात्मक रहस्यवाद ।[1]

वस्तुतः आध्यात्मिक क्षेत्र में रहस्यवाद के ये दो ही रूप अधिक समीचीन प्रतीत होते हैं। भावनात्मक और साधनात्मक रहस्यवाद के अन्तर्गत आध्यात्मिक-आत्मिक दार्शनिक रहस्यवाद का भी समावेश हो जाता है। परमतत्त्व रूप साध्य को प्राप्त करने में ये दो रूप ही सहायक होते हैं। साधना और भावना के द्वारा ही साधक दृष्ट तत्त्व में अदृष्ट तत्त्व की परम अनुभूति करता है। अतः प्रस्तुत प्रबन्ध में आध्यात्मिक सन्त आनन्दघन के रहस्यवाद के सम्बन्ध में हम मूलतः दो रूपों की विवेचना करेंगे, क्योंकि उनकी रचनाओं में मुख्यतः साधनात्मक और भावनात्मक (भावात्मक अनुभूतिमूलक) रहस्यवाद ही पाया जाता है।

रहस्यवाद की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

सन्त आनन्दघन के रहस्यवाद की विवेचना करने के पूर्व रहस्यवाद की उस ऐतिहासिक पृष्ठभूमि से परिचित होना नितान्त आवश्यक है जिसे हिन्दी के मध्यकालीन सन्त-साहित्य में प्रवहमान रहस्य-साधना की उद्गम स्थली कही जा सकती है।

आदिकाल से मानव-मन की जिज्ञासा दृश्य पदार्थों से सन्तुष्ट होती हुई नहीं जान पड़ती। वह कुछ और जानना, पाना चाहता है। भारत में रहस्यमय परमतत्त्व की खोज प्राचीनकाल से होती रही है और इस रूप में रहस्य-भावना के बीज प्राचीनतम भारतीय वाङ्मय में उपलब्ध हैं। भारत भूमि में परमतत्त्व का साक्षात्कार करने वाले अनेक ऋषि-महर्षि, रहस्य-द्रष्टा सन्त-साधक हो गये हैं जिन्होंने उस रहस्यानुभूति का परम आस्वादन किया है। रहस्य-द्रष्टाओं की अनुभूतियां ही जब भाषा में अभिव्यक्त होती हैं, तब वे रहस्यवाद कहलाती हैं।

मानव-मन सहज ही इतना जिज्ञासु है, कि वह यह जानना चाहता है कि आत्मा क्या है, जगत् क्या है और इन दोनों के अतिरिक्त अतीन्द्रिय-जगत् का वह परमतत्त्व क्या है, जिसे परमात्मा या परमब्रह्म कहा जाता है? यह सत्य है कि सामान्यतः जो दृश्य तत्त्व हैं, उनके प्रति जिज्ञासा

१. कबीर ग्रन्थावली, डा० भगवत् स्वरूप मिश्र, पृ० ११ ।

नहीं होती क्योंकि उनका अनुभव इन्द्रिय ग्राह्य होता है। जब दृश्य से परे अदृश्य तत्त्व की अनुभूति होती है तब रहस्य का जन्म होता है। इस प्रकार, जो तत्त्व अदृश्य होकर भी अस्तित्व बनाये रखता है, उसके प्रति जिज्ञासा स्वाभाविक है। इस दृश्य-जगत् के अतिरिक्त भी और कोई परम सत्ता, परम तत्त्व या परम सत्य है जो अतीन्द्रिय, अदृश्य एवं अरूपी है। उसके अस्तित्व से इन्कार नहीं किया जा सकता। ऐसी भावना जब मानव-मन में उद्भूत होती है तब उसका साक्षात्कार करने के लिए साधक व्यावहारिक भूमिका से ऊपर उठकर यथार्थ की खोज में विविध आध्यात्मिक साधना में संलग्न होता है। साधना और भावना के द्वारा वह उस रहस्यमय परमतत्त्व से तादात्म्य स्थापित करने का प्रयास करता है।

वेदों में रहस्यवाद

सर्वप्रथम रहस्य-भावना के बीज हमें वेदों में मिलते हैं। उनमें पूर्णता की पराकाष्ठा पर पहुंचे हुए रहस्य-द्रष्टाओं की रहस्यानुभूति अभिव्यक्त हुई है। वैदिक मान्यतानुसार वेद वाणी रहस्यमय कही जाती है। वेदों को अपौरुषेय कहा गया है। यही कारण है कि वेद-मन्त्रों के रचयिता ऋषियों को मंत्रों का द्रष्टा कहा गया है। ऐसा कहा जाता है कि उन वेद-मन्त्रों का ज्ञान उन्हें प्रातिभ अनुभूति से हुआ।

वेदों में निहित ज्ञान प्रतीकों द्वारा स्पष्ट किया गया है। ऋग्वेद (मण्डल ९ सूक्त ८३) में अंगिरस ऋषि अग्नि का ही स्वरूप है, जो दिव्य संकल्प-शक्ति का प्रतीक है। इसी तरह 'गो' शब्द ज्योति, ज्ञान की रश्मियों का वाचक है। ऊषा को 'गवांनेत्री'—गौओं को प्रेरित करनेवाली कहा गया है (ऋग्वेद ७।७६।६)। इसके अतिरिक्त देवों की प्रार्थना तथा अनेकविध यज्ञों का विधान भी वेदों में है। इसीलिए सम्भवतः डा० दासगुप्ता ने उसे 'याज्ञिक रहस्यवाद' जैसा नाम दिया है। चार वेदों में से ऋग्वेद में रहस्यवाद की सर्वाधिक अभिव्यंजना हुई है।

रहस्यात्मक प्रत्यक्ष का वर्णन ऋग्वेद के नासदीय सूक्त में है। इसमें इन्द्रिय गोचर सम्पूर्ण सृष्टि के अस्तित्व एवं सृजन के सम्बन्ध में रहस्यात्मक अनुभूति से युक्त एक ऋषि के अनुभव का वर्णन किया गया है। वह इस प्रकार है—'आदि में न सत् था और न असत्, न स्वर्ग था, न आकाश। किसने आवरण डाला, किसके सुख के लिए? तब अगाध और गहन जल

भी कहां था ? तब न मृत्यु थी न अमृत। रात और दिन के अन्तर को समझने का भी कोई साधन नहीं था। वह अकेला ही अपनी शक्ति से वायु के न होते हुए भी श्वास प्रश्वास ले रहा था। इसके अतिरिक्त, इसके परे कुछ न था।'[1] ऋग्वेद के 'एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति' सूत्र में भी रहस्यात्मकता परिलक्षित होती है। उसमें कहा गया है—इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि, सुवर्ण, यम मातरिश्वान् इत्यादि पृथक्-पृथक् देवता इसी एक के अनेक रूप हैं। वस्तुतः सत्य पदार्थ एक ही है, किन्तु विद्वान् उसे अनेक नामों से परिभाषित करते हैं।[2] रहस्यमय ब्रह्म की महत्त्वपूर्ण कल्पना का वर्णन भी ऋग्वेद के पुरुष-सूक्त में इस रूप में हुआ है—'यही व्यापक विराट् तत्त्व हजारों हाथ, पैर, आँख और सिरवाला पुरुष है। सारी पृथ्वी को ढंककर परिमाण में दश अंगुल अधिक है।'[3] इसी तरह ब्रह्म की रहस्यात्मकता का उल्लेख भी ऋग्वेद में मिलता है।[4]

उपनिषदों में रहस्यवाद

रहस्यात्मक भावना का विकसित रूप उपनिषद्-साहित्य में उपलब्ध होता है। उसमें ब्रह्मविद्या, ब्रह्मविद्या की रहस्यमयता एवं गोपनीयता का वर्णन है। इसके अतिरिक्त उसमें आत्मा का स्वरूप, आत्मा की महत्ता और उसे ज्ञान, बुद्धि, प्रवचन-श्रवण आदि से अप्राप्य माना गया है। परा तथा अपरा विद्या की रहस्यात्मकता भी सुन्दर ढंग से प्रतिपादित है।

---

१. ना सदासीन्नो सदासीत्तदानीं नासीद् रजो नो व्योमा परोयत्।
किमावरीवः ? कुहकस्य शर्मन् ? अम्भः किमासीद् गहनं गभीरम् ॥
न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि न रात्र्या अह्नः आसीत् प्रकेतः।
आनीदवातं स्वधया तदेकं तस्काद्धान्यन्न परः किं च नास ॥
—ऋग्वेद १०।१२९।१, २

२. इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरूत्मान्।
एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति अग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः ॥
—ऋग्वेद, १।१६४।४६

३. सहस्र शीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्।
स भूमिं विश्वतो वृत्वाऽत्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम् ॥
—ऋग्वेद १०।९०।१

४. वही, १०।१२१

इसी तरह उपनिषदों में योग सम्बन्धी विधान, नेति-नेति के द्वारा सत्य के स्वरूप का वर्णन, ज्योतिर्मय पात्र से विहित सत्य—ब्रह्म का चित्रण, प्रिया-आलिङ्गनवत् अन्तःबाह्य अभेद एवं साक्षात्कार की स्थितियों के क्रमिक विकास आदि रहस्यात्मक भावना के संकेत सूत्र उपलब्ध होते हैं। बृहदारण्यकोपनिषद् में विश्वात्मक सत्ता की एकता एवं उसके स्वरूप निर्धारण में रहस्यवाद की झलक निम्नांकित रूप में अभिव्यंजित हुई है—

पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय, पूर्णमेवावशिष्यते ॥[1]

वह परमात्मा पूर्ण है, यह जगत् भी पूर्ण है, पूर्ण में से पूर्ण निकला है। पूर्ण में से पूर्ण निकलने के बाद जो बचता है वह भी पूर्ण है। दूसरे शब्दों में, वह सत्ता पूर्ण है तथा जो कुछ उसका कार्य रूप समझा जा सकता है वह भी पूर्ण है और इस दूसरे पूर्ण के उसमें लीन हो जाने पर फिर वही पूर्ण रह जाता है। उक्त विधान का अभिप्राय यह है कि वह नित्य एवं अद्वैत है। केनोपनिषद् में ब्रह्म स्वयं ही रहस्यमय बना हुआ है। उसमें कहा गया है कि 'जो यह समझता है कि मैंने ब्रह्म को समझ लिया है, वह उसको स्वल्प ही जानता है।'[2] ब्रह्म वास्तव में अनिर्वचनीय है। अतः यही कहा जा सकता है कि 'जो ऐसा समझता है कि ब्रह्म को मैंने पूर्णतया नहीं समझा है, वही उसको समझता है। जिसको यह अभिमान है कि मैं ब्रह्म को समझता हूँ, वह उसको नहीं समझता। जो यह कहते हैं कि हमने उसको जान लिया है वे उसको नहीं जानते। जो ज्ञानी होते हुए भी कहते हैं कि हम उसको नहीं जानते वास्तव में उन्हीं को ब्रह्म विज्ञात है।'[3] ज्योतिर्मय पात्र से पिहित सत्य-ब्रह्म को रहस्य का

१. बृहदारण्यकोपनिषद् ५।१।१

२. यदि मन्यसे सुवेदेति दभ्रमेवापि नूनम् त्वं वेत्थ ब्रह्मणो रूपं यदस्य त्वं यदस्य च देवेष्वथ तु मीमांस्य ते मन्ये विदितम्।
—केनोपनिषद्, २।१

नाहं मन्ये सुवेदेति नो न वेदेति वेद च।
यो नस्तद्वेद तद्वेद, जो न वेदेति वेद च ॥
—वही, २।२

३. यस्यामतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः।
अविज्ञातं विजानतां, विज्ञातमविजानताम् ॥
—वही, २।३

प्रतीक बताते हुए ईशोपनिषद् एवं बृहदारण्यकोपनिषद् में कहा गया है कि सत्य का, वास्तविक तत्त्व का मुख सुवर्णमय पात्र से ढका हुआ है। हे पूषन्! तू उस ढक्कन को हटा दे जिससे उस सत्य धर्म की, वास्तविक तत्त्व की, साक्षात् प्रतीति मुझे हो सके।[1] उपनिषदों में सृष्टि की उत्पत्ति सम्बन्धी और उत्पत्ति-पूर्व अस्तित्त्व सम्बन्धी चिन्तन पाया जाता है। उत्पत्ति-पूर्व अस्तित्त्व सम्बन्धी चिन्तन में रहस्य-भावना का दिग्दर्शन हुआ है।[2] तैत्तिरीय उपनिषद् में यह भी कहा गया है कि ब्रह्म का साक्षात्कार हृदय में होता है। इस हृदय में जो आकाश है, उसमें यह विशुद्ध प्रकाश स्वरूप मनोमय पुरुष (परमेश्वर) रहता है। यह 'परमतत्त्व' रहस्यमय होकर आनन्दस्वरूप है।[3] श्वेताश्वेतर कठोपनिषद् में आत्मा के स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए कहा है—"यह अणु से भी अणु और महान् से भी महान् आत्मा इस जीव के अन्तःकरण में स्थित है।"[4] इतना ही नहीं, कठोपनिषद् में रहस्यानुभूति की अनिर्वचनीयता भी व्यक्त हुई है।[5]

इस प्रकार कहा जा सकता है कि उपनिषदों में, ब्रह्म और जगत्, आत्मा और परमात्मा आदि का सम्यक् चिन्तन लक्षित होता है। वेदों की अपेक्षा औपनिषदिक साहित्य में आत्मा और परमात्मा (ब्रह्म) के अद्वैत पर आधारित रहस्य-भावना का सुन्दर दिग्दर्शन हुआ है। आत्मा में परमात्मा का साक्षात्कार करना ही उपनिषदों का रहस्य है।

---

१. हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।
तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये॥
—ईशोपनिषत् १५ एवं बृहदारण्यक उपनिषत् ५।१५।१

२. सदैव सोम्येदमग्र आसीदेक मेवाद्वितीयम्।
तद्धैक आहुरसदेवेदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयं। तस्मादसतः सज्जायत॥
—छान्दोग्योपनिषद् ६।२।१

३. तैत्तिरीयोपनिषद्, २।७

४. अणोरणीयान्महतोमहीयानात्मा गुहायां निहितोऽस्य जन्तोः।
—श्वेता० ३।२० एवं कठ० २।२०

५. नैव वाचा न मनसा प्राप्तुम्शक्यो न चक्षुषा।
अस्तीति ब्रुवतोऽन्यत्र कथं तदुपलभ्यते॥
—कठ०, २।३।१२

भगवद्गीता, भागवतपुराण एवं भक्ति-सूत्र में रहस्यवाद

न केवल वेदों एवं उपनिषदों में, अपितु भगवद्गीता में भी रहस्यमय तत्त्वों की विचारणा पाई जाती है। भगवद्गीता के ग्यारहवें अध्याय में रहस्यात्मक अनुभूति का वर्णन अपने सर्वोत्कृष्ट रूप में उपलब्ध है। अर्जुन कहता है—'उस विराट् स्वरूप का न आदि है, न मध्य और न अन्त'।[1] गीता में वर्णित विश्वरूप की कल्पना अद्वैतमूलक रहस्य-भावना का चरम विकास है।

भागवतपुराण, शाण्डिल्य भक्तिसूत्र एवं नारद-भक्ति सूत्र में भी भक्ति-परक रहस्यवादी भावना का सम्यक् निदर्शन हुआ है। प्रोफेसर आर०डी० रानाडे के मतानुसार भागवतपुराण भारत के प्राचीन रहस्यवादियों के वर्णन तथा भावोद्गारों का कोष है।[2] भागवत में प्रथम तीर्थङ्कर ऋषभदेव के जीवनचरित और साधना पद्धति का रहस्यमय वर्णन है।[3] हिन्दी के मध्यकालीन सन्त और भक्त साहित्य पर भागवतपुराण का सर्वाधिक प्रभाव है। भागवत की तरह शाण्डिल्य और नारदभक्ति सूत्रों में भी भक्तिमूलक रहस्यवादी भावना का वर्णन हुआ है। इनमें गौणी भक्ति और मुख्य रूप से प्रेमाभक्ति का सम्यक् विवेचन है। साथ ही भगवत्-प्रेम के स्वरूप को अनिर्वचनीय कहा गया है।[4]

सारांशतः यह कहा जा सकता है कि भागवतपुराण, शाण्डिल्य भक्ति-सूत्र एवं नारद-भक्ति-सूत्र रहस्यवादी चिन्तन के विकास का प्रतिनिधित्व करते हैं।

बौद्धधर्म में रहस्यवाद

समस्त वैदिक साहित्य में मुख्यतः अद्वैततत्त्व के आधार पर रहस्य-भावना की अभिव्यक्ति हुई है। इसके फलस्वरूप तत्त्व-चिन्तन में निराकार

१. नान्तं न मध्यं न पुनस्तवादिं पश्यामि विश्वेश्वर विश्वरूप।
—गीता, ११।१६

२. मिस्टिमिज्म इन महाराष्ट्र, पृ० ८।

३. श्रीमद्भागवत्, स्कन्ध ५, अध्याय ५।

४. अनिर्वचनीयं प्रेम स्वरूपम्।
—नारदभक्तिसूत्र, ५१

ब्रह्म की उपासना का विकास हुआ। किन्तु वेद और उपनिषदों में इसके साथ-साथ सगुण उपासनाएँ भी वर्णित हैं। सामान्य जन के लिए निराकार ब्रह्म की उपासना अत्यन्त कठिन प्रतीत होती है, इसीलिए सम्भवतः सगुणोपासना की आवश्यकता महसूस की गई।

वैदिक धर्म में कर्मकाण्ड की अधिकता के परिणामस्वरूप जैन एवं बौद्ध धर्मों का विकास हुआ। बौद्ध-धर्म की दो प्रमुख शाखाएँ हैं—हीनयान और महायान। महायान शाखा में अमिताभ बुद्ध की उपासना की जाती है। साथ ही, इसमें रहस्यात्मक-साधना के भी दर्शन होते हैं। इसका कारण यह है कि बौद्ध-धर्म में महायान शाखा तान्त्रिक मानी जाती है। प्राचीन महायान में से ही मन्त्रयान, वज्रयान, सहजयान और कालचक्रयान पंथ का उद्भव हुआ।

तान्त्रिक-बौद्ध-साधना में प्रमुख रूप से साधनात्मक रहस्यवाद पाया जाता है, चूँकि इसमें तान्त्रिक क्रियाएँ प्रयुक्त हुई हैं। इस साधना का मुख्य लक्ष्य है—बिन्दु-सिद्धि। बौद्ध-तान्त्रिक-परिभाषा में बिन्दु ही बोधिचित्त नाम से प्रसिद्ध है। बौद्ध तान्त्रिक-साहित्य में षडङ्ग योग का उपयोग विशेष रूप से किया गया है। इसमें साधनात्मक रहस्यवाद के अतिरिक्त काव्यगत और सौन्दर्यानुलक्षी रहस्यवाद अथवा भावनात्मक रहस्यवाद दृष्टिगत नहीं होता। वस्तुतः बौद्धधर्म में व्यावहारिक साधना और आंतरिक सूक्ष्म तत्त्वों का निर्देश हुआ है, इसलिए इसमें यौगिक अथवा साधनात्मक रहस्यवाद का पाया जाना स्वाभाविक है।

(अ) सिद्ध सम्प्रदाय में रहस्यवाद

चौरासी सिद्धों को कहीं पर वज्रयानी और कहीं पर सहजयानी नाम से भी अभिहित किया जाता है। किन्तु ८४ सिद्ध कौन थे, इसकी प्रामाणिक जानकारी उपलब्ध नहीं। यद्यपि प्रमुखरूप से सरहपा, लुइपा, सबरपा, कह्लपा, तन्तिपा, भुसुकपा आदि को सिद्धों की संज्ञा से सम्बोधित किया जाता है तथापि इन सिद्धों की संख्या अनिश्चित है। आदि सिद्ध के सम्बन्ध में निश्चित जानकारी नहीं है। सिद्धों के काल के सम्बन्ध में भी पर्याप्त मतभेद है।

सिद्ध अपनी साधना को प्रतीकों के द्वारा स्पष्ट करते हैं। उन्होंने उलटीबानी के द्वारा भी रहस्य को प्रकट किया है।[1]

सिद्ध तन्तिपा की अटपटी बानी भी रहस्यपूर्ण है।[2] सिद्ध लुइपा ने (सं० ८३०) साधना को गूढ़ रखने की दृष्टि से प्रतीकों की योजना निम्न रूप में की है—

काआ तरुवर पंच बिडाल, चंचल चीए पइठो काल।
दिअ करिअ महासुण परिमाण, लूइ भणई गुरु पुच्छिअ जाण[3] ॥

अर्थात् इस कायारूपी वृक्ष में बिल्लीरूप पाँच विघ्न हैं (बौद्ध ग्रन्थों में ये पाँच विघ्न—हिंसा, काम, आलस्य, विचिकित्सा तथा मोह माने गए हैं)। इन पाँच विकारों की संख्या को निर्गुणधारा के सन्तों एवं हिन्दी के सूफी कवियों ने भी अपनाया है।

कह्नपा सिद्ध (सं० ९०० ऊपर) भी ईड़ा-पिंगला को गंगा-यमुना के प्रतीकों द्वारा योग की क्रियाओं का वर्णन करते हैं :—

गंगा जमुना मांझरे बहई नाई।
तहि बुडिलि मातंगि पोइला लीले पार करेइ ॥[4]

सिद्धों की वाणी में यौगिक और तान्त्रिक क्रियाओं के कारण नाड़ी, षट्चक्र, अनहतनाद, बिन्दु इत्यादि तत्त्वों की आन्तरिक सूक्ष्म नुभूतियों का वर्णन भी किया गया है।[5]

---

१. दोहाकोश २६, ६९।
२. बैंग संसार बाडहिल जाअ। दुहिल दूध कि बटे समाअ।
बलद बिआएल गविया वांझे। पिटा दुहिले एतिना सांझे।
जो सो बुज्झी सो धनि बुधी। जो सो चोर सोइ साधी।
निते निते पिआला पिहे अम। जूझअ ढंढपाए गीत विरले बूझव ॥
—बौद्धगान ओ दोहा, उद्धृत—आधुनिक हिन्दी काव्य में रहस्यवाद, पृ० ११।
३. वही।
४. वही।
५. नाड़ी शक्ति दिअ धरिअ खदे। अनहद डमरू बाजइ वीर नादे।
कान्ह कपाली जोगी पइठि अचारे। देह-नअरी बिचरइ एकारे ॥
—बौद्ध गान ओ दोहा (कान्हिपा)।

सिद्धों की वाणी में यद्यपि रहस्यात्मक प्रवृत्ति के दर्शन होते हैं, तथापि उनकी यह रहस्य-भावना अधिकांशतः साधनात्मक है। सिद्ध-वाणी में सरहपा की कृतियों में कहीं-कहीं प्रकृत रहस्यवाद की झलक अवश्य मिलती है।[1]

इस प्रकार, सिद्धों में साधनात्मक रहस्यवाद का पर्याप्त विकास हुआ है। सिद्ध निर्गुण और निराकार तत्त्व की साधना करते थे। आगे चलकर हिन्दी-साहित्य में, मध्ययुगीन कबीर आदि सन्त कवियों के रहस्यवाद पर इन सिद्धों की रहस्यात्मक साधना का प्रभाव स्पष्टतः लक्षित होता है।

(ब) नाथ सम्प्रदाय में रहस्यवाद

बौद्ध सिद्धों की यह रहस्यात्मक साधना सम्भवतः ७वीं से १२वीं शताब्दी तक अनवरत प्रवहमान रही, किन्तु बाद में उत्कट वामाचार के कारण अश्लीलता और वीभत्सता आ गई। परिणामतः इनका प्रभाव चरम सीमा पर पहुंचकर ह्रासोन्मुख हो गया। ऐसी स्थिति में, बौद्धधर्म की वज्रयान शाखा में से ही नाथ सम्प्रदाय का उद्भव हुआ।[2] गुरू गोरखनाथ इसके आदि प्रवर्तक माने जाते हैं। महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री भी गोरखनाथ को वज्रयानी बौद्ध मानते हैं।[3]

नाथ सम्प्रदाय की साधना अन्तर्मुखी है। इसमें हठयोग पर अत्यधिक बल दिया गया है। इसीलिए इस पंथ की साधना को हठयोग के नाम से

---

१. ऊंचा ऊंचा परवत तहं बसइ सबरी बाली।
मोरंगी पिच्छि पहिरि सबरी गीवत गूजरी माला॥
उमत सबरी पागल सबरी मा कर गुली-गुहाड़ा।
तुहारि णिअ धरणी सहअ सुन्दरी।
णाणा तरुवर मौलिल रे गअणत लागेलि डाली।
एकलि सबरी ए षन हिण्डई, कर्ण कुण्डल वज्रधारी।
तिअ धाउ पड़िला, सबरो महासुइ सेजइ छाइली।
सबरो भुजङ्ग णइ रामणि दारी, पेक्ख राति पोहाइली।
हिए तांबोला महा सुहे कापुर खाई।
सुन निरामणि कण्ठे लइजा महासुहे राति पोहाई॥

२. गोरखनाथ ऐंड कनफटा योगीज़, ब्रिग्स

३. भारतीय संस्कृति और साधना, २, पृ० २५४।

पहचाना जाता है। सिद्धों की भांति इसमें भी साधनात्मक रहस्यवाद ही पाया जाता है। वस्तुतः इस पंथ में भी अधिकांशतः वे ही सब बातें दृष्टि-गोचर होती हैं, जो सिद्ध सम्प्रदाय में वर्णित है। लौकिक प्रतीकों के द्वारा रहस्य-तत्त्व की गूढ़ अभिव्यक्ति की चेष्टा नाथपंथियों में भी मिलती है। यथा—शून्य, निरंजन, नाद, बिन्दु, सुरति, निरत, सहज इत्यादि सिद्ध-साहित्य के पारिभाषिक शब्द। देखिए—

गगन मंडल में ऊंधा कूआ, तहां अमृत का बासा।
सगुरा होय सो भरि भरि पीवै, निगुरा जाइ पियासा॥[1]

इड़ा-पिंगला और सुषुम्ना का प्रयोग भी गोरखबानी में इस प्रकार है :—

अवधू ईड़ा मारग चन्द्र भणीजै, प्यंगुला मारण भाणं।
सुषुमनां मारण वाणी बोलिए, त्रिय मूल अस्थानं॥[2]

इनमें अनहदनाद की रहस्यमय अभिव्यक्ति भी निम्न रूप में वर्णित हुई है :—

अनहद सबद बाजता रहै सिध संकेत श्री गोरष कहै।[3]

नाथ सम्प्रदाय के हठयोग की साधना-पद्धति का अवलोकन करने पर विदित होता है कि उसमें अनेक तत्त्वों के गूढ़ार्थ समाहित हैं। सभी तत्त्व सूक्ष्म और आन्तरिक होने से साधनात्मक रहस्यवाद की सृष्टि करते हैं। इसमें आन्तरिक साधना पर भी बल दिया गया प्रतीत होता है। यथा-सन्ध्या पूजा के लिए सुषुम्ना नाड़ी की सन्ध्या ही नाथपंथियों के अनुसार वास्तविक पूजा कही जाती है।[4] इसी तरह हृदय में आत्मा का प्रतिबिम्ब पड़ता है—

दृश्यते प्रतिबिम्बेन आत्म रूपं सुनिश्चितम्।

नाद और बिन्दु भी इस साधना में केन्द्रबिन्दु हैं।[5] नाथपंथियों के अनु-

१. गोरखबानी, २३।
२. गोरखबानी, ९४।
३. वही, १०६।
४. सुषुम्णा संधिनः सा सन्ध्या संधिरुच्यते।
५. नाथांशो नादो नादांश प्राणः शक्त्यंशो बिन्दुः। बिन्दोरंशः शरीरम्।
—गोरक्ष सिद्धान्त संग्रह।

सार जल में जिस प्रकार चन्द्रमा का प्रतिबिम्ब रहता है, उसी तरह घट के भीतर परमात्मा रहता है—

आतमां मधे प्रमातमां दीसै ज्यौं जलमधे चंदा।[1]

नाथपंथ-योग में शिव-शक्ति का मिलन और उसका आनन्द चरम सीमा है। यह आनन्द रहस्य की उत्कृष्टता का दिग्दर्शन कराता है।

गोरखनाथ के योग के सम्बन्ध में कहा जा सकता है कि उन्होंने हठ-योग को अपनाया। इड़ा और पिंगला नाड़ी का अवरोध कर प्राण को सुषुम्ना के मार्ग में प्रवाहित करना ही हठयोग है।[2] उनके सिद्धान्त के अनुसार कुण्डलिनी एक शक्ति है जो संपूर्ण सृष्टि में व्याप्त है। यह शक्ति ही ब्रह्मद्वार को अवरूद्ध कर सोई हुई है।[3] बौद्धसिद्धों की भांति ही नाथ संप्रदाय की साधना भी रहस्यपूर्ण है। उसका ध्येय भी निर्गुण तत्त्व है।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह स्पष्ट विदित होता है कि बौद्धधर्म की महायान शाखा के अन्तर्गत सिद्ध और नाथ दोनों पंथों में साध्य और साधन गूढ़ होने से दोनों सम्प्रदायों ने रहस्यात्मक साधना पद्धति का पर्याप्त [illegible] किया। इसमें सन्देह नहीं की मध्यकालीन सन्त-साहित्य को इनकी साधना पद्धति ने अत्यधिक प्रभावित किया है। इनका सर्वाधिक प्रभाव कबीर की रचनाओं पर देखा जा सकता है।

सूफी कवियों में रहस्यवाद

भारतीय संस्कृति में अद्वैत विचारणा और उस पर आधारित रहस्य-भावना की सरिता सतत बहती रही है। आगे चलकर बौद्धमत में वज्र-यानी सिद्धों और नाथ-पन्थी योगियों ने आध्यात्मिक रहस्य-भावना की सृष्टि की। फिर १२वीं शताब्दी के आस-पास साधना के क्षेत्र में निर्गुण पन्थ का प्रादुर्भाव हुआ, जिसे कबीर ने आगे चलकर विकसित किया। हिन्दी काव्य के क्षेत्र में १५वीं शती से लेकर १७वीं शती तक सगुण और निर्गुण नामक भक्ति काव्य की दो समानान्तर धाराएं चलती रहीं। निर्गुण

१. गोरखबानी, १३४।
२. नाथ सम्प्रदाय, पृ० १२७।
३. गोरक्ष सिद्धान्त (१४८)।

धारा दो की शाखाओं में विभक्त हुई—एक ज्ञानाश्रयी शाखा और दूसरी सूफियों से प्रभावित शुद्ध प्रेममार्गी शाखा।[१] ज्ञानाश्रयी शाखा में कबीर और शुद्ध प्रेममार्गी शाखा में मलिक मुहम्मद जायसी प्रमुख कवि हैं।

सूफी साधना में बुद्धि की अपेक्षा हृदय की भावना अधिक महत्त्वपूर्ण है। इसीलिए उसमें प्रेम तत्त्व को सर्वोपरि स्थान दिया गया है। सूफियों के इस प्रेम में विरह की व्याकुलता होती है और इस प्रेम-पीड़ा की जो अभिव्यञ्जना होती है वह विश्वव्यापी बनती है। साथ ही प्रेम का स्वरूप पारलौकिक बन जाता है।

वास्तव में, सूफी साधना में प्रेमतत्त्व की प्रधानता है। इसलिए उनमें वास्तविकता और प्रेम की अनुभूति का दर्शन है। डा० विश्वनाथ गौड़ के अनुसार "सच्चा, भावात्मक और काव्य का अंगीभूत रहस्यवाद यही है।"[२] हिन्दी कविताओं की तुलना करते हुये वे लिखते हैं—"इसकी तुलना में आधुनिक कवियों का रहस्यवाद काल्पनिक और मिथ्या है, क्योंकि उसकी रहस्यानुभूति का आधार कल्पना है, अनुभव नहीं।"[३]

सूफी परम्परा के कुतबन, मंझन, जायसी, उसमान, शेखनबी, कासिम शाह, नूर मुहम्मद आदि सन्त हो चुके हैं। कुतबन की 'मृगावती' रचना में रहस्यवाद की झलक पायी जाती है। उपर्युक्त समस्त सूफी सन्तों में जायसी का रहस्यवाद सर्वश्रेष्ठ एवं सुप्रसिद्ध है।

जायसी ने अपने प्रबन्धकाव्य 'पद्मावत' की रचना मसनवी पद्धति के आधार पर की है। उसमें जायसी के कोमल हृदय तथा आध्यात्मिक गूढ़ता के दर्शन होते हैं। इस कथा में कवि का तात्त्विक उद्देश्य रत्नसेन रूपी आत्मा का पद्मावती रूपी ईश्वर को प्राप्त करना है। जायसी की रचना में अद्वैत तत्त्व पर आधारित रहस्यवाद की झलक भी मिलती है।

सूफी साधना विरहप्रधान है। परम प्रियतम से मिलन की व्याकुलता में अग्नि, पवन और समग्र सृष्टि को प्रियतम के विरह में व्याकुल प्रदर्शित किया है :—

---

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ७१-७२।

२. आधुनिक हिन्दी काव्य में रहस्यवाद, पृ० २६।

३. वही, पृ० २६।

विरह की आगि सूर जरि कांपा, रातिउ दिवस करै ओहि तापा।[१]
इसी तरह जायसी ने विरह-व्यथा का सुन्दर चित्रण अन्यत्र भी किया है।[२] इस प्रकार, जायसी के रहस्यवाद का मुख्य रूप उनके द्वारा प्रतिपादित प्रेम की ईश्वरोन्मुखता है। प्रेम का सर्वोत्कृष्ट विकास वियोग में होता है। निम्नोक्त पद में विरह की जो तल्लीनता दिखाई गई है वह दर्शनीय है :—

हाड़ भए सब किंगरी, नसैं भई सब तांति।
रोवं रोवं तैं धुनि उठे, कहौं विथा केहि भांति॥[३]

जायसी के अनुसार ऐसे तीव्र विरह को उद्भूत करने वाला प्रेम-पथ अत्यन्त कठिन है।[४] प्रेम-मार्ग की विविध अास्थाओं का वर्णन पद्मावत में सुन्दर ढंग से हुआ है। सृष्टि का कण-कण, उसी अव्यक्त ईश्वर के प्रति उत्कट प्रेम से व्याप्त है। वास्तव में, जायसी का यह रहस्यवाद विशुद्ध भावनात्मक रहस्यवाद की कोटि में आता है। किन्तु जायसी पर नाथ-पन्थी योगियों की अन्तर्मुखी साधना का भी कुछ प्रभाव पड़ा था, इसलिए उनमें उस प्रकार का साधनात्मक रहस्यवाद भी पाया जाता है। उनके साधनात्मक रहस्यवाद का उदाहरण इस पद में देखा जा सकता है :—

नवौ खंड नव पौरी, औ तहं बज्र-केवार।
चारि बसेरे सौं चढ़ै सत सौं उतरे पार॥
नव पौरो पर दसवं दुवारा, तेहि पर बाज राज थरिआरा॥[५]

इसी तरह जायसी ने हठयोग को अन्तः साधना का पूरा चित्रण भी किया है।[६]

१. जायसी ग्रन्थावली, पृ० ४२।
२. वही, पृ० ३०।
३. वही, पृ० १३८।
४. पेम पहार कठिन बिधि गढ़ा, सो पै चढ़ै जो सिर सौं चढ़ा।
पंथ सूरि कै उठा अंकुरू। चोर चढ़ै की चढ़ मंसूरू॥
—वही, पृ० ४५।
५. वही पृ० १४।
६. वही, पृ० ४८।

फिर भी, इतना तो स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि जायसी के हृदय की मूल आत्मा भावना है, साधना नहीं। इसलिए उनका रहस्यवाद मूलतः भावनात्मक ही कहा जाएगा।

सन्त कवियों में रहस्यवाद

सिद्धों द्वारा प्रवर्तित साधनात्मक रहस्यवाद को नाथपंथी-योगियों ने अपनाया, किन्तु देश की धार्मिक, सामाजिक तथा राजनैतिक-परिस्थितियों के कारण सिद्धों और नाथपन्थियों का सम्प्रदाय 'निर्गुगपन्थ' के रूप में परिवर्तित हुआ। सामान्यतः निर्गुणपंथ के जन्मदाता कबीर माने जाते हैं। कबीर ने इस पन्थ में सिद्धों और नाथों की हठयोगी [illegible] के समूचे तत्त्वों को अपनाया। कबीर ने सिद्धों-नाथों की साधना का अनुसरण ही नहीं किया, प्रत्युत अपने पन्थ में वेदान्त का अद्वैतवाद, नाथपंथियों का हठयोग, सूफियों का प्रेममार्ग, वैष्णवों की अहिंसा और शरणागति इत्यादि का सुन्दर समन्वय किया। कबीर के पश्चात् इस परम्परा में दादू, नानक, धर्मदास, पलटू, रैदास, सुन्दरदास आदि अनेक सन्त-कवि हुए हैं। इन सभी सन्तों में न्यूनाधिक रूप में रहस्यवादी विचारधारा पायी जाती है।

यद्यपि कबीर निर्गुणधारा के प्रवर्तक हैं, तथापि साधारणजन को आकर्षित करने हेतु उन्होंने भक्तितत्त्व को भी महत्त्वपूर्ण माना है और अपने इष्टदेव को 'राम' की संज्ञा से अभिहित किया है। कबीर के 'राम' दशरथ के पुत्र न होकर 'जो या देहि रहित है, सो है रमिता राम'[1] थे। दूसरी ओर, कबीर ने नाथपन्थ के हठयोग को भी महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है। इनकी रचनाओं में चक्र, इड़ा, पिंगला, सुषुम्ना, सुरति, निरति, कुण्डलिनी, सहज, शून्य, अनहतनाद, ब्रह्मरन्ध्र, गगनमण्डल आदि हठ्योगी साधना के शब्द स्पष्टतः परिलक्षित होते हैं। कबीर ने इनका प्रयोग अधिकांशतः उलटबांसी शैली में किया है। शून्य चक्र का वर्णन करते हुए वे कहते हैं कि उसमें से अमृत झरता है और सुषुम्ना उसका रस पीती है :—

> अवधू गगन मंडल धर कीजै।
> अमृत झरै सदा सुख उपजै, बंकनालि रस पीवै।[2]

---

१. कबीर ग्रन्थावली, पृ० २४३।
२. वही, पृ० ११०।

सूर्य और चन्द्रनाड़ी के एक होने पर घट में ही परमतत्त्व का साक्षात्कार किया जा सकता है यह विचार भी उन्होंने अभिव्यक्त किया है।[१] अनहद्नाद की चर्चा भी कबीर ने अनेकों पदों में की है।[२] उन्मनि समाधि अवस्था में कबीर का मन रहस्यपूर्ण प्रकाश देखता है। उनका कथन है :—

मन लागा उनमन सौं गगन पहूँचा जाइ।
देख्या चंद बिहूँणा चांदिणां, तहां अलख निरंजन राह ॥[३]

कबीर की उलटबासियों में भी साधनात्मक रहस्यवाद भरा हुआ है। उनकी यह उलटबासी अतिप्रसिद्ध है :—

समंदर लागि आगि नदीयां जल कोइला भई।
देखि कबीरा जाणीं, मंछी रूषां चढ़ि गई ॥[४]

उन्होंने हठयोग के विभिन्न तत्त्वों का वर्णन भी अटपटी बानी में पहेली के रूप में किया है :—

आकासे मुखि औंधा कूँआ पाताले पणिआरी।
ताका पानी को हंसा पीवै बिरला आदि बिचारी ॥[५]

यह तो हुई कबीर के साधनात्मक अथवा यौगिक रहस्यवाद की विवेचना, किन्तु इसके साथ ही उनकी रचनाओं में भावनात्मक रहस्यवाद की भी सुन्दर अभिव्यंजना हुई है। भावनात्मक रहस्यवाद में विरह की व्याकुलता और उसकी गहन अनुभूति में कबीर का मधुर भाव परिलक्षित होता है। कबीर के रहस्यवाद की विशिष्टता तो यह है कि उन्होंने निर्गुण के साथ प्रेम किया है और यह प्रेमतत्त्व उन्हें सूफी सन्तों से मिला है। इसीलिए उन्होंने अपनी रचनाओं में इस प्रेम-तत्त्व को विविध रूपों में व्यक्त किया है। कहीं तो उन्होंने इस प्रेम का चित्रण माता-पुत्र के रूप

---

१. कबीर ग्रन्थावली, पृ० १३।

२. अनहद बाजै नीझर झरै उपजै ब्रह्म गियान।
अविगति अंतरि प्रगटै लागे प्रेम धियान॥
वही, पृ० १६।

३. वही, पृ० १३।

४. वही, पृ० १२।

५. वही, पृ० ३७४।

में किया है तो कहीं प्रियतम के रूप में। प्रियतम राम के साथ कबीर की अनन्य प्रीति निम्नांकित रूप में द्रष्टव्य है :—

अब तोहि जांन न देहूँ राम पियारे, ज्यूं भावै त्यूं होइ हमारे।
बहुत दिनन के बिछुरे हरि पाए, भाग बड़े घरि बैठें आए ॥[१]

प्रियतम के घर आने पर कबीर की आत्मारूपी प्रियतमा आनन्द विभोर हो उठती है।[२] प्रियतम को देखते ही कबीर की साधक आत्मा रामरूपी प्रियतम के रंग में ऐसी रंग जाती है कि चारों ओर उसे प्रियतम की लाली ही दिखाई देती है।[३] किन्तु कबीर द्वारा राम की प्रियतम के रूप में की गई उपासना में भी योग-साधना का रहस्य समाहित है। उसकी यह साधना अन्तर्साधना बन जाती है और वह गूढ़ प्रतीक रूप में अभिव्यक्त होती है।[४]

कबीर की रचनाओं में विरह-भाव गूढ़ एवं सूक्ष्म तत्त्वों की अनुभूतियों को प्रकट करता है। सूफीवाद के कारण कबीर में निर्गुण राम के प्रति असीम प्रेम है। उनकी विरह-वेदना अत्यन्त मार्मिक रूप में अभिव्यक्त हुई है—

जियरा मेरा फिरै रे उदास।
राम बिन निकली न जाई सास, अजहूँ कौन आस।[५]

---

१. कबीर ग्रन्थावली, पृ० ८७।

२. दुलहिनि गावहु मंगल चार। हमरे घर आए हो राजा राम भरतार।
तन रति करि में मन रति करिहौं पञ्चतत बराती।
रामदेव मोरे पाहुनै आए मैं जोबन मदमाती ॥
—वही, पृ० ८७।

३. लाली मेरे लाल की जित देखो तित लाल।
लाली देखन मैं गई मैं भी हो गई लाल ॥
—वही, पृ० ४२५।

४. षट्दल कमल निवारिया चहुँकौं फेरि मिलाइ रे।
अष्टकमलदल भीतरां तहां श्रीरंग कलि कराइ रे ॥
—वही, पृ० ८८।

५. वही, पृ० १२४।

इसी तरह एक और पद में भी उनकी विरह-व्याकुलता का सुन्दर चित्रण हुआ है :—

तलफै बिन बालम मोर जिया,
दिन नहीं चैन रात नहीं निंदया ॥[1]

'प्रियतम की राह निहारते-निहारते उनकी आँखें लाल हो गई हैं और लोग समझते हैं कि कबीर की आँखें दुखने लगी हैं।'[2] प्रियतम से मिलने के लिए आतुर कबीर रूपी प्रियतमा की व्याकुलता में निहित रहस्य-भावना काव्य को मार्मिक बना देती है—

अब मोहि ले चल नणद के वीर, अपने देसा।
इन पंचन मिलि लूटी हूँ कुसंग आहि बिदेसा ॥[3]

इस गहन तत्त्व की कथा अकथ्य है :—

कहै कबीर यह अकथ कथा है, कहतां कही न जाइ ॥[4]

उपर्युक्त उद्धरणों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि कबीर में साधनात्मक और भावनात्मक रहस्यवाद की धारा सहज रूप में प्रस्फुटित हुई है।

सगुण भक्त कवियों में रहस्यवाद

भक्ति-काव्य में न केवल निर्गुण-मार्ग की ज्ञानाश्रयी और प्रेममार्गी शाखाओं में रहस्यवाद का निदर्शन हुआ है, प्रत्युत सगुण शाखा के अन्तर्गत रामभक्त और कृष्णभक्त सन्त-कवियों में भी रहस्यात्मक प्रवृत्ति के दर्शन होते हैं। इनमें प्रमुख रूप से मीराबाई, सूरदास और तुलसीदास का नाम लिया जा सकता है जिनकी रचनाओं में रहस्यवादी भावना अभिव्यक्त हुई है।

---

१. कबीर ग्रन्थावली, पृ० ३९९।
२. अंषड़ियां प्रेम कसाइयां लोग जांणै दुषड़ियां।
साईं अपणैं कारणैं रोइ रोइ रातड़ियां॥
—वही, पृ० ९।
३. वही, उद्धृत्-कबीर का रहस्यवाद, पृ० १६३।
४. वही, पृ० ३७९।

मीरा ने अपने पदों में विरह का सर्वोत्कृष्ट रूप प्रस्तुत किया है। उनका हृदय प्रभु के बिछोह में विकल है। इस आध्यात्मिक विकलता का हृदयग्राही वर्णन उनके निम्नांकित पदों में देखा जा सकता है :—

सखी मेरी नींद नसानी हो।
पिया को पंथ निहारते, सब रैन बिहानी हो।
सखियन मिल के सीख दई, मन एक न मानी हो।
बिन देखे कल ना परे, जिय ऐसी ठानी हो॥
अंग छीन व्याकुल भई, मुख पिय-पिय बानी हो।
अन्तर वेदन बिरह की, वह पीर न जानी हो।
ज्यों चातक घन को रहे, मछरी जिमि पानी हो॥
मीरा व्याकुल बिरहनी, सुध-बुध बिसरानी हो॥[1]

'अन्तर वेदन बिरह की, वह पीर न जानी हों' इस भाव को उन्होंने एक दूसरे पद में और अधिक स्पष्ट किया है :—

घायल की गति घायल जाने, की जिण लाई होय।
जौहरी की गति जौहरी जाने, कि जिन जौहरी होय॥[2]

अपने 'प्रियतम' के बिना मीरा अति व्याकुल थी। वे कहती हैं—

दिवस न भूख रैन नहिं निद्रा यूँ तन पल पल छीजे हो।
मीरा कहे प्रभु गिरधर नागर मिल बिछुरन नहीं कीजै हो॥[3]

इसी तरह मीरा ने 'मैं बिरहणि बैठी जागूँ' आदि पदों में[4] भी विरहोद्गार व्यक्त किए हैं।

वस्तुतः मीरा ने अपने पदों में परमात्मा से अपने तादात्म्य की अनुभूति का अथवा परमात्मा से मिलन की उत्कण्ठा का सुन्दर वर्णन किया है, जिनमें भावनात्मक रहस्यवाद की झलक दिखाई देती है।

१. मीरांबाई की पदावली, ८०।
२. वही, ७२।
३. मीरांबाई की पदावली, १०७।
४. वही, पृ० ८६।

आधुनिक हिन्दी कवियों में रहस्यवाद

कहा जा सकता है कि आधुनिक रहस्यवाद का उदय छायावाद की प्रतिक्रिया के परिणामस्वरूप हुआ है। आधुनिक युग में प्रकृति को लेकर रहस्यवाद की सृष्टि की गई है। प्रकृतिमूलक रहस्यवाद सुमित्रानन्दन पन्त की रचनाओं में पाया जाता है।

आधुनिक युग के रहस्यवादी कवियों में प्रमुख रूप से प्रसाद, निराला, पन्त और महादेवी वर्मा के नाम उल्लेखनीय हैं। इन कवियों के रहस्यवाद में कल्पनातत्त्व प्रमुख है। इनके रहस्यवाद में साधनात्मक रहस्यवाद के दर्शन नहीं होते।

आधुनिक युग के हिन्दी रहस्यवादी कवियों में महादेवी वर्मा का स्थान सर्वोपरि है। प्रेम और विरह की वे अद्वितीय गायिका हैं। वस्तुतः इस युग के रहस्यवादी कवियों की अनुभूति वास्तविक न होकर कल्पना प्रधान है।

जैनधर्म में रहस्यवाद

भारतीय साहित्य-जगत् में जैनेनर धर्मों का रहस्यवाद जितना अधिक चर्चित रहा है, उतना जैनधर्म का नहीं। व्यक्ति 'जैनधर्म में रहस्यवाद' नाम सुनकर ही चौक उठता है। वह तत्काल कह सकता है कि जैनधर्म में रहस्यवाद हो ही नहीं सकता; क्योंकि जैन दर्शन ईश्वर नामक सत्ता में विश्वास नहीं करता। वस्तुतः रहस्यवाद का आधार आस्तिकता है और आस्तिकता की भित्ति आत्म-परमात्मवाद है। रहस्यवाद का प्रारम्भ आत्म-अस्तित्व से होता है और उसका (रहस्यवाद का) समापन होता है—परमात्म-साक्षात्कार में।

यद्यपि जैन-परम्परा में ईश्वर या ब्रह्म जैसी किसी स्वतन्त्र सत्ता को स्वीकार नहीं किया गया है, किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि उसमें परमात्मा का प्रत्यय ही अनुपस्थित है। उसके अनुसार आत्मा की शुद्ध अवस्था का नाम ही 'परमात्मा' है जिसे वैदिक शब्दावली में 'परम ब्रह्म' कहा जाता है।

जैनधर्म में आत्मा की तीन अवस्थाएँ मानी गई हैं—

(१) बहिरात्मा
(२) अन्तरात्मा
(३) परमात्मा

जैन रहस्यवाद दो तत्त्वों पर आधारित है—आत्मा और परमात्मा। आत्मा में बहिरात्मा और अन्तरात्मा का समावेश होता है। रहस्यवाद के मूल में आत्मा और परमात्मा ये दो ही अवस्थाएँ काम करती हैं।

तत्त्वतः आत्मा और परमात्मा भी अलग-अलग नहीं है; दोनों एक ही है, अर्थात् आत्मा ही परमात्मा है। जिसे 'शुद्धात्मा' कहा जाता है। संसार की प्रत्येक आत्मा कर्ममल से रहित होने पर परमात्मा बन जाती है। इस प्रकार जैनधर्म आत्मा और परमात्मा की सत्ता को स्वीकार करता है। इसी दृष्टि से जैनधर्म में रहस्यवाद प्राचीन काल से पाया जाता है।

जैन परम्परा में सर्वप्रथम रहस्यवादी के रूप में भगवान् ऋषभदेव का नाम लिया जा सकता है जिनका उल्लेख यजुर्वेद में है। उसमें ऋषभदेव और अजितनाथ को गूढ़वादी कहा गया है।[१] श्रीमद्भागवत् में भी जैन परम्परा समर्थित प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव के सम्बन्ध में उनके चरित और साधना-पद्धति का जो विस्तृत विवेचन मिलता है[२] उससे यह असन्दिग्धरूप से प्रमाणित हो जाता है कि ऋषभदेव विश्व के उच्चकोटि के रहस्यदर्शियों में से एक थे।

'परमात्मा-प्रकाश' की भूमिका में डा० ए० एन० उपाध्ये ने उल्लेख किया है कि साधनात्मक दृष्टि से जैन तीर्थंकर ऋषभदेव, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ और महावीर इत्यादि विश्व के महान् रहस्यदर्शियों में हुए हैं।[३]

१. यजुर्वेद, उद्धृत—'हिन्दी जैनभक्ति काव्य और कवि', डा० प्रेम सागर जैन, पृ० ४७६।

२. भरतं धरणि पालनायाभिषिच्य स्वयं भवन एवोवरितशरीरमात्र परिग्रह उन्मत्त इव गमन परिधानः प्रकीर्ण केश आत्मन्यारोपिता हवनीयो ब्रह्मावर्तात्प्रवव्राज। जडान्धमूकबधिरपिशाचोन्मादकवदवधूत वेषोऽभिभाष्यमाणोऽपि जनानां गृहीत मौनव्रतस्तुष्णीं बभूव। श्रीमद्भागवत्, गीताप्रेस, पंचम स्कन्ध, पंचम अ०, पृ० ५६३।

3. To take a practical view the Jain Tirthankaras like Risabhadeva, Neminath, Parsvanath and Mahavira etc. have been some of the greatest Mystics of the world. A. N. Upadhey, Introduction of Paramatma Prakash, p. 43.

प्रो० आर० डी० रानाडे ने भी जैनधर्म के प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव के सम्बन्ध में अपने विचार व्यक्त करते हुए ठीक ही कहा है कि 'वे एक भिन्न ही प्रकार के गूढ़वादी थे, उनकी अपने शरीर के प्रति अत्यन्त उदासीनता उनके आत्मसाक्षात्कार को प्रमाणित करती है'।[1] उन्होंने ऋषभदेव को उच्चकोटि का साधक और रहस्यदर्शी माना है। ऋषभदेव की तरह ही अन्य तीर्थंकरों के द्वारा भी इसी साधना-पद्धति का अनुसरण किया गया।

कुन्दकुन्द के अष्टपाहुड़ की भूमिका में श्री जगतप्रसाद ने यह निर्देश किया है कि 'जैनवाद का आधार रहस्यानुभूति है।'[2] जैन रहस्य-द्रष्टाओं की रहस्यानुभूति की झलक सर्वप्रथम हमें प्राचीनतम जैनागम आचारांग में मिलती है। उसमें कहा गया है—

> "सव्वे सराणियट्टंति। तक्का जत्थ ण विज्जइ। मई तत्थ ण गाहिया। ओए अप्पतिट्ठाणस्स खेयण्णे।"[३]

अर्थात् वहाँ से सभी स्वर लौट जाते हैं—परम-तत्त्व (परमात्मा) का स्वरूप शब्दों के द्वारा प्रतिपाद्य नहीं है। वह तर्कगम्य भी नहीं है। वह बुद्धि के द्वारा ग्राह्य नहीं है। वाणी वहां मौन हो जाती है। वह अकेला, शरीर-रहित और ज्ञाता है।

इसी तरह रहस्यात्मकता का संकेत आचारांग के निम्न सूत्र में भी दृष्टिगत होता है—

> जे एगं जाणइ, से सव्वं जाणइ,
> जे सव्वं जाणइ, से एगं जाणइ॥[४]

---

1. Rishabhadeva, whose interesting account we meet within the Bhagvata is yet a mystic of a different kind, whose utter carelessness of his body is the supreme mark of his God realisation.

   R. D. Ranade, Indian Mysticism—Mysticism in Maharashtra, p. 9

   उद्धृत—परमात्मा-प्रकाश, पृ० ११० ।
2. Jainism is based on a Mystic experience.
   Asta-Pahuda of Kundkundacharyaa, Part I, Introduction by Jagat Prasad, p. 18.

३. आचारांग, १।५।६

४. आचारांग, १।३।४

अर्थात् जो एक को जानता है, वह सबको जानता है और जो सबको जानता है वह एक को जानता है।

जे एगं नामे से बहुं नामे,
जे बहुं नामे, से एगं नामे।[१]

अर्थात् 'जो एक को वशीभूत कर लेता है, वह बहुतों को वश में कर लेता है। जो बहुतों को वश में कर लेता है, वह एक को वश में कर लेता है। विशेषावश्यक भाष्य में भी आचारांग सूत्र की भांति रहस्यात्मकता का निर्देश मिलता है। उसमें कहा गया है :

एक्कं जाणं सव्वं जाणति सव्वं च जाणमेगंति।
इय सव्व जाणंतो णाऽगारं सव्व धा गुणति ॥[२]

इसी भाव की पुनरावृत्ति प्रमाणनयतत्त्वालोकालंकार में भी हुई है। उसमें कहा है :—

एको भावः सर्वथा येन दृष्टः सर्वे भावाः सर्वथा तेन दृष्टाः।
सर्वे भावाः सर्वथा येन दृष्टाः एको भावः सर्वथा तेन दृष्टः ॥[४]

'जिसने एक पदार्थ को सब प्रकार से देख लिया है उसने सब पदार्थों को सब प्रकार से देख लिया है तथा जिसने सब पदार्थों को सब प्रकार से जान लिया है, उसने एक पदार्थ को सब प्रकार से जान लिया है।' इसीसे मिलती-जुलती रहस्यानुभूति आचार्य कुन्दकुन्द के प्रवचनसार में भी प्रतिध्वनित हुई है।[३] उन्होंने भो यही कहा है कि जो सबको नहीं जानता, वह एक को भी नहीं जानता और जो एक को नहीं जानता, वह सबको

---

१. वही, १।३।४
तुलनीय—'आत्मनि विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति'।
—बृहदारण्यक उपनिषद्, ४।५।६

२. विशेषा० भाष्य गाथा ४८२।

३. जो ण विजाणदि जुगवं अत्थे तिक्कालिगे तिहुवणत्थे।
णादुं तस्सण सक्कं सपज्जयं दव्वमेगं वा ॥
दव्वं अणंत पज्जयमेगमणंताणि दव्वजादीणि।
ण विजाणदि जदि जुगवं किध सो सव्वाणि जाणादि ॥
—प्रवचनसार, १ गा० ४८-४९।

नहीं जानता। बात एक ही है, क्योंकि सबका जानना, एक आत्मा के जानने से होता है। इसलिए आत्मा का जानना और सबका जानना एक है। तात्पर्य यह कि जो सबको नहीं जानता, वह एक आत्मा को भी नहीं जानता।

रहस्य-भावना का मूल जिज्ञासा का तत्त्व भी आचारांग में स्पष्टतः उपस्थित है। आचारांग का प्रारम्भ आत्म-जिज्ञासा से होता है जो रहस्य-भावना का मूल बीज है। इसका प्रथम सूत्र है—

के अहं आसी? के वा इओ चुओ इह पेच्चा भविस्सामि।[1]

'मैं कौन था,' 'मैं अगले-जन्म में क्या होऊँगा?' आदि। जिज्ञासा का अन्तर्मन में उठना सम्यग्दर्शन-प्राप्ति का प्रथम चरण है। यह नितान्त सत्य है कि रहस्य के प्रति जिज्ञासा की भावना उद्‌भूत होती है तभी साधक व्यवहार की भूमिका से ऊपर उठकर वास्तविकता की खोज में अग्रसर होता है। इसीलिए आत्म-शोधन की प्रणाली 'गूढ़' कहलाती है। संक्षेप में, 'रहस्यवाद (गूढ़वाद) का मर्म आत्मा की शोध है। उसे पा लेने के बाद फिर कुछ भी पाना शेष नहीं रहता, गूढ़ नहीं रहता।'[2]

रहस्यदर्शी (आत्मदर्शी) तीर्थंकरों के बाद परवर्ती काल में भी आध्यात्मिक रहस्यवादी जैन सन्त-साधकों एवं कवियों की एक लम्बी परम्परा रही है जिनमें प्रमुख रूप से आचार्य कुन्दकुन्द (विक्रम की पहली से चौथी शती के बीच), मुनि कार्तिकेय (लगभग २-७ वीं शती), पूज्यपाद (विक्रम की ५-६ शती), योगीन्दु मुनि (लगभग ईसा की छठीं शती), मुनि रामसिंह (११वीं शताब्दी), आचार्य हरिभद्र (८वीं शताब्दी), बनारसीदास (१७वीं शताब्दी), आनन्दघन (१७वीं शती) तथा उपाध्याय यशोविजय (१८वीं शती) आदि का नाम उल्लेखनीय है।

जैन-साहित्य में रहस्यवादी काव्य रचना का प्रारम्भ आचार्य कुन्दकुन्द से माना जाता है। इनकी समयसार, मोक्षपाहुड़, भावपाहुड़, आदि अनेक रहस्यवादी रचनाएँ हैं जिनमें भावात्मक अनुभूति अभिव्यक्त हुई है। मोक्ष-पाहुड़ में इन्होंने आत्मा के तीन भेदों की चर्चा करते हुए कहा है कि अन्तरात्मा के उपाय से बहिरात्मा का परित्याग कर परमात्मा का ध्यान

१. आचारांग, १।१।१

२. जैनदर्शन मनन और मीमांसा, पृ० ४३९।

करो।[1] इन्होंने यह भी स्पष्ट शब्दों में कहा है कि आत्मा और परमात्मा में तत्त्वतः कोई अन्तर नहीं है। आत्मा ही परमात्मा है। कर्मावरण के कारण ही आत्मा निज-स्वरूप से वंचित है। प्रत्येक आत्मा कर्मादि से रहित होकर उसी प्रकार परमात्मा बन सकता है जिस प्रकार स्वर्ण-पाषाण शोधन सामग्री द्वारा शुद्ध स्वर्ण बन जाता है।[2] इस प्रकार आचार्य कुन्दकुन्द के साहित्य में भावात्मक रहस्यवाद की विवेचना हुई है।

कुन्दकुन्द के रहस्यवादी साहित्य का प्रभाव कार्तिकेय, पूज्यपाद, योगीन्दु मुनि, मुनि रामसिंह और वनारसीदास की रचनाओं में स्पष्टतः देखा जा सकता है। इन सभी रहस्यवादी कवियों में कुन्दकुन्द के समान ही आत्मा के त्रिविध भेदों की विचारणा पाई जाती है। पूज्यपाद की समाधितंत्र एवं अध्यात्मरहस्य रचनाएँ आध्यात्मिक रहस्य-प्रधान हैं।

योगीन्दु मुनि के परमात्म-प्रकाश एवं योगसार में रहस्यवादी प्रवृत्ति के दर्शन होते हैं। रहस्यवादी कवियों की भांति उनका भी यह विश्वास है कि परमात्मा का निवास शरीर में ही है। उन्होंने कहा है कि जो शुद्ध, निर्विकार आत्मा लोकाकाश के अग्रभाग में स्थित है, वही इस देह में भी विद्यमान है। साथ ही इसी शरीर में उसके दर्शन करने का निर्देश भी किया है।[3] उनका यह भी कथन है कि शरीर स्थित जो यह आत्मा है वही परमात्मा है।[4] निरंजन पद प्राप्त करने पर मन परमेश्वर में एकाकार

१. तिपयारो सो अप्पा परमंतर बाहिरो हु देहीणं।
तत्थ परो झाइज्जइ अन्तो वाएण चयहि बहिरप्पा।
—मोक्ष प्राभृत–४।

२. अइसोहण जोएणं सुद्धं हेमं हवइ जह तहय।
कालाई लद्धीये अप्पा परमप्पो हवदि॥
—मोक्षपाहुड–२४।

३. जेहउ णिम्मलु णाण मउ सिद्धि हि णिव सइ देउ।
तेहउ णिवसइ बंभु परू देह हंम करि भेउ॥
—परमात्मप्रकाश, पृ० २३.।

४. एहु जु अप्पा सो परमप्पा कम्म-विसेसे जायउ जप्पा।
जामई जाणइ अप्पे अप्पा तामई सो जि देउ परमप्पा।
जो परमप्पा णाणमउ सो हउं देउ अणंतु।
जो हउं सो परमप्पु परू एहउ भावि णिभंतु॥
—वही, १७४-१७५, पृ० २८४-२८५।

और समरस हो जाता है।[1] इसका सुन्दर विवेचन उनकी रचनाओं में हुआ है।

मुनि रामसिंह की 'पाहुड़ दोहा' रहस्यवाद की दृष्टि से सुन्दर कृति है। योगीन्दु मुनि के समान ही वे भी कहते हैं कि जब विकल्प रूप मन भगवान् आत्माराम से मिल गया और ईश्वर भी मन से मिल गया, दोनों समरसता की स्थिति में पहुंच गए, तब पूजा किसे चढ़ाऊं?[2]

अपभ्रंश साहित्य के रहस्यवादी कवियों के अनन्तर मध्ययुग के जैन हिन्दी रहस्यवादी कवियों में बनारसीदास का नाम सबसे पहले आता है। नाटक समयसार, अध्यात्म गीत, बनारसी विलास आदि इनकी रहस्यवादी रचनाएं अध्यात्म-प्रधान हैं। बनारसीदास की आत्मा अपने प्रियतम परमात्मा से मिलने के लिए उत्सुक है। वह अपने प्रिय के वियोग से ऐसी तड़प रही है, जैसे, 'जल बिनु मीन'। अन्त में, प्रियतम से मिलने पर मन की दुविधा समाप्त हो जाती है। उसे अपना पति (परमात्मा) घट में ही मिल जाता है। मिलने पर आत्मा और परमात्मा किस प्रकार एकाकार और एकरस हो जाते हैं, इसका सुन्दर चित्रण निम्नलिखित पद में अभिव्यक्त हुआ है :—

"पिय मोरे घट मैं पिय माहिं, जलतरंग ज्यों दुविधा नाहिं।"[3]

वास्तव में, बनारसीदास ने सुमति और चेतन के बीच अद्वैतभाव की स्थापना करते हुए रहस्यवाद की साधना की है।

बनारसीदास के बाद हिन्दी जैन रहस्यवादी सन्त कवियों में सन्त आनन्दघन का महत्त्वपूर्ण स्थान है। बनारसीदास की भांति ही इन्होंने भी आत्मा-परमात्मा का प्रिय-प्रेमी के रूप में चित्रण किया है। इन्होंने

---

१. मणि मिलियउ परमेसरहं परमेसरू वि मणस्स।
बीहि वि समरसी हूवाहं पुज्ज चडावउं कस्स॥
—परमात्म प्रकाश, १२।

२. मणु मिलियउ परमेसर, परमेसरू जि मणस्स।
विण्णि वि समरसि हुइ रहिय पुज्जु चडावउ कस्स॥
—पाहुड़ दोहा, पृ० १६।

३. बनारसी विलास, पृ० १६१।

चेतन रूप प्रियतम के विरह में समता रूपी आत्मा की त ़पन का मार्मिक चित्र खींचा है।

आनन्दघन की रचनाओं में रहस्यवाद के मूलतः दो रूप उपलब्ध होते हैं :—

(१) साधनात्मक रहस्यवाद,
(२) भावनात्मक रहस्यवाद।

उनमें भावना के माध्यम से जागी हुई अनुभूति समता और चेतन की एकता की अद्वैतानुभूति है। भावनात्मक रहस्यवाद में रहस्यवाद की विविध अवस्थाएँ हैं, उनकी गहरी अनुभूति उनके पदों में अभिव्यंजित हुई है। उनकी भावनामूलक अनुभूति अध्यात्म-रस से सिक्त है। वस्तुतः उनकी रचनाओं में अध्यात्म का गूढ़ रहस्य निहित है। श्रेयांस जिन स्तवन में तो उन्होंने अध्यात्म को पूर्णरूपेण भर दिया है। उनकी यह कृति अध्यात्मवाद की दृष्टि से सर्वोत्तम उदाहरण प्रस्तुत करती है। इसमें न केवल अध्यात्मवाद के स्वरूप का चित्रांकन हुआ है, अपितु अध्यात्म के लक्षण और विविध रूपों पर भी प्रकाश डाला गया है।

सर्वप्रथम अध्यात्मवादी-आत्मारामी और भौतिकवादी-इन्द्रियरामी के अन्तर को स्पष्ट करते हुए वे कहते हैं :—

सयल संसारी इन्द्रियरामी, मुनिगण आतमरामी रे।
मुख्यपणे जे आतमरामी, ते केवल निष्कामी रे॥[1]

जो ऐन्द्रिक पौद्गलिक या भौतिक सुख को ही महत्त्व देते हैं, ऐसे संसार के समस्त जीव इन्द्रियरामी यानी भौतिकवादी कहे जाते हैं। किन्तु इसके विपरीत सामान्यतः जो इन्द्रिय-सुखों से ऊपर उठ गये हैं, वे साधु दर्शन-ज्ञान-चारित्र रूप आत्म-गुणों की साधना में रत रहने के कारण 'आत्मरामी' कहे जाते हैं। सम्पूर्ण भौतिक सुखों को तिलांजलि देकर अनासक्त भाव से मुख्यतः आत्म-गुणों की साधना में ही तल्लीन रहने वाले आत्मारामी साधु सभी कामनाओं से रहित और निःस्पृह होते हैं। मुनि और इन्द्रियरामी संसारी जीव में यही मूलभूत अन्तर है।

अब प्रश्न यह है कि 'अध्यात्म' की कसौटी क्या है? इसका भी सुन्दर चित्रण आनन्दघन ने किया है :—

१. श्रेयांसजिन स्तवन, आनन्दघन ग्रन्थावली

निज स्वरूप जे किरिया साधै, तेन अध्यातम लहिए रे।
जे किरिया करी चउगति साधै, तेन अध्यातम कहिए रे ॥[1]

साधक स्व-स्वरूप के अनुरूप (स्वरूपानुलक्षी) आचार की जो साधना-क्रिया करता है, उसे ही 'अध्यात्म' की संज्ञा दी जा सकती है इसके विपरीत, निज-स्वरूप से हटकर पर-रूप की जो क्रिया करता है और परिणामतः चतुर्गति रूप भव-भ्रमण होता है, ऐसी क्रिया को 'अध्यात्म' नहीं कहा जा सकता।

इसी सन्दर्भ में अध्यात्म के विविध रूपों की विवेचना करते हुए उनका कथन है :—

नाम अध्यातम ठवण अध्यातम द्रव्य अध्यातम छंडो रे।
भाव अध्यातम निज-गुण साधै, तो तेहशुं रढ़ मंडो रे ॥[2]

अध्यात्म चार प्रकार का है—

१. नाम-अध्यात्म,
२. स्थापना-अध्यात्म,
३. द्रव्य-अध्यात्म, और
४. भाव-अध्यात्म।

आनन्दघन ने स्पष्टतः इनमें से प्रथम तीन को छोड़ने और भाव-अध्यात्म को अपनाने पर बल दिया है। भाव-अध्यात्म से अभिप्राय है—ज्ञान-दर्शन-चारित्ररूप आत्मिक-गुणों की साधना। वस्तुतः इसमें अध्यात्म का सांगोपांग विश्लेषण और हेय-उपादेय का विवेक प्रस्तुत किया गया है।

उपाध्याय यशोविजयजी के अनुसार 'अध्यात्म' का लक्षण इस प्रकार है—'आत्मानमधिकृत्य प्रवर्तते इत्यध्यात्मम्'[3]—अर्थात् जो आत्मा के स्वरूप को लेकर प्रवृत्त हो वह 'अध्यात्म' है। ऐसे भाव-अध्यात्म को ग्रहण करने पर ही आत्मोपलब्धि सम्भव है। भाव-अध्यात्म की क्रिया

---

१. श्रेयांसजिन स्तवन।
२. वही।
३. गत मोहाधिकाराणामात्मानमधिकृत्य या।
प्रवर्तते क्रिया शुद्धा तदध्यात्मं जगुर्जिनाः ॥
—अध्यात्मसार, अधिकार २, श्लो० २।

मोक्ष-मार्ग की कारणभूत है। आनन्दघन ने शब्द और अर्थ की दृष्टि से भी अध्यात्म का विश्लेषण किया है :—

शब्द-अध्यातम अर्थ सुणीने, निर्विकल्प आदरजो रे।
शब्द-अध्यातम भजना जाणी, हान-ग्रहण-मति धरजो रे ॥[1]

उनके अनुसार निर्विकल्प (संकल्प-विकल्प रहित) शब्द-अध्यात्म ही उपादेय है। निर्विकल्प भाव अध्यात्म को भी अंध श्रद्धापूर्वक या बिना सोचे-समझे नहीं, अपितु गुरूगम से अर्थ समझकर ग्रहण करने का निर्देश किया है। भाव-अध्यात्म निर्विकल्प-दशा प्राप्त करने के लिए ही है। शब्द अध्यात्म में तो सत्यता हो भी सकती है और नहीं भी हो सकती। उक्त पंक्तियों से यह स्पस्ट ध्वनित होता है कि केवल अध्यात्म शब्द में ही आध्यात्मिकता नहीं है, प्रत्युत वह आध्यात्मिकता भाव में ही निहित है। अध्यात्म का सम्बन्ध भावना से अर्थात् आत्मा से होता है। इससे आनन्दघन के भावनामूलक आध्यात्मिक रहस्यवाद की पुष्टि होती है। आनन्दघन इतने से ही सन्तुष्ट नहीं रह जाते हैं, बल्कि अध्यात्म के निचोड़ के रूप में वे आध्यात्मिक पुरुष के लक्षण का भी संकेत करते हैं। वे स्पष्ट शब्दों में कहते हैं :—

अध्यातमी जे वस्तु विचारी, बीजा जाण लबासी रे।
वस्तुगते जे वस्तु प्रकाशे, ते आनन्दघन मत संगीरे ॥[2]

आध्यात्मिक पुरुष अथवा अध्यात्मवादी का लक्षण यह है कि 'अध्यात्म सम्बन्धी जो वस्तु-तत्त्व है, उसका चिन्तन-मनन करने वाले ही वास्तव में 'अध्यात्मवादी' कहे जाते हैं। अन्य तो सभी केवल कोरी अध्यात्म की बकवाद करते हैं (भेषधारी हैं) और अध्यात्म का ढोल पीटकर आध्यात्मिक होने का दावा करते हैं। ऐसे लोगों को आनन्दघन ने 'लबासी' की संज्ञा से अभिहित किया है। जो वस्तुतत्त्व को यथातथ्य रूप में प्रकाशित करते हैं, वे आनन्दमय आत्मा के अध्यात्म में स्थायी रूप से स्थिर हो जाते हैं। वस्तुतः अध्यात्म का विषय ऐसा है कि राह चलता हर कोई व्यक्ति आत्मा-परमात्मा की दो-चार रटी-रटाई बातें कह देता है, लेकिन इतने से ही वह आध्यात्मिक या अध्यात्मवादी नहीं हो जाता। आनन्दघन ने इस

१. श्रेयांसजिन स्तवन, आनन्दघन ग्रन्थावली।
२. वही।

स्तवन में अध्यात्म की सम्यक् मीमांसा कर अध्यात्मशास्त्र का नवनीत प्रस्तुत कर दिया है।

इस प्रकार, सन्त आनन्दघन की रचनाओं में, भावनात्मक पक्ष में दाम्पत्यमूलक आध्यात्मिक-प्रेम, विरह-मिलन आदि का उल्लेख हुआ है और साधनात्मक पक्ष में रत्नत्रयी—भक्ति-प्रेम-योग की साधना तथा मुख्यतः जैन-योग की सहज-साधना पाई जाती है। एकाध पद में सिद्धों— और कबीर की हठयोग की साधना का भी उन पर किंचित् प्रभाव लक्षित होता है।

वास्तव में, उनकी रहस्यानुभूति में साधनात्मक और भावनात्मक दोनों प्रकार के रहस्यवादों का सम्मिश्रण है। दोनों ही प्रकारों से साधक अपने परम रहस्य को उपलब्ध करता है। आनन्दघन के साधनात्मक और भावनात्मक रहस्यवाद का विशद विवेचन आगे के अध्यायों में किया जायगा।

सन्त आनन्दघन के आध्यात्मिक रहस्यवाद का प्रभाव उनके समकालीन उपाध्याय यशोविजयजी पर भी पड़ा। उपाध्याय यशोविजयजी की समाधितन्त्र, अध्यात्मसार, अध्यात्मोपनिषद् आदि रचनाएँ रहस्यवाद की कोटि में आती हैं जिनमें आध्यात्मिक तत्त्वों की सुन्दर विवेचनाएँ हैं।

आचार्य कुन्दकुन्द के भावपाहुड़ में भावात्मक अभिव्यक्ति की प्रमुखता है तो अपभ्रंश की रचना-परमात्म-प्रकाश, सावय धम्म दोहा तथा पाहुड़ दोहा में योगात्मक रहस्यवाद का स्वर-प्रबल है, किन्तु मध्ययुगीन जैन हिन्दी रहस्यवादी काव्य में साधनात्मक और भावनात्मक दोनों तत्त्व पाए जाते हैं।

द्वितीय अध्याय

आनन्दघन : व्यक्तित्व एवं कृतित्व

जैन सन्त कवियों में अध्यात्म योगी आनन्दघन का नाम सुविख्यात है। उनके पद इतने लोकप्रिय हैं कि वे जैन श्रावक-श्राविकाओं एवं साधकों की दैनिक उपासना के अंग बन गए हैं। आनन्दघन की काव्य-कृतियां सरल, भावपूर्ण, तत्त्वबोधमय तथा मार्मिक हैं। उनके पदों में व्यक्ति की चेतना को झकझोर देने की सामर्थ्य है, क्योंकि वे उनकी सहज अनुभूति से निःसृत हैं। आनन्दघन का आन्तर-व्यक्तित्व उनकी काव्य-कृतियों में व्याप्त है। उनके काव्य में कबीर का अक्खड़पन, सूर की सरलता दोनों का मधुर संगम है।

अध्यात्म के आलोक

आनन्दघन 'यथानाम तथा गुण' की उक्ति चरितार्थ करते हैं। वे आध्यात्मिक जीवन के जगमगाते प्रकाश-पुंज हैं, यह कहना अतिशयोक्ति-पूर्ण नहीं होगा। उन्होंने आत्मिक आनन्द का जो झरना बहाया है, वह जन-जन की आध्यात्मिक तृषा शान्त कर देता है।

उनकी सन्त-प्रकृति, कवित्व-शक्ति, विद्वत्ता एवं परम निजानन्द की मस्ती से सम-सामयिक एवं परवर्ती सन्त और विद्वान् प्रभावित हैं। उनकी आध्यात्मिकता से, उनके समकालीन उपाध्याय यशोविजय जैसे महान् प्रतिभासम्पन्न विद्वान् असाधारण रूप से प्रभावित थे। उन्होंने अपने हृदयोद्गार व्यक्त करने के लिए आनन्दघन की प्रशस्ति में एक अष्टपदी ही रच डाली जिनके कुछ अंश इस प्रकार हैं :—

एरी आज आनंद भयो मेरे, तेरो मुख निरख-निरख,
रोम रोम सीतल भयो अंग अंग ॥एरी०॥
सुद्ध समझण समता रस झीलत, आनंदघन भयो अंतस रंग ॥
ऐसी आनंद दशा प्रकटी चित अंतर, ताको प्रभाव चलत निरमल गंग ॥
वाही गंग ममता दोउ मिल रहे, 'जसविजय' सीतलता के संग ॥
आनन्दघन के संग सुजस ही मिले जब, तब आनंद सम भयो 'सुजस'।
पारस संग लोहा जे फरसत, कंचन होत ही ताके कस ॥१॥

खीर नीर जो मिल रहे 'आनंद' 'जस' सुमति सखी के संग
भयो है एक रस ।
भव खपाई 'सुजस' विलास भये, सिद्ध स्वरूप लिए धसमस ॥२॥[1]

उक्त उद्धरणों से यह झलक मिलती है कि उपाध्याय यशोविजय उनसे कितने अधिक प्रभावित थे। आनन्दघन के प्रभावकारी व्यक्तित्व के सम्बन्ध में यह अष्टपदी हमारे सामने एक प्रामाणिक जानकारी उपस्थित करती है; क्योंकि यह उनके समसामयिक एक सन्त पुरुष द्वारा प्रस्तुत की गई है। दूसरे, यह उनके व्यक्तित्व के विभिन्न पक्षों को प्रस्तुत करती है, इसलिए भी इसका महत्त्व है।

समदर्शिता

समदर्शिता आनन्दघन के व्यक्तित्व की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता है। वे समता के सच्चे साधक थे। समता की यह साधना उनके जीवन का अभिन्न अंग बन गई थी। "साधो भाई समता संग रमीजै" यह उनका जीवन-सूत्र था। वे मान-अपमान, निन्दा-स्तुति से भी अप्रभावित थे। उनके काव्य में अपने आलोचकों के प्रति आक्रोश का एक भी शब्द नहीं मिलता। जैन-परम्परा के अनेक रूढ़िवादी उनके आलोचक थे, फिर भी, वे उनके प्रति समभाव ही रखते थे। स्वयं यशोविजय ने अपनी अष्टपदी में इसका संकेत किया है—

कोउ आनंदघन छिद्र हि पेखत, जसराय संग चढ़ि आया।
आनंदघन आनंदरस कीलत, देखत ही जस गुण गाया ॥[2]

वे तो शुद्ध आत्म-भाव में रमण करने वाले श्रेष्ठ ऋषि थे। वे स्वयं एक स्थान पर लिखते हैं :

मान अपमान चित सम गिणै, समगिणै कनक पाखाण रे।
बंदक निंदक हु सम गिणै, इस्यो होय तू जान रे ॥[3]

---

१. यशोविजयकृत अष्टपदी—पद ७–८
उद्धृत—आनन्दघन ग्रन्थावली, पृ० १२–१३।
२. यशोविजयकृत अष्टपदी—पद ४।
३. शान्तिजिनस्तवन, आनन्दघन ग्रन्थावली,

आनन्दघन अपनी साधक आत्मा से कहते हैं कि साधक ! तेरा कोई आदर सत्कार करे तो क्या, और निरादर-तिरस्कार करे तो क्या ? तेरा आत्म-धर्म तो समता है। तुझे दोनों स्थितियों में समभाव रखना है। इससे तेरे आत्मगुण में कोई वृद्धि या ह्रास होने वाला नहीं है। इसलिए किसी के द्वारा निन्दा या प्रशंसा करने पर तू खिन्न या तुष्ट न हो, क्योंकि साधक का यह आवश्यक गुण है कि वह दोनों अवस्थाओं में सन्तुलित रहे।

चित्त-विक्षोभ और विकलता ही हमें आध्यात्मिक आनन्द से वंचित रखती हैं। जिसे आत्मानन्द की अनुभूति करना हो, उसे चित्त को निर्विकल्प बनाना होगा और तदर्थ समभाव की साधना करनी होगी। आनन्दघन इसी समभाव का मार्मिक विश्लेषण करते हुए कहते हैं :

सर्व जग जंतु नै सम गिणै, गिणै तृण मणि भाव रे।
मुगति संसार बुधि सम धरै, मुणै भव-जलनिधि नाव रे।[१]

साधक शत्रु-मित्र ही नहीं, अपितु प्राणीमात्र के प्रति आत्मतुल्य दृष्टि रखे। तृण और बहुमूल्य रत्न दोनों को पुद्गल ही समझे। प्रतीत होता है कि आनन्दघन की समदर्शिता पराकाष्ठा पर पहुँच गई थी। उन्हें आत्मानन्द का वह स्रोत उपलब्ध हो गया था जिसमें मुक्ति की आकांक्षा भी मिट जाती है। उनके लिए मुक्ति और संसार दोनों समभाव में समा गए थे।

निःस्पृह साधक

आनन्दघन निःस्पृह साधक थे। प्रायः जंगलों, गुफाओं में वास करते। उनके साथ कोई आडम्बर नहीं था। उनकी दृष्टि में आत्मिक-गुणों में रमण करते हुए निष्काम और निःस्पृह जीवन जीना ही साधुत्व की साधना का सार है। वे लिखते हैं :

सयल संसारी इन्द्रियरामी, मुनिगण आतमरामी रे।
मुख्य पणे जे आतमरामी, ते केवल निक्कामी रे॥[२]

सांसारिक व्यक्ति वैषयिक सुखों में आनन्द मानता है, जबकि साधु निज गुणों में ही रमण करता है। आत्मार्थी साधक किसी प्रकार की कामना

१. वही।
२. श्रेयांस जिन स्तवन, आनन्दघन ग्रन्थावली।

नहीं करते, क्योंकि जहाँ कामना है, वहाँ स्वाधीनता नहीं रह सकती। कामनाओं की पूर्ति के लिए 'पर' की, पदार्थों की, अपेक्षा रहती है। पराधीन साधक आत्मा के आनन्द का अनुभव नहीं कर सकता। आनन्दघन का मत है कि जो पराई आशा पर जीता है, वह सच्चा साधक नहीं। उन्होंने अपने एक पद में कहा है :

आसा औरन की कहा कीजै, ज्ञान-सुधारस पीजै।
भटकै द्वारि-द्वारि लोकनकै, कूकर आसाधारी ॥
आतम अनुभव रसके रसिया, उतरइ न कबहु खुमारी।
आसा दासी के जे जायै, ते जन जग के दासा।
आसा दासी करे जे नायक, लायक अनुभौ प्यासा ॥[1]

आशा-तृष्णा के बन्धनों को तोड़कर मुक्त होना ही स्वाधीनता है।

निजानन्द में मग्न योगी की आनन्दानुभूति

आनन्दघन का अधिकांश समय आत्मलीनता की दशा में व्यतीत होता था। उनका व्यक्तित्व अध्यात्म से परिपूर्ण एवं उच्चकोटि का था। रास्ते में चलते हुए भी वे आध्यात्मिक मस्ती में झूमते गाते रहते। इसकी पुष्टि उपाध्याय यशोविजय की अष्टपदी से होती है। उनकी आध्यात्मिक मस्ती का चित्रण करते हुए वे लिखते हैं :

मारग चलत-चलत गात, आनन्दघन प्यारे।
रहत आनन्द भरपूर ॥ मारग० ॥
ताको सरूप भूप त्रिहूँ लोक ते,
न्यारो बरखत मुख पर नूर ॥ १ ॥[2]

आनन्दघन आत्मानन्द में इतने लीन रहते कि उनके लिए वही सर्वस्व था। वे स्वयं लिखते हैं :

मेरे प्रान आनन्दघन, तान आनन्दघन
मात आनन्दघन, तात आनन्दघन
गात आनन्दघन, जात आनन्दघन ॥[3]

---

१. आनन्दघन ग्रन्थावली, पद ५८।
२. यशोविजयकृत अष्टपदी, पद १।
उद्धृत – आनन्दघन ग्रन्थावली, पृ० ११।
३. आनन्दघन ग्रन्थावली, पद ७२।

उनके लिए तो आनन्द ही सब कुछ था। वही माता, वही पिता और वही प्राण था। आनन्द मात्र अनुभवगम्य है। आत्मा से ही आनन्द प्राप्त होता है। आनन्दघन का यह आनन्द बाहरी वस्तुओं पर निर्भर नहीं, उनकी अन्तरात्मा में निहित था। वे मात्र आत्मानन्द में डूबे हुए थे। आनन्द स्वाश्रित होता है। जो पराश्रित हो, दूसरों पर निर्भर हो, वह तो आनन्द ही नहीं हो सकता। आनन्द का स्रोत आनन्दघन ने पदार्थ और जागतिक वैभव में नहीं अपनी आत्मा में पा लिया था। वे आत्म-तुष्ट, निरकांक्ष और निर्लिप्त थे।

अन्तर्मुखी प्रवृत्तिशील

आनन्दघन का व्यक्तित्व वैराग्य और अध्यात्म में रंगा था। वे अन्तर्मुखी प्रवृत्ति के आध्यात्मिक सन्त थे। उनकी आध्यात्मिकता अनुभवजन्य थी। उनकी दृष्टि में आत्मज्ञान से ही कोई मुनि हो सकता है। आनन्दघन 'श्रमण' का लक्षण कहते हैं:

आतमज्ञानी श्रमण कहावै, बीजा तो द्रव्यलिंगी रे।[1]

जो आत्मज्ञान से युक्त है, वही श्रमण है, शेष तो मात्र द्रव्यलिंगी अर्थात् वेषधारी हैं।

प्रेमयोगी

आनन्दघन विशुद्ध प्रेमयोगी थे। उनके पदों में प्रेम की धारा अबाध गति से बहती है। उन्होंने अपने समग्र काव्य में प्रेम के सम्पूर्ण तत्त्वज्ञान का रहस्य 'गागर में सागर' की भांति भर दिया है। उनकी दृष्टि में प्रेम का सम्बन्ध सोपाधिक न होकर निरुपाधिक है और वह क्षणिक न होकर सादि-अनन्त है अर्थात् प्रेम का प्रारम्भ तो है, किन्तु अन्त नहीं। उनकी चतुर्विंशति का प्रारम्भ ही प्रेम से होता है। प्रीति की महत्ता का प्रतिपादन करते हुए वे लिखते हैं:

ऋषभ जिणेसर प्रीतम माहरो, और न चाहूँ कंत।
रीझ्यो साहब संग न परिहरे, भांगे सादि-अनंत॥[2]

---

१. वासुपूज्य जिन स्तवन, आनन्दघन ग्रन्थावली।
२. ऋषभजिन स्तवन, आनन्दघन ग्रन्थावली।

उन्होंने इस ऋषभ परमात्मा को प्रियतम का रूपक देकर प्रेम का रहस्योद्घाटन किया है। यद्यपि जैन-परम्परा में परमात्मा को प्रियतम मानकर उपासना करने की पद्धति नहीं रही है, तथापि आनन्दघन ने अपनी रचनाओं में वैष्णव भक्तिमार्गी पद्धति अपनायी है। इससे उनपर कबीर, मीरा, रैदास आदि भक्त कवियों का प्रभाव परिलक्षित होता है।

यद्यपि उनकी दृष्टि में प्रेम का अर्थ हृदय की साधारण-सी भावुक स्थिति न होकर आत्मानुभवजन्य प्रभु-प्रेम है। वे स्वयं इस प्रभु-प्रेम की अनिर्वचनीयता के बारे में बड़े ही मार्मिक शब्दों में कहते हैं :

कहा दिखावुं और कुं, कहा समझावुं भोर।
तीर न चूकै प्रेम का, लागै सो रहै ठोर॥

नाद विलूधो प्रान कुं, गिनै न त्रिण मृगलोइ।
आनन्दघन प्रभु-प्रेम की, अकथ कहानी कोइ॥[1]

आनन्घन का यह प्रेम इन्द्रियजन्य न होकर आत्मा-परमात्मा का प्रेम है। इसका सम्बन्ध ज्ञान से न होकर हृदय से है। वह अनुभवजन्य है। इसलिए कहा जा सकता है कि आत्मा-परमात्मा का प्रेम ही आनन्दघन का रहस्यवाद है। उनका पद 'देखन में छोटे लगत घाव करे गंभीर' की उक्ति को चरितार्थ करता है।

आगमों के प्रखर ज्ञाता

आनन्दघन को जैन आगमों का तलस्पर्शी ज्ञान था। उनके काव्य में द्रव्यानुयोग, करणानुयोग, गणितानुयोग और कथानुयोग का तात्त्विक विवेचन दृष्टिगत होता है। विशेषरूप से उन्होंने द्रव्यानुयोग पर अधिक बल दिया है। ये द्रव्यानुयोग के महागीतार्थ थे। इनका 'अवधूनट नागर की बाजी' वाला पद द्रव्यानुयोग का उत्कृष्टतम उदाहरण है। इतना ही नहीं, आगमों के प्रति भी उनकी अत्यधिक श्रद्धा थी। वे लिखते हैं—

पाप नहीं कोइ उत्सूत्र भाषण जिस्यो, धर्म नहीं कोइ जग सूत्र सरीखो।
सूत्र अनुसार जे भाविक किरिया करै, तेह नो शुद्ध चारित्र परिखो॥[2]

१. आनन्दघन ग्रन्थावली, पद ५४।

२. अनन्तजिनस्तवन, आनन्दघन ग्रन्थावली।

आनन्दघन के अनुसार आगम विरुद्ध कथन सबसे बड़ा पाप है। ४५ आगमों को 'सूत्र' कहा जाता है और इन सूत्रों के आधार पर ही पूर्वाचार्यों ने चूर्णी, भाष्य, सूत्र, निर्युक्ति, वृत्ति आदि लिखी हैं। इसीलिए आनन्दघन कहते हैं—

> चूरणि भाष्य सूत्र निर्युक्ति, वृत्ति परम्पर अनुभव रे।
> समय पुरुषनाँ अंग कह्या ए, जे छेदे ते दुरभवरे ॥[1]

सिद्धान्त-पुरुष के इन छह अंगों में से किसी भी एक अंग का जो छेदन या उत्थापन करता है वह दुर्भवी है। इससे प्रतीत होता है कि उनके रोम-रोम में जैनागमों के प्रति निष्ठा भरी थी। उनके सम्बन्ध में श्रीमद्राजचन्द्र ने भी लिखा है—"श्री आनन्दघन जी नो सिद्धान्त बोध तीव्र हतो अने तेओ श्वेताम्बर सम्प्रदायना हता"।[2]

उन्होंने अपने पदों एवं स्तवनों में अनेक स्थान पर आगमों का उल्लेख किया है। उदाहरणस्वरूप सुविधिजिनस्तवन में 'प्रतिपत्ति' पूजा के लिए उत्तराध्ययन सूत्र का प्रमाण देते हुए वे लिखते हैं :

> तुरिय भेद पडिवत्ती पूजा, उपसम खीण सयोगी रे।
> चउदह पूजा उत्तराझयणे; भाखी केवल भोगी रे ॥[3]

इस प्रकार, कहा जा सकता है कि आनन्दघन ने जैन-आगमों की गहराइयों को विशिष्ट शास्त्रीय एवं सरल भाषा में जन-जन तक पहुंचाने का प्रयास किया है।

सम्प्रदायातीत

आनन्दघन गच्छातीत ही नहीं, सम्प्रदायातीत भी थे। वे किसी भी गच्छ-मत या पन्थ की संकुचित वाड़ाबन्दी के घेरे में आबद्ध होकर रहना नहीं चाहते थे। तत्कालीन धार्मिक स्थिति अच्छी नहीं थी। वैसे, जैन संघ में अनेक दिग्गज विद्वान् मुनि थे, किन्तु अध्यात्म ज्ञान की ओर से साधुओं का लक्ष्य न्यून हो गया था और आचार में भी शिथिलता आ

---

१. नमिजिन स्तवन, आनन्दघन ग्रन्थावली।
२. श्री आनन्दघन-पद-संग्रह, पृ० १४।
३. सुविधिजिनस्तवन, आनन्दघन ग्रन्थावली।

गई थी। दूसरी ओर गच्छ-क्लेश और साम्प्रदायिक-संकुचितता के दोष उभरते जा रहे थे। ऐसी स्थिति में आध्यात्मिक-दृष्टि-सम्पन्न आनन्दघन को व्यथित मन से कहना पड़ा :

गच्छ ना भेद बहु नयण निहालताँ, तत्त्वनी बात करताँ न लाजै ।
उदर भरणादि निज काज करताँ थकाँ, मोह नडिया कलिकाल राजै।।[1]

इसमें उन्होंने खुलकर गच्छवादियों की भर्त्सना की है। गच्छवादियों के ढोंग की कलई खोलते हुए वे कहते हैं कि एक ओर तो वे तत्त्वज्ञानी साधक बनकर वीतरागता एवं अनेकान्तवाद का उपदेश देते हैं, और दूसरी ओर, दृष्टिराग से आबद्ध होकर गच्छ के मोह में जकड़े रहते हैं। ऐसे व्यक्तियों को तत्त्वज्ञान की बड़ी-बड़ी बातें बघारते हुए तनिक लज्जा का अनुभव नहीं होता। आनन्दघन स्पष्ट शब्दों में कहते हैं कि ऐसे साधक आत्मज्ञानी या तत्त्वज्ञानी न होकर मात्र उदरपूर्ति, मान-प्रतिष्ठा आदि के चक्कर में ही पड़े रहते हैं। गच्छ-मत-पन्थ की थोथी महत्ता की डींग हांकनेवालों के मुंह से तत्त्वज्ञान की बातें शोभा नहीं देती। आज के साधकों की तो बात ही निराली है। इससे आनन्दघन के समय की तत्कालीन साधु समाज की स्थिति का सुन्दर परिचय प्राप्त होता है।

वास्तव में आनन्दघन का यह उपदेश अनेकान्तवाद की समन्वय-शीलता का उद्घोष करनेवाले जैन समाज के लिए आज भी चेतावनी है।

श्रेष्ठ दार्शनिक

आनन्दघन अध्यात्मयोगी एवं कवि होने के साथ-साथ दार्शनिक भी थे। उनकी काव्य-कृतियों का अध्ययन करने से उनकी प्रखर बौद्धिक प्रतिभा का परिचय मिलता है। अपने काव्यों में आपने धर्म एवं दर्शन के गूढ़ एवं जटिल सिद्धान्तों को जनसाधारण की भाषा में सरल एवं बोधगम्य ढंग से प्रस्तुत किया है। षड्दर्शनों के साथ जैनदर्शन का समन्वय स्याद्वाद का स्वरूप, नयवाद का स्वरूप, सत् का उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक स्वरूप तथा द्रव्य का गुण-पर्यायमय स्वरूप, विधि-निषेध द्वारा आत्म-स्वरूप की समझ आदि दार्शनिक तत्त्वों के विविध पहलुओं को, विभिन्न उदाहरणों के माध्यम से सहज एवं सुबोध रूप में उजागर किया है।

---

१. अनन्तजिनस्तवन, आनन्दघन ग्रन्थावली।

जैनदर्शन के 'सत्' के अनुपम त्रिपदी-सिद्धान्त— 'उत्पादव्ययध्रौव्य-युक्तं सत्' ('उप्पन्नेइ वा, विगमेइ वा, धुवेइ वा') का विश्लेषण करते हुए आनन्दघन कहते हैं :

अवधू नटनागर की बाजी, जाणै न बांभण काजो।
थिरता एक समय में ठानै, उपजै विनसै तबही ॥
उलट पुलट ध्रुव सत्ता राखै, या हम सुनी नहीं कबही ॥
एक अनेक अनेक एक फुनि, कुंडल कनक सुभावै।
जल तरंग घट माटी रविकर, अगनित ताइ समावै ॥[1]

इस पद में आनन्दघन ने जैनदर्शन के तत्त्वज्ञान का सर्वस्व सार भर दिया है। स्याद्वाद, नय, सप्तभंगी, प्रमाण, त्रिपदी रहस्य आदि अनेक जैन सिद्धान्तों का एक ही पद में चित्रण कर उन्होंने दार्शनिक प्रतिभा का परिचय दिया है।

वाक्-सिद्ध पुरुष

आनन्दघन केवल सन्त, कवि ही नहीं, वचन-सिद्ध पुरुष भी थे। उनके जोवन के सम्बन्ध में कई चमत्कारपूर्ण अनुभूतियां प्रसिद्ध हैं। उनमें तपोबल से ऐसी आत्म-शक्ति विकसित थी कि वे गिरि-गुफाओं, एकान्त स्थलों में, ध्यानस्थ हो शरीर और संसार का भान भूलकर आनन्द में लीन हो जाते। ध्यान और समाधि के फलस्वरूप उनमें अनेक लब्धियां (चमत्कार) प्रकट हुईं। यद्यपि आत्मस्थ सन्त आनन्दघन ने चिर साधना से संचित अमूल्य आध्यात्मिक शक्ति का उपयोग इन चमत्कारों को पाने हेतु नहीं किया था, फिर भी आध्यात्मिक पुरुषों के लिए ये सहज स्वाभाविक घटनाएँ होती हैं।

आनन्दघन की वचन-सिद्धि के सम्बन्ध में एक जनश्रुति है। यद्यपि जनश्रुतियों के बारे में निश्चित रूप से कुछ कह पाना कठिन होता है, तथापि 'नहूय मूला जनश्रुति :' के आधार पर यह कहा जा सकता है कि जनसामान्य में प्रचलित अनुश्रुति निराधार नहीं होती। कहा जाता है कि एक बार जोधपुर की महारानी आनन्दघन के पास आयीं और उन्होंने राजा साहब के रुष्ट होने की बात वताकर साग्रह निवेदन किया कि वे

१. आनन्दघन ग्रन्थावली, पद ५९।

ऐसा कोई मन्त्र-तन्त्र बतलायें जिससे राजा साहब उनसे तुष्ट हो जायें। कुछ देर बिना प्रत्युत्तर दिए आनन्दघन बैठे रहे। दुबारा उसने कहा तब उन्होंने एक कागज पर यह लिखकर कि—

'राजा रानी दोऊ मिले, उसमें आनन्दघन को क्या'

रानी को दिया। रानी ने उसे ताबीज समझकर सोने के यन्त्र में रखकर गले में पहन लिया। संयोग से राजा उसपर तुष्ट हो गया। एक दिन किसी के कहने पर राजा ने रानी के गले का ताबीज तोड़कर उसमें जो महर्षि आनन्दघन ने लिखा था, पढ़ा और आश्चर्यचकित होकर उनकी निःस्पृह दशा और निःसंगता पर मुग्ध हो गया।

आनन्दघन के सम्बन्ध में इसी तरह 'बादशाह का बेटा खड़ा रहे', 'बादशाह का बेटा चलेगा', 'संकल्प के बल से पेशाब से स्वर्णसिद्धि', 'स्वर्ण सिद्धि-रसायन', 'ज्वर को वस्त्र में उतारना', 'अक्षय-लब्धि' आदि की अनेक जनश्रुतियां हैं।

इससे प्रतीत होता है कि आनन्दघन पहुंचे हुए उच्चकोटि के वचन-सिद्ध योगी थे। इसलिए अनेक अलौकिक घटनाएँ उनके जीवन से जुड़ गई हैं।

समन्वयवादी एवं सर्वधर्मसहिष्णु

आनन्दघन का व्यक्तित्व समन्वयवादी एवं सहिष्णु था। उनके काव्यों में धार्मिक उदारता एवं सहिष्णुता का परिचय मिलता है। जिस धर्म एवं दर्शन में व्यापक एवं उदार दृष्टिकोण का अभाव रहता है वह एकांगी, एक-पक्षीय हो जाता है। इस सम्बन्ध में आनन्दघन का स्पष्ट उद्घोष है कि वीतराग-परमात्मा के चरणों का उपासक संकीर्ण, रागद्वेषवर्द्धक अनुदार एकान्तिक दृष्टि नहीं हो सकता। वह 'अपना सो सच्चा' इस सिद्धान्त के बदले 'सच्चा सो अपना' सिद्धान्त का पक्षपाती होगा। इसी उदार दृष्टि के कारण वह जहां-जहां सत्य मिले, बिना किसी संकोच के उसे अपना लेता है। उसकी अनेकान्त-दृष्टि स्पष्ट, उदार, सर्वांगी होती है। आनन्दघन ऐसे ही उदारमना सन्त थे। इसीलिए वे षड्दर्शनों को जिनेश्वर देव (समय-पुरुष) के छह अंगों के रूप में सुस्थापित करते हुए कहते हैं कि वीतराग-परमात्मा का चरण उपासक तो किसी एक दर्शन का नहीं, षड्दर्शन का आराधक होता है :

षड् दरसण जिन अंग भणीजै, न्यास षडंग जे साधेरे ।
नमि जिनवर ना चरण उपासक, षड् दरसण आराधैरे ॥[1]

उनके अनुसार वीतराग का उपासक सभी दर्शनों का आराधक होता है। वह सर्वदर्शनों एवं सर्वधर्मों के प्रति सहिष्णु होता है। किसी दर्शन से द्वेष नहीं करता, क्योंकि उसकी दृष्टि इतनी व्यापक, सत्यग्राही, उदार और सहिष्णु होती है कि उसके लिए कोई भी दर्शन पराया नहीं रहता। लेकिन ऐसा केवल तभी हो सकता है जब कि वह केवल अनेकान्त की, समन्वयवादिता की, कोरी चर्चा न करे, उसे जीवन में भी उतारे। जैन-दर्शन की व्यापकता का मनोरम चित्र खींचते हुए आनन्दघन कहते हैं :

जिनवरमा सगला दरसण छे, दरसण जिणवर भजनारे ।
सागरमा सघली तटनीछै, तटिनी सागर भजना रे ॥[2]

जैनदर्शन विशाल महासमुद्र है जिसमें अनेक नदियों के रूप में विभिन्न दर्शन समाविष्ट हैं, किन्तु नदी रूप अन्य दर्शनों में समुद्ररूप जैनदर्शन आंशिक रूप से समाहित है। इससे विदित होता है कि आनन्दघन जैन-मतावलम्बी को उदार एवं सर्वदर्शन समन्वयी बनने की स्पष्ट सीख देते हैं।

वे केवल दार्शनिक समन्वयवादी ही नहीं थे, धार्मिक सहिष्णुता भी उनमें कूट-कूट कर भरी थी। उनके समय में साम्प्रदायिक संकीर्णता ने समाज में विषमता पैदा कर दी थी। एक धर्म दूसरे धर्म के अनुयायियों का रक्त-पिपासु बन रहा था। धार्मिक कट्टरता ने हिन्दू मुसलिम अलगाव पैदा कर दिया था। ऐसे विषम समय में आनन्दघन ने भेदभाव दूर करने का बीड़ा उठाया। उन्होंने निर्भीक रूप से उद्घोषणा की—

राम कहौ रहिमान कहौ, कोउ कान्ह कहौ महादेवरी ।
पारसनाथ कहौ कोउ ब्रह्मा, सकल ब्रह्म स्वयमेवरी ॥
भाजन भेद कहावत नाना, एक मृत्तिका रूपरी ।
तैसे खंड कल्पनारोपित, आप अखण्ड सरूपरी ॥[3]

१. नमिजिनस्तवन, आनन्दघन ग्रन्थावली ।
२. वही ।
३. आनन्दघन ग्रन्थावली, पद ६५ ।

इसमें उन्होंने सभी महापुरुषों के प्रति निष्ठा व्यक्त करते हुए अपनी अनुपम उदारता का परिचय दिया है। उन्होंने यथार्थ स्वरूप का विश्लेषण भी किया है। जनसाधारण के बीच भेदभाव की खाई मिटाने हेतु अनेकान्त-मर्मज्ञ सन्त आनन्दघन परम सत्य (शुद्ध चैतन्यमय आत्मा) का सहज स्वरूप बताते हुए कहते हैं कि राम-रहीम, कृष्ण-करीम, महादेव एवं पार्श्वनाथ एक ही परम सत्य के विभिन्न रूप हैं। उदाहरणस्वरूप, जैसे मिट्टी से विभिन्न प्रकार के पात्र बनाये जाते हैं और उन्हें भिन्न-भिन्न नामों से पुकारा जाता है लेकिन मूलतः मिट्टी एक ही है, भले ही पात्रों की विभिन्नता के कारण हम उनका नामकरण अलग-अलग कर देते हैं, ठीक वैसे ही परम सत्य का स्वरूप भी निश्चय दृष्टि से एक ही है, व्यवहार से उन्हें विभिन्न नामों से कल्पित किया जाता है।

इस प्रकार, कहा जा सकता है कि आनन्दघन ने धर्मान्धता, संकीर्णता असहिष्णुता एवं कूपमण्डूकता से मानव-समाज को ऊपर उठाकर एकता का अमृत पान कराया। इससे उनके समय की राजनैतिक एवं धार्मिक परिस्थिति का भी परिचय मिलता है।

मूलनाम / उपनाम

सन्त आनन्दघन का जन्म किस नगर में हुआ, इनके माता-पिता कौन थे, इनका जन्म-नाम क्या था, इनके गुरू कौन थे और ये किस सम्प्रदाय में दीक्षित हुए तथा इनका देह विलय कहां हुआ ? आदि के बारे में अभी तक अन्तिमरूप से निर्णायक ऐतिहासिक तथ्य उपलब्ध नहीं। विद्वानों में इस सम्बन्ध में मतवैभिन्य एवं विवाद है।

जैनधर्म के अनुसार दीक्षोपरान्त साधु-साध्वियों के सांसारिक नाम, गोत्र, वंश-परम्परा आदि बदल जाते हैं। सन्त अपने सांसारिक नाम, गोत्र, जन्मस्थान, जन्म-तिथि आदि की सूचना देने के प्रति उपेक्षाभाव ही रखते हैं। वे अपनी कृतियों में केवल गुरू-परम्परा का ही उल्लेख करते हैं, वंश-परम्परा का नहीं। इस कारण उनके माता-पिता-परिजनों आदि का कुछ भी पता नहीं चलता। आनन्दघन के साथ भी यह कठिनाई है। वे इतने आत्मस्थ सन्त थे कि 'जिन' की महिमा के गाने में उनको आत्म-परिचय रूप विज्ञापन की आवश्यकता ही अनुभूति नहीं हुई। यह तो हम-लोगों की जिज्ञासा है कि उनकी वंश-परम्परा और जीवनकाल आदिको

जानें। चाहे उनके जीवनवृत्त के सम्बन्ध में अन्तिम निर्णायक तथ्य ज्ञात न भी हों, फिर भी उनके काव्य के अन्तर्साक्ष्य से उनके व्यक्तित्व की कुछ जानकारी तो मिल ही जाती है।

आनन्दघन के संसारी नाम की खोज आज तक नहीं हो पायी, क्योंकि उनकी रचनाओं में और अन्य स्रोतों से इसका कोई संकेत नहीं मिलता। उनकी रचनाओं में जिस 'आनन्दघन' नाम का निर्देश है वह न तो उनका व्यावहारिक जीवन का नाम है और न दीक्षितावस्था का। आनन्दघन उनका मूल नहीं, उपनाम है और यही उपनाम काव्य-जगत् और आध्यात्मिक-जगत् में सुप्रसिद्ध है। आनन्दघन ने भी अपनी कृतियों के अन्त में इसी उपनाम 'आनन्दघन' का उल्लेख किया। जैनधर्म में भी उन्हें इसी 'उपनाम' से पहचाना जाता रहा है। जैन परम्परा में उपनाम से काव्य रचना करने की परम्परा रही है। आनन्दघन की ही भांति श्री कपूरविजय ने भी अपने पदों में 'चिदानन्द' उपनाम का ही प्रयोग किया है। सभी देश-काल के साहित्यकार, काव्यकार उपनाम रखते आए हैं और उसी से काव्य-जगत् में इतनी प्रसिद्धि पा जाते हैं कि उनके वास्तविक नाम से सामान्य जन अपरिचित ही रह जाते हैं।

कतिपय विद्वानों का मत है कि आनन्दघन का दीक्षितावस्था का मूल नाम 'लाभानन्द' था। हम इस सम्भावना को इनकार नहीं कर सकते। सम्भवतः जब आनन्दघन दीक्षित हुए होंगे, तब प्रारम्भ में उनके गुरु ने आनन्दघन की आत्मिक आनन्द की प्राप्ति की ओर विशेष रुचि देखकर 'लाभानन्द' नाम रख दिया हो और बाद में जब लाभानन्द ने उत्तरोत्तर आध्यात्मिक-विकास के सोपान पर बढ़ते हुए आत्मिक आनन्द का रसास्वादन कर लिया तो गुरू ने ही उनका उपनाम 'आनन्दघन' रखा हो और जनसाधारण भी आनन्दघन के नाम से सम्बोधित करने लगे हों।

यह भी सम्भव है कि दीक्षा देते समय गुरु ने आनन्दघन को आत्मोत्कर्ष करने हेतु 'लाभानन्द' नाम देकर उसका महत्त्व समझाया हो और प्रेरणा दी हो। 'लाभानन्द' का अर्थ होता है—आनन्द ही जिसका लाभ या लक्ष्य हो। इसका शब्दशः अर्थ होगा—आनन्द की प्राप्ति। किन्तु अपनी साधना में आनन्द के चरमोत्कर्ष या अतुलानन्द की प्राप्ति पर उन्हें उपनाम रखने की प्रेरणा मिली हो।

यह भी सम्भव है कि आनन्द मानव जीवन की चरम परिणति होने से उन्हें यह उपनाम जान पड़ा हो और अपनी काव्य-कृतियों में उन्होंने स्थान-स्थान पर इसी नाम का उल्लेख किया हो। इस सम्बन्ध में इतना कहना ही पर्याप्त होगा कि आध्यात्मिक आनन्द या मस्ती में डूबकर वे लाभानन्द से आनन्दघन हो गये।

यदि गहराई से सोचा जाय तो इस महान् सन्त के नाम और उपनाम दोनों ही सार्थक हैं। लाभानन्द और आनन्दघन उत्तरोत्तर अध्यात्म के चरमोत्कर्ष का बोध कराते हैं।

लाभानन्द के मूल नाम की प्रामाणिकता के लिए जो कुछ आधारभूत तथ्य अभी तक प्रकाश में आये हैं, वे इस प्रकार हैं :

ज्ञानविमल सूरि ने 'आनन्दघन चौबीसी' पर स्तवक (गुच्छ) लिखा है। उस गुच्छ के अन्त में बाईस स्तवनों के समापन में उन्होंने लाभानन्द नाम का संकेत किया है।[1]

इसी तरह श्रीदेवचन्द्र जी म० ने भी 'विचार रत्नाकर' ग्रन्थ में 'आनन्दघन चौबीसी' के पन्द्रहवें धर्मनाथ जिन स्तवन की छठीं गाथा की प्रथम पंक्ति—

'प्रवचन अंजन जो सद्गुरु करे, देखे परम निधान'

को उद्धृत करते हुए कहा है "एवं श्रीलाभानन्दजी ए कह्युं छे"।[2] तीसरा सूचक उल्लेख डा० कुमारपाल देसाई के शोध-प्रबन्ध में यह मिलता है कि कि पंन्यास सत्यविजय जी के लघु भ्राता लाभानन्द थे और उन्होंने भी क्रियोद्धार के मार्ग को अपनाया था। इस तथ्य की पुष्टि उन्होंने 'श्रीसमेत-शिखर तीर्थनां ढालियां' के आधार पर की है। इसकी रचना श्रीवीर-विजय जी के शिष्य ने सम्वत् १९६० में की थी। इसमें कहा गया है :

---

१. श्रीलाभानन्दजी कृत स्तवन एतला २२ दीसे छे। यद्यपि हस्ये (बीजा) तोही आपण हाथे नथी आव्या।
उद्धृत-श्रीमहावीर जैन विद्यालय रजत महोत्सव ग्रन्थ, लेख-अध्यात्मी श्रीआनन्दघन अने श्रीयशोविजय, पृ० २०३।

२. उद्धृत-श्रीमहावीर जैन विद्यालय रजत महोत्सव ग्रन्थ, पृ० २०१

तेमना लघु भाई लाभानन्द जी, ते पण क्रिया उद्धार जी।
कपुरविजय क्षमा सुजस विजय बुध, शुभ विजय गुणधार जी ॥[1]

लाभानन्द नाम को सिद्ध करने का एक और आधार हमें आनन्दघन के निम्नांकित पदों में मिलता है। आनन्दघन ने अत्याबाध आनन्दानुभूति का वर्णन करते हुए लाभानन्द नाम का संकेत किया है : 'नाम आनन्दघन लाभ आनन्दघन'।[2] तथा 'लाभानन्द' भले नेह निवारई, सुखीय होई नर सोई[3] इन दोनों पदों की अन्तिम पंक्ति में आनन्दघन ने 'लाभ आनन्दघन' और 'लाभानन्द' कहकर सम्भवतः अपना दीक्षितावस्था का लाभानन्द नाम सूचित किया है।

नामसाम्यवाले अन्य कवि और आनन्दघन

हिन्दी साहित्य में, प्रारंभ में जैन कवि सन्त आनन्दघन के सम्बन्ध में अनेक भ्रान्त धारणाएँ प्रचलित थीं, क्योंकि जैन कवि आनन्दघन के अतिरिक्त नन्दगांववासी आनन्दघन 'काकमंजरी' के रचयिता कवि आनन्द और वृन्दावन वासी घनानन्द (आनन्दघन) नाम के तीन अन्य कवि भी हुए हैं। नाम-साम्य के कारण इन्हें एक समझने की भूल होती रही। प्रारम्भ में नन्दगांववासी आनन्दकवि और वृन्दावनवासी घनानन्द कवि एक ही समझे जाते रहे। यही नहीं वृन्दावनवासी घनानन्द और जैन कवि सन्त आनन्दघन में भी नाम-साम्य होने के कारण दोनों के एक होने की संभावना की जाने लगी। इस धारणा की पुष्टि का कुछ प्रयत्न भी हुआ जिसमें जैन कवि आनन्दघन के बारे में कई विचित्र कल्पनाएँ की गईं। किन्तु उपलब्ध तथ्यों के आधार पर अब इतना तो निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि ये चारों ही पृथक्-पृथक् व्यक्ति हैं।

---

१. 'श्रीसमेतशिखर तीर्थानां ढालियां' - सं० पू० आ० श्रीविजयपद्मसूरि, कलश गाथा १४, पृ० १४७-१६६, उद्धृत-आनन्दघन एक अध्ययन, पृ० १७।

२. आनन्दघन ग्रन्थावली, पद ७३।

३. आनन्दघन ग्रन्थावली, पृ० ३८ पर (इति प्रीतिनिवारण सिझाय—१८वीं शती की लिखित प्रति से) उद्धृत।

श्री विश्वनाथप्रसाद मिश्र ने 'घनानन्द कवित्त' की भूमिका में[1] तथा डा० कुमारपाल देसाई के 'आनन्दघन : एक अध्ययन' में[2] इन कवियों की पृथक्ता प्रतिपादित की है।

(१) नन्दगांववासी आनन्दघन और जैन कवि आनन्दघन

नन्दगांववासी 'आनन्दघन' या 'घन आनन्द' चैतन्य महाप्रभु के समकालीन थे। संवत् १५६३ में चैतन्य महाप्रभु नन्दगांव गये तब वे विद्यमान थे। वे अपनी कृतियों में 'आनन्दघन' और 'घन आनन्द' इन दोनों नामों का प्रयोग करते थे। इनके द्वारा रचित दो-चार पद नन्दगांव के मन्दिरों में आजतक गाये जाते हैं। ये ब्राह्मण कुलोत्पन्न भक्त कवि थे, न कि सन्त। नन्दगांववासी आनन्दघन का स्थितिकाल विक्रम की सोलहवीं शती का उत्तरार्द्ध ठहरता है।

इस प्रकार, नन्दगांववासी आनन्दघन, जैन कवि आनन्दघन से लगभग १०० वर्ष पूर्व विद्यमान थे।

(२) आनन्द कवि और आनन्दघन

नन्दगांववासी आनन्दघन, जैन कवि आनन्दघन और वृन्दावनवासी घनानन्द (आनन्दघन) से भिन्न एक आनन्द कवि भी हैं जिनके बारेमें वर्षों तक यह पता नहीं चल पाया था कि ये कवि कौन हैं, कहां के निवासी हैं और किस शताब्दी में विद्यमान थे? किन्तु बाद में कुछ हस्तलेख प्राप्त हुए जिनमें आनन्द कवि के वंश, समय और स्थान का स्पष्ट उल्लेख है।[3]

---

१. घनानन्द कवित्त—विश्वनाथप्रसाद मिश्र, पृ० ११-२९।

२. आनन्दघन : एक अध्ययन—डा० कुमारपाल देसाई, पृ० १२५-२८।

३. कायथ कुल आनन्द कवि, वासी कोट हिसार।
कोककला इहि रूचि करण, जिन यह कियो बिचार।
रितु बसन्त सम्बत सरस, सोरह से अरु साठ।
कोकमंजरी यह करी धर्म कर्म करी पाठ॥
—(खोज०, १९२६–१० एफ)।
रितु बसन्त सम्बत सत सोरह आगत साठ।
कोकमंजरी यह करी करम धरम कै पाठ॥
—(खोज० १९२३–१० बी)
—नागरीप्रचारिणी सभा, काशी द्वारा प्रकाशित।
उद्धृत—घनानन्द कवित्त, पृ० ११।

इस प्रकार, आनन्द कवि विक्रम की १७वीं शताब्दी के तृतीय चरण में अर्थात् १६६० के आसपास विद्यमान थे। इन्होंने 'कोकमंजरी' एवं 'सामुद्रिक' इन दो प्रमुख ग्रन्थों की रचना की। 'कोकमंजरी' की रचना के समय यदि इनकी आयु ३५ वर्ष भी मान ली जाय तो इनका जन्म सं० १६२५ के आसपास हुआ होगा, जबकि जैन सन्त कवि आनन्दघन का संवत् १६६० के आसपास माना जाता है। इस प्रकार आनन्द कवि जैन सन्त कवि आनन्दघन से वय में ३०-४० वर्ष अवश्य बड़े थे। दूसरे आनन्द कवि ने जिस कोकमंजरी की रचना की वह भी आनन्दघन की कृति नहीं मानी जा सकती, क्योंकि आनन्दघन का जीवन एवं काव्य वैराग्यपरक तथा आध्यात्मिक है। जैन परम्परा के एक सन्त कवि से कोकमंजरी जैसी रचना की अपेक्षा करना नितान्त असंगत है। तीसरे, कोकमंजरी की रचना संवत् १६६० सुनिश्चित है। इस समय तक या तो जैन कवि आनन्दघन का जन्म ही नहीं हुआ या वे मात्र बालक ही होंगे।

(३) घनानन्द और आनन्दघन

विक्रम की अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में वृन्दावनवासी रीतिकालीन घनानन्द नाम के ब्रजभाषा के कवि हुए हैं। ये रीतिकालीन शृंगार या प्रेम के उन्मुक्त गायक हैं। इनका जन्म बुलन्दशहर जिले के ब्रजभाषी प्रदेश के किसी गांव में संवत् १७४६ के लगभग हुआ। शैशवावस्था व्यतीत करने के बाद ये दिल्ली चले गये और वहां मुगल सम्राट् मुहम्मदशाह रंगीले के मुंशी बने। कहा जाता है कि वहां वे सुजान नामक वेश्या पर आसक्त हो गये।

घनानन्द अपने समय के एक अच्छे ध्रुपद गायक थे। गायन कला के कारण ही सुजान इनकी ओर आकर्षित हुई होगी। अनुश्रुति है कि एकबार इन्होंने नहीं गाया, किन्तु सुजान के दरबार में आ जाने पर वे गाने पर सहमत हो गये। इसी कारण, राजा ने इन्हें देश-निकाला दे दिया। इन्होंने सुजान से साथ चलने का आग्रह किया, किन्तु वह सहमत नहीं हुई। अन्त में विरत होकर वे वृन्दावन चले गये और वहां निम्बार्क सम्प्रदाय में दीक्षित हो गये। फिर भी, इन्होंने 'सुजान' शब्द का अपनी काव्य-कृतियों में प्रयोग करना नहीं छोड़ा। अपने सवैये और कवित्तों में एक जीवन्त कामिनी के रूप में इन्होंने सुजान का बराबर उल्लेख किया

है। घनानन्द के काव्य में विरही हृदय की मार्मिक वेदना अविच्छिन्न गति से बहती है। अपने काव्य में इन्होंने न तो किसी प्रेमाख्यान की रचना की और न रीतिकालीन कवियों की भाँति नायिका के भेद और उपभेदों का अवलंबन लिया। प्रेम की पीड़ा का यह उन्मुक्त गायक अन्य कवियों की अपेक्षा अपनी विशेषता इस प्रकार बताता है :

लोग हैं लागि कबित्त बनावत,
मोहि तो मोरे कबित्त बनावत।[1]

इस तरह घनानन्द का शुद्ध ब्रजभाषा में पद-रचना करने वाले कवियों में महत्त्वपूर्ण स्थान है। अभिधा की अपेक्षा लक्षणा और व्यंजना का वे अधिक प्रयोग करते हैं। इनके वियोग-निरूपण में इनकी अन्तरवृत्तियों का बोधक प्रतिबिम्ब परिलक्षित होता है। इसीलिए वे कहते हैं कि मेरी कविता समझने के लिए किसी विद्वान् की आवश्यकता नहीं, इसे तो स्नेह की पीड़ा का हर पारखी व्यक्ति समझ सकता है—

समझै कविता घन आनन्द की,
हिय आखिन नेह की पीर तकी ॥[2]

इन्होंने 'घनआनन्द कबित्त', 'कोकसार', 'वियोग बेलि', 'सुजानसागर', 'रसकेलिवल्ली' आदि काव्य-कृतियों की रचना की।

माना जाता है कि इनका जन्म विक्रम सम्वत् १७४६ में हुआ और मृत्यु अहमदशाह अब्दाली के द्वितीय आक्रमण के समय सं० १८१७ में हुई।

यद्यपि घनानन्द और आनन्दघन में नाम-साम्य होने के कारण कतिपय विद्वानों को भ्रान्ति हो गई है कि वृन्दावनवासी घनानन्द और जैन-कवि आनन्दघन एक ही हैं। क्षितिमोहन सेन ने घनानन्द और आनन्दघन के एक होने की सम्भावना 'मर्मी आनन्दघन' नामक अपने लेख में प्रकट की है।[3] उनका कहना है कि सत्य प्रेमी आनन्दघन का मन योगादि की प्रक्रिया में भी नहीं लगा, इसी कारण उनका ध्यान 'बंसीवाला' और

---

१. घनआनन्द कबित्त।
२. वही।
३. जैन मर्मी आनन्दघन का काव्य—आचार्य क्षितिमोहन सेन, अंक 'वीणा', पृ० ३-१२।

'ब्रजनाथ' की ओर आकर्षित हुआ और वे 'श्याम' की भक्ति में लीन हो गए। किन्तु क्षितिमोहन सेन ने घनानन्द और आनन्दघन में अभेद बताने के लिए जिन पदों को प्रमाण के रूप में प्रस्तुत किया है, उनके जैन सन्त कवि आनन्दघन द्वारा रचित होने में भी शंका है।

महताबचन्द खारैड द्वारा सम्पादित 'आनन्दघन ग्रन्थावली' में पद-क्रम दर्शक विवरण-पत्र दिया गया है। यह विवरणपत्र २ मुद्रित और ९ हस्तलिखित प्रतियों के आधार पर दिया गया है।[२] उसे देखने से ज्ञात होता है कि 'ब्रजनाथ से सुनाथ विण' यह पद हस्तलिखित ९ प्रतियों में से केवल चार प्रतियों में उपलब्ध है, शेष पाँच प्रतियों में यह पद नहीं है। इसी तरह 'साइंडा दिल लगा है बंशीवारे सूं' यह पद भी हस्तलिखित नौ प्रतियों में से केवल एक प्रति में ही मिलता है। तीसरा 'हरि पतितन के उद्धारण' पद हस्तलिखित नौ प्रतियों में से केवल पाँच प्रतियों में ही है, शेष में नहीं। यह इस बात का सूचक है कि ये पद मूलतः जैन कवि आनन्दघन के नहीं हैं। सम्भव है कि प्रतिलिपि करनेवालों ने कृष्ण-भक्त आनन्दघन के इन लोकप्रचलित पदों को नाम-साम्य के कारण उनमें बाद में जोड़ दिया हो। 'साइंडा दिल लगा बंशीवारे सूं' नामक जिस पद के आधार पर आनन्दघन को जिन-भक्त से कृष्ण-भक्त बनने का दावा किया जाता है, वह तो हस्तलिखित प्रतियों में से मात्र एक ही प्रति में मिलता है। इससे उसके आनन्दघन रचित होने में सन्देह स्वाभाविक है।

मात्र इन दो तीन पदों के आधार पर आनन्दघन को कृष्ण-भक्त सिद्ध करना सर्वथा असंगत है। यदि आनन्दघन कृष्ण-भक्त होते तो उनके अधिकांश पद कृष्ण या ब्रज या हरि से सम्बद्ध होते या उनमें इनका नामोल्लेख होता ?

दूसरी ओर, 'आनन्दघन-चौबीसी' तो विशुद्ध रूप से उन्हें जैन-परम्परा को सूचित करती है। उसमें जैन-परम्परा के चौबीस तीर्थंकरों की स्तुति की गई है। आनन्दघन के अनेक पद जैन तत्त्वज्ञान से ही सम्बद्ध हैं।

---

२. आनन्दघन ग्रन्थावली, पृ० २-१६।

आनन्दघन के पदों में कृष्ण या ब्रज सम्बन्धी इन दो-तीन पदों के समावेश का कारण यह भी हो सकता है कि उपदेश के माध्यम से भजनों और पदों का जन-जन में प्रचार-प्रसार होता था। संत परिभ्रमण करते हुए जन सामान्य को भजन एवं पद सुनाते थे और सामान्य जनता उन्हें सुनकर कण्ठस्थ कर लेती थी। लेकिन कालानुसार विस्मृति के कारण पदों में प्रयुक्त शब्दों का स्थान-विशेष के अनुसार काया पलट हो जाता था। मात्र इतना ही नहीं, किसी अन्य के पद को भूल से और कभी जान बूझकर किसी दूसरे के नाम चढ़ा दिया जाता था। यथा—

भमरा ! कित गुन भयो रे उदासी।
तन तेरो कारो मुख तेरो पीरो, सब हैं फूलन को सुवासी॥
ज्यां कलि बैठहि सुवासहि लीनी, सो कलि गई निरासी।
कहत कबीरा सुन भाई साधो ! जइ करवत ल्यो कासी॥[1]

प्रस्तुत पद की अन्तिम पंक्ति को कबीर के स्थानपर 'आनन्दघन' के नाम पर चढ़ा दिया है :

आनन्दघन प्रभु तुमारे मिलन कुं, जाय करवत ल्यूं कासी।[2]

उन दिनों यह भी होता था कि 'कहीं की ईंट, कहीं का रोड़ा, भानुमती ने कुनबा जोड़ा' की भाँति किन्हीं दो रचनाकारों के पदों की कुछ पंक्तियां लेकर कोई पद पूर्ण कर दिया जाता था और किसी एक के नाम पर चढ़ा दिया जाता था। परिणामतः पदावलियों में अनेक पाठ-भेद हो गए और किसी दूसरे के पद किसी अन्य पदकर्ता के नाम से प्रसारित हो गए। यही घटना आनन्दघन की कृतियों के साथ, विशेषतः पदों के साथ हुई है। लगता है, उस समय आनन्दघन इतने लोकप्रिय रहे होंगे कि अन्य कवियों के पद और उनकी भाषा-शैली से पृथक् पद भी उनके नाम से प्रसिद्धि पा गए।

आनन्दघन के पदों में कृष्ण-भक्ति से सम्बन्धित पदों के या अन्य कवियों के कुछ पदों के समावेश का एक कारण यह भी हो सकता है कि उस समय पदों को लिखने वाले लिपिक पैसे के लोभ में आकर अपनी

---

१. आनन्दघन ग्रन्थावली, पृ० ३६।
२. आनन्दघन ग्रन्थावली, पद ९९।

स्मृति से नाम-साम्यवाले कवियों के पदों को उनमें जोड़ देते हों, क्योंकि उनके सामने यह लक्ष्य रहता था कि जितने पद अधिक लिखे जाएँगे उतने ही अधिक पैसे प्राप्त होंगे। दूसरे, लिखनेवाले जैन लेखक ही रहे होंगे, यह भी नहीं कहा जा सकता। यह भी सम्भव है कि किसी इतर धर्मावलम्वी लिपिक ने पद लिखे हों और लिखते समय कृष्ण सम्बन्धी अन्य पद भी उसकी स्मृति में आ गए हों, इसलिए उसने अपनी ओर से उनकी रचनाओं में कुछ पद जोड़ दिए हों।

अतः उपर्युक्त तर्कों के आधार पर, केवल तीन कृष्ण-भक्तिपरक पदों के आधार पर आनन्दघन और घनानन्द के एक होने की संभावना तथा आनन्दघन के श्याम की भक्ति में लीन होने की बात निरस्त हो जाती है।

रचना-काल के आधार पर भी आनन्दघन घनानन्द से भिन्न ठहरते हैं। 'श्रीमहावीर जैन विद्यालय-रजत महोत्सव-संग्रह' में प्रकाशित 'अध्यात्मी आनन्दघन अने श्री यशोविजय' शीर्षक लेख के अनुसार चौबीसी का रचनाकाल सं० १६७८ के लगभग है।[1] डा० कुमारपाल देसाई ने अपनी पुस्तक में जिन हस्तलिखित प्रतियों का उल्लेख किया है उनमें 'आनन्दघन बाईसी' की सबसे प्राचीन हस्तलिखित प्रति का लेखन वर्ष वि० सं० १७५१ है[2] और 'आनन्दघन ग्रन्थावली' के पद-क्रम दर्शक विवरण-पत्र में सबसे प्राचीन प्रति का समय सं० १७५६ दिया है।[3] इसका अर्थ यह है कि आनन्दघन सं० १७५१ या १७५६ के बहुत पहले हुए होंगे, क्योंकि उनके पदों के लोक-प्रचलित होने में तथा लोगों के द्वारा हस्तलिखित प्रति तैयार कराये जाने में कुछ समय तो लगा ही होगा। इससे यह बात भी पुष्ट होती है कि उनका देहान्त सं० १७३१ के लगभग हो गया होगा। इस आधार पर उनका जन्म सं० १६६० के आसपास और चौबीसी का रचनाकाल १६८० के आसपास माना जा सकता है। उपर्युक्त प्रमाणों को देखते हुए यह ठीक भी है, जबकि घनानन्द का जन्म वि० सं० १७४६ के लगभग एवं मृत्यु सं० १८१७ में मानी गई है। अतः काल के आधार पर दोनों के एक होने की संभावना निर्मूल सिद्ध होती है।

---

१. श्रीमहावीर जैन विद्यालय-रजत महोत्सव ग्रन्थ, लेख—"अध्यात्मी श्रीआनन्दघन अने श्रीयशोविजय," पृ० २०३।

२. आनन्दघन : एक अध्ययन, पृ० १३३।

३. आनन्दघन ग्रन्थावली, पृ० ३।

आनन्दघन की भाषा राजस्थानी मिश्रित गुजराती है, क्योंकि इनका विचरण पश्चिमी राजस्थान एवं उत्तरी गुजरात में ही अधिक हुआ है। 'आनन्दघन चौबीसी' की भाषा तो विशुद्ध पुरानी गुजराती है और पदों में राजस्थानी भाषा का प्रभाव परिलक्षित होता है, जबकि घनानन्द के काव्यों में ब्रजभाषा का स्पष्ट प्रभाव दृष्टिगत होता है। इनकी कुछ रचनाओं में पंजाबी भाषा का भी प्रभाव देखा जाता है। यह स्वाभाविक भी है, क्योंकि इनका अधिकांश समय देहली एवं ब्रज प्रदेश में ही बीता। इन्हें ब्रजभाषा प्रवीण भी कहा गया है। इस प्रकार, भाषा-शैली की दृष्टि से भी दोनों एक नहीं हैं।

दोनों के भिन्न-भिन्न होने का एक महत्त्वपूर्ण आधार यह भी है कि आनन्दघन और घनानन्द के काव्य-विषय एवं शैली सर्वथा भिन्न हैं। घनानन्द अपने काव्यों में अधिकांशतः 'सुजान' शब्द का प्रयोग करते हैं जबकि आनन्दघन ने अपनी कृतियों (आनन्दघन चौबीसी एवं पदों) में कहीं भी 'सुजान' शब्द का नामोल्लेख नहीं किया है। इसके स्थान पर उन्होंने अपनी कुछ ही रचनाओं में 'समता' का उल्लेख किया है। इतना ही नहीं, आनन्दघन ने अपनी कृतियों के अन्त में उपनाम 'आनन्दघन' के अतिरिक्त किसी अन्य शब्द का प्रयोग नहीं किया है, जबकि घनानन्द ने अपनी कृतियों में 'घनानन्द' के अतिरिक्त 'अनंदघन', 'आनन्दघन' का प्रयोग भी किया है। घनानन्द ने 'घनआनन्द कवित्त', 'सुजानहित', 'सुजान विनोद', 'इश्कलता', 'कोकसार', 'वियोग बेलि' आदि कृतियों की रचना की। इन कृतियों से ही स्पष्ट है कि घनानन्द की कृतियां अध्यात्म-प्रधान न होकर शृंगार-प्रधान अथवा रीति विषयक हैं।

आनन्दघन का प्रतिपाद्य विषय आत्मा-परमात्मा है। इनके काव्यों में कहीं भी अध्यात्म-भक्ति, योग के अतिरिक्त विषय-वासना की गंध तक नहीं है। यद्यपि कुछ पद विरह-व्यथा से सम्बद्ध अवश्य हैं, तथापि यह विरह-वेदना आत्मा-परमात्मा या चेतन-समता की है, वैषयिक नहीं।

दोनों के भिन्न-भिन्न होने का कालिक आधार भी है। आनन्दघन उपाध्याय यशोविजय के समकालीन थे जिनका समय सं० १६७० से १७४५ माना गया है,[1] जबकि घनानन्द नागरीदास के समसामयिक थे। इन

---

१. आनन्दघन ग्रन्थावली, पृ० १४।

नागरीदास का कविता काल १७८० से १८१९ माना गया है।[१] 'छप्पन भोग चन्द्रिका' में कृष्णगढ़ के राजकवि जयलाल वृन्दावनवासी घनानन्द को नागरीदास का समसामयिक मानते हैं।[२] बाबू राधाकृष्णदास ने उल्लेख किया है कि "हमारे यहां एक अत्यन्त प्राचीन चित्र है जिसमें नागरीदासजी और घनानन्दजी एक साथ विराजते हैं"।[३] उक्त उद्धरणों से स्पष्ट प्रतीत होता है कि आनन्दघन और घनानन्द के एक होने की कल्पना भी नहीं की जा सकती, क्योंकि जैन आनन्दघन और वृन्दावनवासी घनानन्द या आनन्दघन के समय में लगभग सौ वर्ष का अंतर है।

इसके अतिरिक्त घनानन्द निम्बार्क संम्प्रदाय में दीक्षित हुए और इन्होंने परमहंस-वंशावली में स्पष्टरूप से अपनी गुरु-परम्परा का उल्लेख किया है जबकि आनन्दघन जैन-श्वेतांबर सम्प्रदाय में दीक्षित हुए हैं। यद्यपि इन्होंने कहीं भी अपनी कृतियों में गुरु-परम्परा का परिचय नहीं दिया है। इस प्रकार, यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि आनन्दघन और घनानन्द दोनों पृथक्-पृथक् व्यक्ति हैं।

जन्म-स्थान

आनन्दघन निःस्पृह साधक थे। उनके जन्म-स्थान एवं तिथि का निर्धारण कर पाना एक दुष्कर कार्य है, क्योंकि उन्होंने अपनी कृतियों में कहीं भी इन बातों का निर्देश नहीं किया है और न किसी अन्य समकालीन रचनाकार ने ही उनकी जन्म-तिथि और जन्म-स्थान आदि का उल्लेख किया है। इस संबन्ध में स्पष्ट अन्तःसाक्ष्य और बहिःसाक्ष्य दोनों का अभाव है। वस्तुतः सन्त का जन्म और मरण महत्त्वपूर्ण नहीं माना जाता। वह तो यशः शरीरी होता है। फिर भी, इन तथ्यों पर प्रकाश डालना हमारा कर्तव्य है।

आनन्दघन के जन्म-स्थान के संबन्ध में भाषा-शैली के आधार पर विद्वानों द्वारा विभिन्न कल्पनाएँ की गई हैं। भाषाशास्त्रियों का कथन है कि व्यक्ति की भाषा के आधार पर जन्म-भूमि का निर्णय किया जा सकता

१. घन आनन्द कवित्त—विश्वनाथप्रसाद मिश्र, प्रस्तावना, पृ० १६।
२. वही, पृ० १५।
३. राधाकृष्णदास ग्रन्थावली, पृ० १७२, उद्धृत—घन आनन्द कवित्त पृ० १५।

है। फिर भी, यह तभी सम्भव है जबकि किसी व्यक्ति की कृतियों में एक ही भाषा के शब्द एवं वाक्य-योजना मिलती हो। यदि अनेक भाषाओं या बोलियों के शब्द एवं वाक्य-योजनाएँ मिलती हों, तो फिर भाषा के आधार पर जन्म-स्थान के संबन्ध में निर्णय करना कठिन हो जाता है।

भाषा के आधार पर सन्त-कवियों के जन्म-स्थान का निर्णय करने में सबसे बड़ी कठिनाई यह होती है कि सन्त एक स्थान पर नहीं रहते। विभिन्न प्रान्तों एवं ग्राम-नगरों में विचरण करते रहते हैं। अतः उनकी भाषा में भिन्न-भिन्न भाषाओं के शब्दों एवं वाक्यों का समावेश होता है। यह बात सन्त आनन्दघन के स्तवनों एवं पदों में भी परिलक्षित होती है। अतः भाषा के आधार पर उनके जन्म-स्थान का निर्णय करना अत्यधिक कठिन है। फिर भी, अभीतक इस दिशा में जितने प्रयास हुए हैं, उनका परिशीलन करना समुचित होगा।

सामान्यतया आनन्दघन की कृतियों में जहां स्तवनों में गुजराती भाषा का प्रभाव देखा जाता है, वहां उनके पदों में राजस्थानी, गुजराती और ब्रजभाषा के शब्द भी पाये जाते हैं। आनन्दघन ने पहले स्तवनों की रचना की और बाद में पदों की। इस रचना के आधार पर आचार्य वुद्धिसागर सूरि लिखते हैं कि गुर्जर देश में उनका जन्म हुआ होगा।[1] इसी तरह आनन्दघन की कृतियों में विशेष रूप से शुद्ध गुजराती भाषा और गुजरात की लोक भाषा के शब्दों का प्रयोग देखकर डा० मदनकुमार जानी का यह अनुमान है कि उनका जन्म गुजरात में हुआ होगा।[2] फिर भी, वे यह नहीं बता पाये कि आनन्दघन की भाषा में गुजरात की लोक भाषा के कौन-कौन से शब्दों का प्रयोग देखा जाता है। वस्तुतः स्तवनों की भाषा में भी गुजराती के साथ ही राजस्थानी भाषा के शब्दों, कहावतों और रूढ़ि प्रयोगों का भी विशेष प्रयोग दिखाई देता है। अतः इसे निर्णायक तथ्य नहीं माना जा सकता। फिर पश्चिमी राजस्थान और उत्तरी गुजरात की सीमाएँ एक दूसरे से मिली हुई हैं और इन सीमावर्ती प्रदेशों की बोलियों में दोनों ही भाषाओं के शब्दों का प्रयोग एवं मिश्रित वाक्य-संयोजना देखी जाती है। अतः इससे इतना ही कहा जा सकता है कि

१. श्रीआनन्दघन पद संग्रह, पृ० १२४-२५।

२. राजस्थान एवं गुजरात के मध्यकालीन सन्त एवं भक्त कवि, पृ. १९०

उनका जन्म गुजरात और राजस्थान के सीमावर्ती क्षेत्र में हुआ होगा अथवा वे उस प्रदेश में सबसे अधिक रहे होंगे।

आचार्य बुद्धिसागर सूरि की तरह श्रीनटवरलाल व्यास भी 'आनन्दघन चौबीसी' को प्रथम ग्रन्थ मानकर यह अनुमान लगाते हैं कि आनन्दघन का जन्म गुजरात में हुआ होगा अथवा वे गुजरात में पर्याप्त समय तक रहे होंगे।[1] इस सम्बन्ध में श्रीमनसुखलाल रवजी भाई मेहता का कथन है कि उनकी कृतियों में हिन्दी-राजस्थानी एवं गुजराती का मिश्रण है। अतः जन्म उत्तरी भारत के किसी भाग में हुआ होगा। अल्पवय में ही उत्तर भारत को छोड़कर गुजरात के किसी प्रदेश में आ गये हों।[2]

श्रीमोतीचन्द कापड़िया का स्पष्ट अभिमत है कि आनन्दघन का सौराष्ट्र अथवा गुजरात में जन्म हुआ हो ऐसा एक भी निर्णायक वाक्य अथवा आन्तरिक आधार नहीं मिलता[3]। मोतीचन्द कापड़िया ने बुन्देलखण्ड में जन्मे श्री गम्भीर विजयजी से आनन्दघन के पदों और स्तवनों के भावार्थ को समझा था। श्री गंभीर विजयजा आनन्दघन की भाषा को अच्छी तरह समझते थे। इस आधार पर वे यह मानने को प्रेरित हुए कि आनन्दघन का जन्म बुन्देलखण्ड में हुआ होगा।

श्री मोतीचन्द कापड़िया ने उपर्युक्त आधार पर जो निष्कर्ष निकाला है, वह कुछ असंगत-सा लगता है। इनके इस अनुमान का खण्डन करते हुए आचार्य क्षितिमोहन सेन लिखते हैं कि आनन्दघन की कृतियों में गुजराती और राजस्थानो भाषा का प्रभाव परिलक्षित होता है। तो फिर, यह कैसे माना जा सकता है कि वे बुन्देलखण्ड में पैदा हुए ? आचार्य क्षितिमोहन सेन के अनुसार आनन्दघन की भाषा पूर्वी राजस्थान के अनेक भक्त कवियों की भाषा के समान है। इस प्रदेश में आनन्दघन के पूर्व और बाद में कई भक्त-कवियों का जन्म हुआ है। आनन्दघन का अन्तिम जीवन पश्चिमी राजस्थान के मेड़ता नगर में व्यतीत हुआ। मात्र इतना ही नहीं अपितु उनकी रचनाओं में राजस्थानी विशेषताएं भी परिलक्षित होती हैं।

१. जैन काव्य दोहन, भाग १, पृ० १५।
२. गुजरात के कवियों की हिन्दी काव्य साहित्य को देन, पृ० ३८।
३. श्रीआनन्दघन नां पदो, भाग १, पृ० ५६।

इस आधार पर श्री क्षितिमोहन सेन आनन्दघन का जन्म राजस्थान में मानते हैं।[1]

'श्रीसमेतशिखर तीर्थनां ढालियां' में वर्णित तथ्यों के आधार पर विचार करें तो बड़े भाई पंन्यास सत्यविजयजी का जन्म लाडलु गांव में हुआ था। यह लाडलु गांव मालवदेश के रूप में परिचित नपादलक्ष[2] देश में है। इसमें ऐसा अनुमान लगाया जा सकता है कि आनन्दघन का जन्म भी इसी स्थल पर (लाडलु गांव में) हुआ हो और बाद में इन्होंने भी पंन्यास सत्यविजय जी की भांति राजस्थान में लम्बे समय तक विचरण किया हो।

जन्म-तिथि

अपने जन्म-स्थान की भांति अपने जन्म-समय का भी आनन्दघन ने कहीं नामोल्लेख नहीं किया है। इनके जन्म-सम्वत् के विषय में भी विद्वानों में पर्याप्त मतभेद है। उपाध्याय यशोविजय द्वारा रचित अष्टपदी के अतिरिक्त अन्य किसी भी प्रकार का उल्लेख नहीं मिलता। अतः इनके जन्म-समय के निर्धारण के लिए भी अनुमानों पर निर्भर रहना पड़ता है। उपाध्याय यशोविजय द्वारा रचित अष्टपदी को आधार मानकर कतिपय विद्वानों द्वारा आनन्दघन का जन्म सम्वत् निर्धारित करने का प्रयास किया गया है।

अष्टपदी में, उपाध्याय यशोविजय ने आनन्दघन के प्रति अत्यधिक आदर प्रकट किया है। इससे आनन्दघन यशोविजय से आयु में बड़े होंगे ऐसा मान कर आचार्य क्षितिमोहन सेन ने आनन्दघन का जन्म वि० सं० १६१५ और स्वर्गवास वि० सं० १७३२ में माना है।[3] किन्तु यह अनुमान दूराकृष्ट लगता है।

---

१. 'जैन मरमी आनन्दघन का काव्य' - आचार्य क्षितिमोहन सेन, 'वीणा' पत्रिका, वर्ष १२, अंक १, नवम्बर, सन् १९३८, पृ० ७-८।

२. 'जैन ऐतिहासिक रासमाला', भाग—१, संशो० मोहनलाल देसाई, पृ० ३७।

३. जैन मरमी आनन्दघन का काव्य, 'वीणा' पत्रिका, १९३८ पृ० ८।

उपाध्याय यशोविजय विरचित इसी अष्टपदी के आधार पर डा० वासुदेव सिंह भिन्न निर्णय देते हैं। उपाध्याय यशोविजय का देहोत्सर्ग वि० सं० १७४५ में हुआ। यदि आनन्दघन का वि० सं० १७३२ में देहोत्सर्ग हुआ होता तो उपाध्याय यशोविजय ने श्रद्धेय आनन्दघन के देहविलय के सम्बन्ध में अपना विषाद अवश्य प्रकट किया होता ? किन्तु उन्होंने कहीं भी अपनी कृतियों में शोक व्यक्त नहीं किया है। इससे डा० वासुदेव सिंह आनन्दघन का देहोत्सर्ग उपाध्याय यशोविजय के स्वर्गवास के बाद अर्थात् वि० सं० १७४५ के पश्चात् मानते हैं।[१]

इसी अष्टपदी का आधार लेकर 'आनन्दघन ग्रन्थावली' में स्वर्गीय उमरावचन्द जरगड और मेहताबचन्द खारैड आनन्दघन के जन्म-सम्वत् का अनुमान करते हैं। यह माना जा सकता है कि उपाध्याय यशोविजय का जन्म लगभग वि० सं० १६७० में हुआ होगा। यशोविजय से आनन्दघन आयु में ज्येष्ठ थे। अतः उनका जन्म वि० संवत् १६६० के आसपास हुआ होगा।[२]

श्री मोतीचन्द कापड़िया ने भी आनन्दघन का जन्म वि० सं० १६६० और देहोत्सर्ग का समय वि० सं० १७२०–१७३० के बीच माना है।[३]

पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने आनन्दघन का समय वि० सं० १७०० के आसपास माना है।[४] डा० अम्बाशंकर नागर की मान्यता है कि आनन्दघन वि० सं० १७०० से १७३१ तक की अवधि में विद्यमान थे।[५]

मोहनलाल दलीचन्द देसाई के अनुसार वे वि० सं १६५० से वि० सं० १७१० तक अवश्य विद्यमान रहे होंगे।[६] पंन्यास सत्यविजय गणि का जन्म लगभग वि० सं० १६५६ माना गया है। वे आनन्दघन के बड़े भाई थे, इसकी पुष्टि 'श्रीसमेत शिखरतीर्थनां ढालियां' की रचना से होती है। इससे स्पष्ट है कि आनन्दघन का जन्म उसके बाद ही हुआ होगा।

१. अपभ्रंश और हिन्दी में जैन रहस्यवाद, पृ० १०४-१०६।
२. आनन्दघन ग्रन्थावली, पृ० १४।
३. श्रीआनन्दघन जी नां पदो, भाग १, पृ० १९।
४. घनानन्द कवित्त, भूमिका, पृ० १५।
५. गुजरात के हिन्दी गौरव ग्रन्थ, पृ० ३४।
६. श्री महावीर जैन विद्यालय रजत महोत्सव ग्रन्थ – लेख-'अध्यात्मी आनन्दघन अने श्री यशोविजय, पृ० २०३।

दूसरा, उपाध्याय यशोविजय से आनन्दघन आयु में बड़े थे और यशोविजय का जन्म बि० सं० १६७० के आसपास माना गया है। इस तरह, आनन्दघन का जन्म लगभग वि० सं० १६६० माना जा सकता है।

इनके जन्म और मृत्यु की निश्चित तिथि को प्रतिपादित करने वाला कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं है। अतः उपर्युक्त सभी मन्तव्यों के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि आनन्दघन वि०सं० १६६० से वि० सं० १७३० के बीच अवश्य ही विद्यमान रहे होंगे।

गुरू-परम्परा

सामान्यतया जैन-सन्त अपनी कृतियों में गुरू-परम्परा का उल्लेख अवश्य करते हैं, किन्तु सन्त आनन्दघन ने ऐसा नहीं किया है और न इनके समसामयिक किसी विद्वान् ने इस सम्बन्ध में संकेत किया है। इससे इनके सम्प्रदाय, दीक्षा, परम्परा आदि पर प्रकाश डालना कठिन होता है। फिर भी, इनकी कृतियों का गहराई से अध्ययन करने पर इतना तो निर्विवाद कहा जा सकता है कि वे श्वेताम्बर मूर्तिपूजक परम्परा के श्रेष्ठ सन्त थे। इस संबन्ध में निम्नलिखित प्रमाण दिये जा सकते हैं।

मूर्तिपूजक श्वेतांबर परंपरानुसार, आनन्दघन ने सुविधिजिन स्तवन में भावपूजानुलक्षी द्रव्यपूजा के विविध भेद, दशत्रिक, पांच अभिगम आदि प्रभु-दर्शन-पूजन प्रकिया का विधिवत् आगमानुसार उल्लेख किया है।[1] उन्होंने प्रस्तुत स्तवन में द्रव्यपूजा एवं भाव पूजा के विविध प्रकारों का जो वर्णन किया है, वह मात्र श्वेतांबर संप्रदाय में ही प्रचलित है। दिगम्बर-परंपरा में प्रचलित द्रव्य-पूजन की प्रक्रिया दिगम्बर-परंपरा से सर्वथा भिन्न है। इससे यह स्पष्ट होता है कि वे श्वेतांबर-मूर्तिपूजक-परंपरा में ही दीक्षित हुए होंगे।

दूसरा प्रमाण प्रस्तुत करते हुए नमिजिन-स्तवन उद्धृत किया जा सकता है—

चूरणि भाष्य सूत्र निर्युक्ति, वृत्ति परंपर अनुभव रे।
समय पुरुष नां अंग कह्याए, जे छेदे ते दुरभव रे।[2]

---

१. सुविधि जिन स्तवन, आनंदघन गन्थावली।

२. नमिजिन स्तवन, आनन्धन गन्थावली।

जैन श्वेतांबर मूर्तिपूजक-परंपरा ही ४५ आगमों और उन पर पूर्वाचार्यों द्वारा लिखित चूर्णि, भाष्य, सूत्र, निर्युक्ति, वृत्तिआदि को मान्य करती है। श्वेतांवर-परंपरा में स्वीकृत आगमों को दिगमंबर-परंपरा में मान्य नहीं किया गया है। इसलिए उन पर लिखे गये चूर्णि, भाष्य, सूत्र आदि को तो मानने का प्रश्न ही नहीं उठता। दूसरी ओर, आनन्दघन के समय में अमूर्तिपूजक स्थानकवासी संप्रदाय का प्रादुर्भाव हो चुका था जिनमें से लवजी ऋषिजी, धर्मदास जी और धर्मसिंगजी इन तीनों ने चूर्णि, भाष्य आदि को अस्वीकार कर ४५ आगमों से मात्र ३२ आगम मान्य किए थे। यह परंपरा मूर्तिपूजा को भी स्वीकार नहीं करती थी। यही कारण था कि आनन्दघन को कहना पड़ा कि जो चूर्णि, भाष्य, निर्युक्ति आदि को स्वीकार नहीं करता है वह सिद्धांत-पुरुष के अंगों का छेदन करता है और दुर्भव्य बनता है। इससे प्रतीत होता है कि आनंदघन दिगम्वर और स्थानकवासी-परंपरा में दीक्षित न होकर श्वेताबर-मूर्तिपूजक-परंपरा में ही दीक्षित हुए होगे।

श्वेताम्बर-मूर्तिपूजक-परम्परा में भी अनेक भेद—गच्छ हैं। यथा—तपागच्छ, खतरगच्छ, अंचलगच्छ, कड़वागच्छ आदि। परन्तु इनमें भी विशेषरूप से तपागच्छ और खतरगच्छ अधिक प्रचलित हैं। प्रश्न यह है कि आनन्दघन किस गच्छ में दीक्षित हुए थे? इस प्रश्न पर विद्वानों में मतभेद है। यद्यपि इस सन्दर्भ में कोई ऐतिहासिक प्रमाण उपलब्ध नहीं है, तथापि इस प्रकरण में विद्वानों द्वारा प्रस्तुत प्रमाणों की विवेचना अपेक्षित है।

श्रीअगरचन्द नाहटा का कथन है कि आनन्दघन मूलतः खतरगच्छ में दीक्षित हुए और इसके लिए 'आनन्दघन ग्रन्थावली' में उनके द्वारा तीन प्रमाण दिए गए हैं।[1]

प्रथम तर्क यह दिया गया है कि खतरगच्छ के समर्थ आचार्य जिन कृपाचन्द्र सूरि बीसवीं शती में हो चुके हैं जिन्होंने बुद्धिसागर सूरि को आनन्दघन के सम्बन्ध में कहा था कि वे मूलतः खतरगच्छ में दीक्षित हुए हैं। लेकिन यह तर्क ठोस नहीं, क्योंकि इसके लिए आचार्य कृपाचन्द्र सूरि ने कोई प्रामाणिक आधार प्रस्तुत नहीं किया है। इतना कह देने मात्र से कि वे खतरगच्छ में दीक्षित हुए थे, हमें इसका कोई ठोस प्रमाण नहीं मिल पाता। आचार्य जिनकृपाचन्द्र सूरि द्वारा आचार्य बुद्धिसागर सूरि को

१. आनन्द ग्रन्थावली, पृ० २१-२२।

बताए जाने के बावजूद स्वयं आचार्य बुद्धिसागर सूरि ने लिखा है कि आनन्दघन तपागच्छ में दीक्षित हुए थे और उनका उपनाम लाभानन्द था।[1]

श्रीअगरचन्द नाहटा दूसरा तर्क यह देते हैं कि आनन्दघन का मूल नाम लाभानन्द था और लाभानन्द में जो 'आनन्द' नामान्त पद है वह खतरगच्छीय चौरासी नन्दियों में पाया जाता है। उनका यह भी कथन है कि उन्नीसवीं सती में खतरगच्छ में लाभानन्द, नामक एक अन्य साधु हो चुके हैं। आशय यह कि खतरगच्छ के अतिरिक्त अन्य गच्छ में लाभानन्द नाम रखने की परम्परा नहीं रही है। इसी आधार पर उन्होंने आनन्दघन को खतरगच्छीय परम्परा का सिद्ध किया है। किन्तु उनका यह तर्क ऐतिहासिक दृष्टि से समुचित नहीं कहा जा सकता, क्योंकि 'आनन्द', नामान्त पद का प्रयोग तपागच्छ में भी हुआ है। जैसे, चिदानन्द, विजयानन्द आदि।

तीसरा तर्क वे यह देते हैं कि मेड़ता से उपाध्याय पुण्य कलश मुनि, जयरंग, चारित्रचंद आदि द्वारा एक पत्र सूरत में विराजित खतरगच्छ के पूज्य श्रीजिनचन्द्रसूरि को भेजा गया। उसमें आनन्दघन के सम्बन्ध में निम्नलिखित उल्लेख मिलता है : "पं० सुगनचन्द्र अष्टसहस्त्री लाभानन्द आगइ भणइ छई। अर्द्धरइ टाणइ भणी, धणु खुशी हुई भणावइ छइ"।[2]

यह पत्र नाहटाजी को आगम प्रभाकर मुनि पुण्य विजय जी के पास देखने को मिला था। मुनि पुण्यविजयजी के समस्त पत्रों का संग्रह अहमदाबाद के श्री लालभाई-दलपत भाई (ला० द० भा०) संस्कृति विद्यामंदिर में सुरक्षित हैं, लेकिन नाहटा द्वारा उल्लिखित कोई पत्र उसमें नहीं है।[3]

आनन्दघन तपागच्छ में दीक्षित हुए थे इस पक्ष में निम्नलिखित तर्क दिए जा सकते हैं :

आचार्य बुद्धिसागर सूरि के अभिमतानुसार आनन्दघन तपागच्छ में दीक्षित हुए थे और उनका नाम लाभानंद था।[4]

---

१. श्रीआनन्दघन पद-संग्रह, पृ० १२५।

२. आनन्दघन ग्रन्थावली, पृ० २२।

३. आनन्दघन एक अध्ययन, पृ० २६।

४. श्रीआनन्दघन पद-संग्रह, पृ० १२५।

आचार्य विजयानंद सूरि (आत्माराम जी महाराज) ने लिखा है कि "श्रीसत्यविजय गणि जी क्रिया का उद्धार करके आनन्दघन के साथ बहुत वर्ष लग वनवास में रहे और बड़ी तपस्या योगाभ्यासादि करा।"[१]

श्रीमोतीचन्द कापड़िया के अनुसार पं० सत्यविजयजी ने आनन्दघन के साथ कई वर्ष वनादि में विचरण किया। इसके अतिरिक्त उपाध्याय यशोविजय और आनन्दघन का समागम हुआ था एवं राजस्थान और गुजरात में तपागच्छ का असाधारण परिबल देखकर आनन्दघन को तपागच्छ का मानते हैं। उनका कहना है कि आनन्दघन को व्यावहारिक दृष्टि से तपागच्च में दीक्षित होना चाहिये।[२]

श्रीमनमुखलाल मेहता भी आनंदघन को तपागच्छ का सिद्ध करते हैं। इसके लिए वे भी 'जैन तत्त्वादर्श' ग्रन्थ का ही आधार लेते हैं। दूसरा तर्क वे यह देते हैं कि आनन्दघन ने द्रव्य-पूजा की विधि का सुविधि जिन-स्तवन में जो उल्लेख किया है उससे प्रतीत होता है कि उन्हें तपागच्छ में दीक्षित होना चाहिए।[३]

मेहता का प्रथम तर्क कुछ समुचित प्रतीत होता है, किंतु दूसरा तर्क युक्तिसंगत नहीं, क्योंकि आनन्दघन ने जिस द्रव्य-पूजा की विधि का अपने स्तवन में वर्णन किया है, वह मात्र तपागच्छ में ही नहीं, प्रत्येक श्वेताम्बर मूर्तिपूजक गच्छ में प्रचलित है। द्रव्य-पूजा की विधि में तपा-गच्छ और खरतरगच्छ में तो भेद है ही नहीं, क्योंकि आनन्दघन द्वारा उल्लिखित द्रव्यपूजा और भावपूजा की विधि तो दोनों गच्छों में प्रायः समान ही है।

अतः यह कहा जा सकता है कि मनसुखलाल मेहता का यह कथन समुचित नहीं है कि आनन्दघन ने द्रव्य-पूजा की जिस विधि का वर्णन किया है उसके आधार पर वे तपागच्छ में दीक्षित हुए होगें।

तपागच्छ के उपाध्याय यशोविजय आनन्दघन के समकालीन थे। अध्यात्म योगी आनंदघन के साथ उनका समागम हुआ था और उनसे

१. जैन तत्त्वादर्श (उत्तरार्द्ध, पृ० ५८१।
२. श्रीआनन्दघन जी ना पदो, भाग १, पृ० २३।
३. जैन काव्य दोहन, भाग १, पृ० १३।

अत्यधिक प्रभावित होकर उपाध्याय यशोविजय ने उनकी प्रशस्ति में अष्टपदी की रचना की। इस आधार को लेकर भी आनन्दघन को तपागच्छ का होना माना जा सकता है।

'श्री समेतशिखर तीर्थनां ढालियां' में, जिसकी रचना लगभग सं०१९६० में हुई है, यह स्पष्ट उल्लेख है कि आनन्दघन पंन्यास श्री सत्यविजयजी के लघुभ्राता थे और वे भी क्रियोद्धारक थे। पंन्यास सत्यविजयजी तपागच्छ के थे। अतः सम्भव है कि आनन्दघन भी तपागच्छ में दीक्षित हुए हों।[1]

देहोत्सर्ग

आनंदघन के जन्म-स्थान एवं जन्म-तिथि के समान ही इनके देहोत्सर्ग के विषय में भी मतभेद है। इनके स्वर्गवास सम्वत् का कोई निश्चित प्रमाण नहीं मिलता। इसके लिए भी अनुमानों का आश्रय लेना पड़ता है।

आनंदघन के समय में अनेक जैन मुनि मेड़ता और उसके आसपास के क्षेत्रों में विचरण करते थे। आनंदघन की जीवन सम्बन्धी अनुश्रुतियों में भी मेड़ता शहर का विशेषतः उल्लेख किया गया है। इन अनुश्रुतियों के आधार पर आचार्य बुद्धिसागर सूरि का कथन है कि आनंदघन का निधन मेड़ता में हुआ, क्योंकि वहाँ इनके नाम का समाधि-स्थल आज भी विद्यमान है।

सम्भवतः यह उनके स्वर्ग गमन के अनन्तर उनके भक्त श्रावकों द्वारा बनवाया गया होगा।[2] इसी तरह श्रीमोतीचन्द कापड़िया भी मेड़ता में आनंदघन के समाधि-स्थल और उनके जीवन सम्बन्धी प्रचलित किंवदन्तियों के आधार पर यह मानते हैं कि आनंदघन का निधन मेड़ता में हुआ।[3]

कहा जाता है कि मेड़ता में आज भी एक उपाश्रय है, जो 'आनंदघन का उपाश्रय' के नाम से विख्यात है।

आनंदघन के स्वर्गवास के सम्बन्ध में श्रीप्रभुदास बेचरदास पारेख ने आनंदघन चौबीसी' में लिखा है कि एक बार रेल में यात्रा करते हुए

१. श्रीसमेत शिखर तीर्थनां ढालियां, पृ० १४७-१६६।
२. श्रीआनन्दघन पद-संग्रह, पृ० २०१।
३. श्रीआनन्दघन जी नां पदो, भाग १, पृ० ३६।

संयोग से उनकी प्रणामी सम्प्रदाय के एक साधु से मुलाकात हो गई। तब बातचीत के दौरान उन्होंने बताया कि हमारे मत के संस्थापक प्राणलाल जी महाराज के जीवन चरित्र में यह उल्लेख मिलता है कि वे १७३१ में मेड़ता गए तब वहाँ आनन्दघन जी उपनामधारी जैन मुनि लाभानंद जी से उनका समागम हुआ और उसी वर्ष निधन हो गया।[1]

श्रीअगरचंद नाहटा भी प्राणनाथ सम्प्रदाय के 'निजानन्दचरित्र' के आधार पर यह अनुमान लगाते हैं कि उनका स्वर्गवास सम्वत् १७३१ में हुआ।[2] नाहटाजी की भाँति महताबचंद खारैड भी 'निजानंद चरित्र' को आधार मानकर यह सम्भावना व्यक्त करते हैं कि मेड़ता में आनंदघन का स० १७३१ में देहोत्सर्ग हुआ। इसकी पुष्टि के लिए उन्होंने 'आनंदघन ग्रन्थावली' में 'निजानन्द चरितामृत' का एक उद्धरण भी प्रस्तुत किया है।[3]

आनन्दघन के देहोत्सर्ग के लिए यह प्रमाण अब तक निर्विवाद रूप से स्वीकार किया जाता रहा, किन्तु इस प्रमाण का मूलाधार देखने पर ज्ञात होता है कि यति सन्यासी लाभानंद-आनंदघन ही थे, ऐसा उल्लेख इसमें कहीं पर भी नहीं मिलता। 'निजानंद चरितामृत' में लाभानंद नामक सन्यासी-यति के सम्बन्ध में मात्र इतना ही संकेत मिलता है :

"इधर श्रीजी जब पालनपुर से आगे बढ़े तो मार्ग में उपदेश करते हुए मारवाड़ के 'मेरता' शहर में पहुंचे। यहाँ पर एक लाभानंद नाम का यति संन्यासी रहता था। उसके साथ ज्ञान-चर्चा होने लगी। वह योग-विद्या और चमत्कारिक प्रयोगों में बहुत प्रवीण था। उसके साथ लगभग दस दिवस तक ब्रह्मज्ञान होता रहा। अंत में जब पराजित हो गया तो श्रीजी के ऊपर बहुत क्रोध किया। तन्त्र-मन्त्रों के प्रभावों से पहाड़-पत्थर उठाकर श्रीजी को दबाकर मार डालने का उपाय करने लगा। बहुत कुछ तन्त्र-मन्त्र किए, परन्तु श्रीजी के ऊपर उसका एक भी जोर न चला।"[1]

---

१. श्रीआनन्दनघन-चौबीसी, सम्पा० प्रभुदास बेचरदास पारेख, प्रथम संस्करण, पृ० १९।

२. आनन्दघन ग्रन्थावली, प्रासंगिक वक्तव्य, पृ० ३१।

३. वही, पृ० ७७।

१. निजानन्द चरितामृत, पं० कृष्णदत्त शास्त्री, पृ० ५१८-१९।

तदनंतर दूसरी बार जब प्राणलालजी म० मेड़ता आए तब लाभानन्द का स्वर्गवास हो चुका था। आनन्दघन जैसे आध्यात्मिक सन्त का व्यर्थ की ज्ञान चर्चा में उलझना और पराजित होने पर कुपित होकर तन्त्र-मन्त्र से विरोधी को मार डालने का प्रयास करना आदि बातें उनके चरित्र के साथ मेल नहीं खाती हैं। सम्भवतः अपने प्रवर्तक की महिमा को अतिरंजित रूप में प्रस्तुत करने की दृष्टि से ही उक्त कथन किया गया है। आनन्दघन ग्रन्थावली में यद्यपि श्रीअगरचंद नाहटा और महताबचंद दोनों 'निजानंद चरितामृत' को निश्चित प्रमाण मानकर चले हैं किंतु यह यथार्थ नहीं कहा जा सकता।

'निजानंद चरितामृत' में जिस तरह प्राणलाल जी महाराज का जीवन चरित्र उल्लिखित है, उसी तरह स्वामी लालदासजी ने भी 'वीतक' में प्राणलालजी महाराज की धर्मयात्रा का वर्णन किया है और उसमें लाभानन्द नामक यति से चर्चा होने का निर्देश है।[1] किन्तु उसमें भी आनन्दघन या लाभानन्द के स्वर्गवास का कोई संकेत नहीं मिलता। अतः उक्त कथनों के आधार पर यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि आनन्दघन का स्वर्गवास वि० सं० १७३१ में मेड़ता में ही हुआ। इस सम्बन्ध में जब तक कोई ठोस प्रमाण उपलब्ध न हो, अन्तिमरूप से कुछ भी कहना कठिन है।

कृतित्व

मध्यकालीन हिन्दी-साहित्य के विकास में आध्यात्मिक सन्त आनन्दघन का योगदान बहुत महत्त्वपूर्ण है। इनकी रचनायें आध्यात्मिक हिन्दी-साहित्य की अनुपम कृतियाँ हैं। अपने युग के अनुरूप आनन्दघन ने भी तत्कालीन हिन्दी भाषा में आध्यात्मिक पदों का सृजन किया। उनका मुख्य उद्देश्य अपनी आध्यात्मिक रहस्यानुभूतियों को जन-साधारण तक पहुँचाना था। आज इनकी कृतियाँ आध्यात्मिक-जगत् में आदरपूर्वक पढ़ी जाती हैं। यद्यपि इनकी काव्य-कृतियाँ संख्या की दृष्टि से अत्यल्प हैं, फिर भी इन्होंने अपने पदों और स्तुतियों में गागर में सागर भर दिया है।

---

१. वीतक—स्वामी लालदास जी, प्रकरण ३३, ४२-४७ वीं पंक्ति।

इसकी प्रामाणिक जानकारी सर्वप्रथम ज्ञानविमल सूरि विरचित 'आनन्दघन बाइसी' के 'बालावबोध' से होती है। ज्ञानविमल सूरि ने आनन्दघन के २२ स्तवनों पर वि० सं० १७६९ में 'बालावबोध' लिखने के पश्चात् स्पष्टतः लिखा है—"लाभानन्दजी कृत तवन एतला २२ दीसइ छइ, यद्यपि हृस्ये तोहइ आपणे हस्ते न थी आव्या।"[1] इसके अतिरिक्त आनन्दघन के समकालीन उपाध्याय यशोविजयजी ने भी इनके २२ स्तवनों पर ही बालावबोध की रचना की। इस प्रकार, उपाध्याय यशोविजय, ज्ञानविमलसूरि तथा मुनि ज्ञानसार आदि सन्तों को आनन्दघन के २२ ही स्तवन प्राप्त हुए। इससे यह सिद्ध होता है कि आनन्दघन रचित स्तवन बाईस ही हैं, न कि चौबीस।

पदों की संख्या

आनन्द के पद 'आनन्दघन बहोत्तरी' के रूप में प्रसिद्ध हैं। 'आनन्दघन बहोत्तरी' के नाम से ऐसा प्रतीत होता है कि आनन्दघन ने ७२ पदों की रचना की होगी, किन्तु विभिन्न हस्त-प्रतियों में पदों की संख्या भिन्न-भिन्न हैं। पदों में कोई क्रम भी दृष्टिगत नहीं होता। अब तक विविध हिन्दी गुजराती पद संग्रहों में 'आनन्दघन' की छाप वाले जो पद मिलते हैं, उनकी संख्या लगभग १०८ से भी अधिक पहुँच गई है किन्तु अभी तक यह अन्वेषण करना शेष है कि इनमें से आनन्दघनकृत प्रामाणिक पद कितने और कौन-कौन से हैं ? यद्यपि भाषा, भाव, शैली आदि के आधार पर कुछ पदों के सम्बन्ध में विद्वानों की यह अवधारणा बनी है कि कुछ पद आनन्दघन के नहीं हैं। किन्तु जब तक विभिन्न ज्ञान-भण्डारों में प्राचीन हस्त-प्रतियों की खोज न की जाए तब तक इस समस्या का पूरा निराकरण नहीं होता।

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध का मुख्य प्रयोजन है—आनन्दघनकी उपलब्ध काव्य-कृतियों में निहित रहस्यवादी-प्रवृत्तियों की खोज करना। अतः स्तवनों या पदों की संख्या एवं उनकी प्रामाणिकता का प्रश्न हमारी विषय सीमा में नहीं आता। अतः यहाँ उपर्युक्त निर्देश ही पर्याप्त है।

भाषा

भाषा की दृष्टि से आनन्दघन की काव्य कृतियों में कहीं पर हिन्दी का प्रयोग हुआ है तो कहीं पर राजस्थानी और पुरानी गुजराती का।

१—वही, पृ० १५।

ब्रज, उर्दू और पंजाबी भाषा के शब्दों का प्रयोग भी इनकी कृतियों में दृष्टिगत होता है। संक्षेप में, इतना ही कह सकते हैं कि जहाँ 'आनन्दघन बहोत्तरी' की भाषा हिन्दी है वहीं 'आनन्दघन चौबीसी' पर गुजराती भाषा का प्रभाव परिलक्षित होता है।

काव्य-कृतियों का सामान्य परिचय

(१) आनन्दघन चौबीसी

यह स्तुति साहित्य की एक उत्कृष्ट निधि है। 'आनन्दघन चौबीसी' में चौबीस तीर्थंकरों की स्तुति की गई है। ये स्तवन गीत हैं जो सगुण भक्ति के परिचायक हैं। इस कृति में ज्ञान की गहनता, भक्ति की महत्ता तथा अध्यात्म की गूढ़ता है। योग और अध्यात्म की रहस्यानुभूतियाँ इसमें अभिव्यंजित हुई हैं। इस कृति का प्रारम्भ ज्ञान, भक्ति और योग की अनुपम त्रिवेणी से होता है। ये स्तवन-गीत साधक को अकस्मात् साधना की गहराई में नहीं ले जाते, अपितु क्रमशः उसके उत्तरोत्तर उन्नत सोपान का दिग्दर्शन कराते हैं। वास्तव में, भक्ति का सर्वोच्च स्तर इस रचना में हमें देखने को मिलता है। इसमें स्थान-स्थान पर आनन्दघन की आध्यात्मिकता एवं दार्शनिकता का अगाध परिचय प्राप्त होता है। इसकी भाषा का प्रवाह स्वाभाविक और प्रांजल है जिससे यह विदित होता है कि कवि ने कहीं भी खींचतान नहीं की है। यह उनकी नैसर्गिक प्रतिभा का परिणाम है। आनन्दघन की यह श्रेष्ठ आध्यात्मिक रचना जैन समाज में सर्वाधिक लोकप्रिय है। इसमें वर्णित विषय-वस्तु को अति संक्षेप में निम्न रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है—

(१) **ऋषभजिन-स्तवन**—इसमें सोपाधिक और निरुपाधिक प्रीति का भेद बताकर सच्ची परमात्म-प्रीति के लिए निष्कपट भाव से आत्म-समर्पण करने को कहा गया है। इसमें 'प्रीति-योग-अनुष्ठान' की मुख्यता वर्णित है।

(२) **अजित जिन स्तवन**—इसमें परमात्म-पथ-दर्शन की तीव्र उत्कण्ठा प्रदर्शित है। साथ ही परमात्म-पथ में आने वाली अनेक कठिनाइयों का निर्देश है।

(३) **सम्भव जिन स्तवन**—इसमें परमात्मा की अगम्य, अनुपम सेवा के रहस्य को उद्घाटित करते हुए प्राथमिक भूमिका के रूप में 'अभय', 'अद्वेष' और 'अखेद' की साधना पर प्रकाश डाला गया है।

(४) **अभिनन्दन जिन स्तवन**—परमात्मा की सेवा के लिए तत्पर साधक में परमात्म-दर्शन की तीव्र आतुरता जागृत होती है। अतः इसमें परमात्म-दर्शन की पिपासा की महत्ता और उसकी दुर्लभता के विभिन्न कारणों का वर्णन है।

(५) **सुमति जिन स्तवन**—इसमें बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा के स्वरूप का वर्णन कर परमात्मा के चरणों में आत्म-समर्पण करने का वास्तविक उपाय निर्दिष्ट है।

(६) **पद्मप्रभ जिन स्तवन** :—इसमें आत्मा और परमात्मा के बीच दूरी का कारण कर्म बताकर, कर्म-सिद्धान्त, युंजनकरण, गुणकरण आदि का विवेचन है।

(७) **सुपार्श्व जिन स्तवन** :—इसमें एक ही परमात्मा के गुण-निष्पन्न अनेक नामों का निर्देश है।

(८) **चन्द्रप्रभ जिन स्तवन** :—इसमें परमात्मा के मुखचन्द्र को देखने की तीव्र अभीप्सा तथा विविध योनियों में भटकने का इतिहास बताकर, अन्त में योग की अवंचक-साधना पर प्रकाश डाला गया है।

(९) **सुविधि जिन स्तवन** :—इसमें परमात्मा की द्रव्य-पूजा की वास्तविक विधि, उसके विविध भेद तथा भाव-पूजा एवं प्रतिपत्ति पूजन का महत्त्व बताया गया है।

(१०) **शीतल जिन स्तवन** :—इसमें परस्पर विरोधी गुणों से युक्त परमात्मा के त्रिभंगी-स्वरूप का सम्यक् विश्लेषण है।

(११) **श्रेयांस जिन स्तवन** :—इसमें अध्यात्म का लक्षण एवं उनके चार प्रकारों को बताकर भाव-अध्यात्म को ग्रहण करने पर बल दिया गया है।

(१२) **वासुपूज्य जिन स्तवन** :—इसमें आत्मा की ज्ञान चेतना, कर्म चेतना तथा कर्मफल चेतना के स्वरूप का निदर्शन है।

(१३) **विमल जिन स्तवन** :—अध्यात्म मार्ग के गूढ़ रहस्यों को एक के बाद एक प्रकट करने वाले आनन्दघन यहां प्रभु-भक्ति में रंग जाते हैं। शुष्क दार्शनिक चर्चा के बदले परमात्मा की अपूर्व भक्ति का चित्रण करते हुए उनका हृदय उमंग और उत्साह से भर जाता है। वे बताते हैं कि जब परमात्मा के साथ एकता स्थापित होती है तो अनुपम आनन्द प्राप्त

होता है। समस्त दुःख और दुर्भाग्य दूर हो जाते हैं तथा आत्मिक-सुख-सम्पदा की प्राप्ति होती है।

(१४) **अनन्त जिन स्तवन** :—इसमें परमात्मा की चरण सेवा को तलवार की धार पर चलने से भी अधिक कठिन बताया गया है। साथ ही, यह भी कहा है कि जड़ क्रियावादी वास्तविक समझ के अभाव में चतुर्गति रूप संसार में परिभ्रमण करते रहते हैं। कितने ही लोग गच्छ (सम्प्रदाय) के भेद-प्रभेदों में इतना ममत्व रखते हैं कि तत्त्व को ही विस्मृत कर बैठते हैं। परमात्मा की यथार्थ सेवा के लिए साधक में सम्यग्दर्शन, देव, गुरू और धर्म के प्रति श्रद्धा, शास्त्र-नियमों के अनुसार आचरण जरूरी है। अन्यथा साधक के द्वारा की गई समूची क्रिया छार पर लीपने जैसी व्यर्थ है।

(१५) **धर्म जिन स्तवन** :—इसमें परमात्मा के साथ अटूट अभिन्न प्रीति रूप का विश्लेषण है। इसमें भक्ति की अजस्र धारा प्रवाहित हुई है।

(१६) **शान्तिजिन स्तवन** :—इसमें परमात्मा से शान्ति के सम्बन्ध में समाधान प्राप्त कर उसके स्वरूप का मनोरम ढंग से अति संक्षेप में वर्णन है।

(१७) **कुन्थु जिन स्तवन** :—इस स्तवन में 'जिसने मन को साध लिया, उसने सबको साध लिया' (मन साध्युं तेणे सघलुं साध्युं)' इस उक्ति का प्रयोग कर आनन्दघन ने मनोविजय के लिए परमात्मा से प्रार्थना करते हुए मन की चंचलता का हूबहू चित्रण किया है।

(१८) **अरजिन स्तवन** :—इसमें धर्म की यथार्थ पहचान बताकर, द्रव्य और पर्याय एवं निश्चय और व्यवहार नय के समन्वय द्वारा आत्म-तत्त्व का विश्लेषण है।

(१९) **मल्लि जिन स्तवन** :—इसमें अठारह दोषों के नामों का निर्देश करते हुए परमात्मा को उनसे बताया गया है।

(२०) **मुनि सुव्रत जिन स्तवन** :—इसमें आत्मतत्त्व के साक्षात्कार की प्रबल जिज्ञासा व्यक्त की गई है तथा विभिन्न आत्मवादियों के एकान्तिक मत का खण्डन किया गया है।

(२१) **नमिजिन स्तवन** :—इसमें जैनदर्शन की उदारता का मनोरम परिचय देते हुये यह बताया है कि जैनदर्शन में विविध दर्शनों का समन्वय कैसे होता है ? तथा विभिन्न दर्शनों को वीतराग पुरुष के विभिन्न अंगों के रूप में चित्रित किया है।

(२२) **नेमिजिन स्तवन** :—उपर्युक्त इक्कीस स्तवनों में दर्शन एवं अध्यात्म का विवेचन हुआ है, किन्तु प्रस्तुत स्तवन में नेमिराजुल के हृदय-वेधक विरह का प्रसंग है। राजुल के सांसारिक उपालम्भ का उल्लेख करके अन्त में उसका हृदय परिवर्तन बताकर नेमिजिन के पथ पर चलने वाली राजुल का सुन्दर चित्रण है। वस्तुतः इसमें राजुल की प्रीति के भिन्न-भिन्न रूप चित्रित कर अन्त में ध्येय के साथ ध्याता और ध्यान की एकता प्रतिपादित है।

संक्षेप में, कहा जा सकता है कि आनन्दघन की इस काव्य-कृति में आध्यात्मिक-विकास की दृष्टि से शुरू से लेकर अन्त तक क्रमबद्धता है जो कि पदों में नहीं पाई जाती है। जिस रूप में इन्होंने इसमें भक्ति, योग एवं अध्यात्म की त्रिवेणी बहायी है, वह हिन्दी-काव्य-जगत् में अनुपम है।

(२) आनन्दघन बहोत्तरी

आनन्दघन की दूसरी महत्त्वपूर्ण रचना 'आनन्दघन बहोत्तरी' है। इसमें इन्होंने कबीर, मीरा, सूर, तुलसी आदि कवियों की भांति मुक्तक पदों की रचना की है। अतः इनकी यह रचना प्रगीति काव्य की श्रेणी में भी आ सकती है, क्योंकि इनके पदों में गेयात्मकता भाव की एकता तथा संक्षिप्तता के साथ आत्म-निवेदन का स्वरूप भी लक्षित होता है। ऐसा प्रतीत होता है कि आनन्दघन एक ओर सिद्धान्त और दर्शन के परगामी विद्वान् थे तो दूसरी ओर सहृदय साधक भी। 'आनन्दघन बहोत्तरी' इनकी सहृदयता की ही प्रतीक कही जा सकती है। इसमें विरह-वेदना की सर्वाधिक मार्मिक अनुभूतियाँ चित्रित हुई हैं।

आनन्दघन के समूचे पद गेय हैं और विविध रागरागिनी के अन्तर्गत् रचे गये हैं। अतः उनमें सरसता, संगीतात्मकता एवं भावप्रवणता इतनी अधिक है कि कोई भी उन्हें पढ़कर आत्मविभोर हुए बिना नहीं रह सकता।

इस कृति की मुख्य विशेषता यह है कि आनन्दघन ने अधिकांश पदों में विविध भावों का मानवीयकरण किया है। इसमें समता, ममता, चेतन, अनुभव, विवेक, श्रद्धा आदि अमूर्त तत्त्व ही अभिनय करने वाले मानव पात्रों के रूप में चित्रित हैं, वास्तव में मुक्तक जैसे पदों के मनोभावों का नाटकीय ढंग से चित्रण करने में आनन्दघन ने अपनी कवित्वशक्ति का परिचय दिया है।

पदों का विषय-वर्गीकरण

'आनन्दघन बहोत्तरी' एक मुक्तक पदों वाली आध्यात्मिक रचना है। अतः सामान्यतः इसकी विषयवस्तु विभक्त नहीं की जा सकती और न ही ऐसा करना सम्भव है, क्योंकि इसमें अनेक विषयों का भिन्न-भिन्न पदों में वर्णन हुआ है। फिर भी, स्थूल रूप से आनन्दघन के पदों का विषय-वर्गीकरण इस प्रकार किया जा सकता है :—

१. भक्तिपरक पद,
२. श्रृंगार एवं विरह-मिलन सम्बन्धी पद,
३. आध्यात्मिक पद,
४. दार्शनिक पद,
५. योग-साधनात्मक पद,
६. उपदेशात्मक पद।

भक्तिपरक पद

'आनन्दघन चौबीसी' में २२ तीर्थंकरों की स्तुति है जो सहज भक्ति रूप है। किन्तु पदों में प्रेमलक्षणा भक्ति की मुख्यता है। आनन्दघन की इस भक्ति में प्रेम की मस्ती एवं विरह की विदग्धता है। इन्होंने भक्ति-विभोर होकर अपने आत्मप्रिय को मीता, साजन, ढोला, लालन, निरंजन, पीव, प्रियतम आदि नामों से अभिहित किया है तथा दाम्पत्य प्रतीकों एवं रूपकों के सहारे प्रेमलक्षणा भक्ति को व्यक्त किया है। प्रेमलक्षणा भक्ति का एक उदाहरण निम्नांकित पद में द्रष्टव्य है :—

प्रीति की रीति नई हो प्रीतम, प्रीति की रीति नई।
मैं तो अपनो सरबस वार्‌यो, प्यारे की न लई।।[1]

---

१. आनन्दघन ग्रन्थावली, पद ४८।

इतना ही नहीं, 'मनसा नटनागर सुं जोरि' पद में प्रेमलक्षणा-भक्ति की पराकाष्ठा के भी दर्शन होते हैं।[१] प्रेमलक्षणा-भक्ति के अतिरिक्त भक्ति के अन्य रूप भी आनन्दघन में पाये जाते हैं। 'सुहागिन जागी अनुभौ प्रीति'[२] पद में पराभक्ति की पूर्णता का वर्णन किया गया है। भक्ति संबंधी अन्य पद भी आनन्दघन में देखे जा सकते हैं। वे इस प्रकार हैं—

जिन चरणे चित ल्याउं रे मना।[३]

इसी तरह 'मनुप्यारा मनुप्यारा, ऋषभदेव मनुप्यारा'[४] तथा 'प्रभु तो सभ अबरन कोई खलक में'[५] आदि-आदि।

भक्ति के आधार पर तन्मयता, भावुकता एवं संगीतात्मकता का जो अपूर्व समन्वय इन पदों में दृष्टिगत होता है, वह अद्भुत है।

शृङ्गार एवं विरह-मिलन सम्बन्धी पद

आनन्दघन के शृंगार एवं विरह-मिलन के पद उनकी कविता को नैसर्गिक रूप प्रदान करते हैं। विरहात्मक पदों में आनन्दघन की आत्मा की तड़पन भरी हुई है। उनकी भक्ति की प्रगाढ़ता विरह-मिलन के पदों में प्राप्त होती है। विरह गीत आनन्दघन के अधिकांश पदों में चर्चित है। विरहावस्था के पदों का असर सीधे पाठक के हृदय पर पड़ता है और उसकी गेयता व्यक्ति को मुग्ध कर देती है। विरह-वेदना के पद अत्यन्त अनुभूतिपूर्ण एवं मार्मिक हैं। यथा—

—"पिया बिन सुधि बुधि भूली हो"।[६]
—"पिया बिन निसदिन झूरुं खरीरी"।[७]
—"पिया बिन कोण मिटावे रे, बिरह व्यथा असराल।"[८]

---

१. आनन्दघन ग्रन्थावली, पद ४९।
२ वही, पद ५४।
३. वही, पद ८१।
४. वही, पद ९३।
५. वही, पद ८९।
६. वही, पद २६।
७. वही, पद १६।
८. वही, पद २७।

'पिया बिन सुधि बुधि मूंदीहो,
बिरह भुयंग निसा समै, मेरी से जड़ी खूंदीहो।"[१]
आदि।

विरह की भांति मिलन के भी कुछ पद मिलते हैं। इस सम्बन्ध मे एकाध पद देना ही पर्याप्त होगा—

"हैजे मिलिया चेतन चेतना, वरत्यो परम सुरंग।[२]

इसी तरह 'आज सुहागिन नारी अवधू',[३] पद में समता-प्रिया के आध्यात्मिक साधनारूपी शृंगार का सुन्दर वर्णन है। इसमें 'सिन्दूर', 'मेंहदी' 'अञ्जन', 'चूड़ियाँ' आदि शब्दों का प्रयोग हुआ है, जो भारतीय संस्कृति के आदर्श से परिपूर्ण नारी के वर्णन में चारचांद लगा देते हैं। यह आनन्दघन के शब्दों का ही सौष्ठव है जो इतना सुन्दर भाव निखर पड़ा है।

आध्यात्मिक पद

आनन्दघन के अधिकांश पद किसी-न-किसी रूप में अध्यात्म-विषय से ओतप्रोत हैं। ऐसे पदों में इन्होंने अपनी आध्यात्मिक अनुभूतियों को उड़ेलने का सर्वाधिक प्रयास किया है। आत्मा के निषेधात्मक स्वरूप की विवेचना करते हुये वे कहते हैं कि आत्मा न स्त्री है न पुरुष। वह न लाल है, न पीला और न उसकी कोई जाति है। वह न साधु है और न साधक है। वह न छोटा है और न बड़ा है :—

ना हम पुरुष ना हम नारी, वरनन भांति हमारी।
जाति न पांति न साधु न साधक, ना हम लघु नहीं भारी ॥[४]

उनके अनुसार आत्मा रूप, रस, गंध-स्पर्श से रहित है तथा ज्ञान-दर्शनम चिदानन्द स्वरूप है :—

ना हम दरसन ना हम फरसन, रस न गंध कछु नाहीं।
आनन्दघन चेतन मय मूरति, सेवक जन बलि जाहीं ॥[५]

---

१. आनन्दघन ग्रन्थावली, पद ३२।
२. वही, पद ४१।
३. वही, पद ८६।
४. वही, पद ११।
५. वही, पद ११।

उन्होंने आत्मा को देखने की भी घोषणा कर दी है। जब उनका आनन्दघन रूप आत्मा से परिचय हो जाता है तब उनके हृदय से बाह्यरूप मोह-माया का आवरण दूर हो जाता है :—

साधो भाई अपना रूप जब देखा।
आनन्दघन प्रभु परचो पायो, उतर गयो दिल भेखा ॥[१]

इसी तरह 'निसीनी कहां बताबुरं, बचन अगोचर रूप'[२] पद में आत्मा के अनिर्वचनीय रूप की सुन्दर मीमांसा दृष्टिगत होती है। आत्मरूप से सम्बन्धित पदों के अतिरिक्त आनन्दघन ने आत्मानुभव सम्बन्धी साखियों की भी रचना की है। इस सम्बन्ध में उनकी कतिपय साखियों की प्रारम्भिक पंक्तियाँ उद्धृत की जा सकती हैं :—

१– "आतम अनुभव फूल का, नवली कोउ रीत।
नाक न पकरै बासना, कान गहै परतीति ॥[३]

२– "आतम अनुभव रस कथा, प्याला पिया न जाइ।
मतवाला तो ढहि परै, निमता परै पचाइ ॥"[४]

३– "आतम अनुभौ रसकथा, प्याला अजब बिचार।
अमली चाखत ही मरै, घूमै सब संसार ॥"[५]

४– "आतम अनुभव प्रेम को, अजब सुण्यो विरतंत।
निरवेदन वेदन करै, वेदन करे अनन्त ॥"[६]

उक्त साखियों में आनन्दघन ने अध्यात्मवाद का अनूठा चित्र उतारा है।

दार्शनिक पद

आनन्दघन ने कुछ दार्शनिक पदों की भी रचना की है। यद्यपि आनन्दघन ने दार्शनिक विवादों में न उलझ कर प्रधानतया तर्कातीत आत्मानुभूति को ही महत्त्व दिया है, तथापि कुछ पदों में जैन तत्त्वज्ञान के मुख्य

१. आनन्दघन ग्रन्थावली, पद ७।
२. वही, पद ६१।
३. वही, पद २८।
४. वही, पद ३५।
५. वही, पद ५३।
६. वही, पद ७५।

सिद्धान्त-आत्मा-परमात्मा, द्रव्य, गुण-पर्याय, उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य, नयवाद, अनेकान्तवाद, सप्तभंगीवाद आदि सिद्धान्तों की दार्शनिक विचारणा है। दार्शनिकता से सम्बन्धित आनन्दघन का 'अवधू नटनागर की बाजी'[1] पद ही इतना सचोट एवं गाम्भीर्यपूर्ण है कि उसमें उन्होंने जैन-दर्शन के समग्र तत्त्वज्ञान को गागर में सागर की भांति भर दिया है। इसमें द्रव्य, गुण और पर्याय (त्रिपदी रहस्य), अनेकान्तवाद, नयवाद, प्रमाण, सप्तभंगी इत्यादि का वर्णन है। इसी तरह, अन्य पदों में भी निश्चय-व्यवहार नय-द्वय के द्वारा आत्मतत्त्व की विवेचना लक्षित होती है। 'अनन्त अरूपी अविगत सास तो हो'[2] पद में आनन्दघन ने सिद्धात्मा के स्वरूप का वर्णन करते हुए उसे अनन्त, अरूपी, अविनाशी, शाश्वत, अविकार आदि बताया है। इस प्रकार, अनेक पदों में ब्रह्म-परमात्मा को अखण्ड, निष्कर्म, निरंजन, परमतत्त्व एवं नित्य प्रतिपादित किया गया है तथा उसे अपने घट में ही खोजने और उससे एकता स्थापित करने की बात कही गई है।

योग-साधनापरक पद

न केवल आनन्दघन में अध्यात्म, दर्शन, भक्ति एवं विरह-मिलन के चित्र हैं, प्रत्युत अध्यात्म की गहन अनुभूतियों के अनुभव-रस से परिपूर्ण प्रेम-प्याले का पान करनेवाले आनन्दघन जैसे मस्त साधक की आत्मा योग से कितनी रंग गयी है कि देखते ही बन पड़ता है। उनके योग-साधना सम्बन्धी पदों में इड़ा, पिंगला, सुषुम्ना, ब्रह्मरन्ध्र, अनहदनाद, अष्टांग-योग, रेचक, पूरक और कुंभक आदि पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग हुआ है।[3] इसके अतिरिक्त 'आशा औरन की क्या कीजै',[4] तथा 'जग आशा जंजीर की गति उलटी कुल मौर,[5] आदि पदों में भी यौगिक-साधना का निदर्शन मिलता है।

---

१. आनन्दघन ग्रन्थावली, पद ५९।
२. वही, पद १३।
३. वही, पद ७५।
४. वही, पद ५८।
५. वही, पद ५७।

उपदेशात्मक पद

आनन्दघन के पदों में लोकमंगल की भावना के भी दर्शन होते हैं। वे जैन परम्परा के श्रेष्ठ सन्त थे। उनकी रचनाओं में मानव के आत्म-कल्याण का सन्देश निहित है। इस सम्बन्ध में उन्होंने उदारता, सत्संग, पुद्गल की नश्वरता, दान, लघुता एवं अहंता-त्याग, वैराग्य, नामस्मरण आदि उपदेशात्मक बोधप्रद पदों की रचना की है। उनका सुप्रसिद्ध 'राम कहौ रहिमान कहौ'[१] पद तत्कालीन युग में राम-रहीम, कृष्ण-महादेव तथा पार्श्वनाथ और ब्रह्म में एकता स्थापित करने एवं हिन्दू और मुसलमानों के पारस्परिक मतभेदों को मिटाने का सर्वोत्कृष्ट उदाहरण प्रस्तुत करता है। 'क्या सोवै उठि जाग बाउरे'[२] पद में आयु की नश्वरता पर जीवमात्र को आनन्दघन का उपदेश है—हे मूढ़ मानव ! अब मोह निद्रा से जागृत हो। आयु अंजलि के जल की भांति दिन-प्रतिदिन क्षीण होती जा रही है। इसी तरह 'या पुद्गल का क्या विसवासा' पद में[३] पुद्गल की नश्वरता का उपदेश है। 'बहेर-बहेर नहीं आवे रे अवसर'[४] एवं 'जीउ जाने मेरी सफल घरी'[५] वैराग्योत्पादक पद कहे जा सकते हैं। इसी तरह 'हमारी लौ लागी प्रभु नाम'[६] पद में नाम-स्मरण की महत्ता का दिग्दर्शन होता है। 'अवधू क्या मांगु गुन हीना'[७] पद में आनन्दघन ने अपनी आत्मा को सम्बोधित करते हुए लघुता व्यक्त की है और 'साधु संगति बिनु कैसे पइयै परम महारस धाम री'[८] पद में उनके अनुसार सत्संग के बिना आत्मा-नुभवरूपी महान् रसामृत को नहीं प्राप्त किया जा सकता।

इस प्रकार, आनन्दघन के पदों में भक्ति, योग, अध्यात्म, दर्शन, ज्ञान, वैराग्य, स्वानुभूति, आत्मानुभव-रस, उदारता, सत्संग-माहात्म्य, शृङ्गार, विरह-मिलन आदि समस्त विषयों का समावेश हुआ है।

---

१. आनन्दघन ग्रन्थावली, पद ६५।
२. वही, पद १।
३. वही, पद १०७।
४. वही, पद ४८।
५. वही, पद ३।
६. वही, पद ७७।
७. वही, पद १०।
८. वही, पद ६२।

संक्षेप में, "आनन्दघन के पद अनुभूति एवं अभिव्यक्ति दोनों ही दृष्टियों से उच्चकोटि के हैं। ये पद यदि एक ओर जैन-दर्शन की वैराग्य वैजयन्ती हैं, तो दूसरी ओर भारतीय गेय पद साहित्य की अनुपम उपलब्धि हैं।"[1]

"आनन्दघन का काव्य संख्या में सीमित होने पर भी अगाध एवं अथाह है। कवि की वाणी बड़े ऊँचे घाट की है। आत्म-साक्षात्कार के पश्चात् ही किसी कवि की वाणी में ऐसी सामर्थ्य सम्भव है। कवि का भाषा एवं छन्द-योजना पर भी पूरा अधिकार था। संगीत के वे बड़े कुशल ज्ञाता थे। यही कारण है कि इनकी कविता के अनुभूति तथा अभिव्यक्ति दोनों पक्ष प्रबल हैं।[2]

आनन्दघन की समग्र काव्य-कृतियों का अनुशीलन करने के उपरान्त हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि उनकी कृतियों में विविध विषयों के उपलब्ध होने पर भी उनका प्रतिपाद्य विषय अध्यात्मतत्त्व का विवेचन ही है। उनके सम्बन्ध में यह कहना कदाचित् अतिशयोक्तिपूर्ण नहीं होगा कि आनन्दघन की समस्त कृतियाँ एक प्रकार से अध्यात्म का खजाना हैं। उनका प्रत्येक पद भक्ति, योग एवं अध्यात्म-रस से ओतप्रोत है। उन्होंने इस अध्यात्मप्रधान कृतियों का सृजन बड़ी विद्वत्ता, मौलिकता एवं स्वानुभव के साथ किया है। किन्तु खेद है कि उनके काव्य का सम्यक् मूल्यांकन नहीं हो सका है। प्रौढ़ अध्ययन के क्षेत्र में अभी तो केवल उनका नामोल्लेख भर हुआ है। समालोचकों, विद्वानों एवं गवेषकों की दृष्टि से उनका समग्र साहित्य अछूता ही पड़ा हुआ है।

यद्यपि आनन्दघन की रचनाएँ परिमाण से न्यून हैं किन्तु इन कृतियों में रहस्य-भावना का अगाध सागर लहरा रहा है। उनकी इन कृतियों के आधार पर ही हम अध्यात्म-कवि-चूडमणि आनन्दघन की जीवन-दृष्टि समझ सकते हैं। जिस प्रकार उपवन का एक-एक सुरभित पुष्प समस्त प्रकृति का सौन्दर्यानन्द हमारे अन्तर में उतरता है, उसी प्रकार इस रहस्यवादी कवि की एक-एक रचना हमारे अन्तर मानस को आलोकित करती है।

---

१. गुजरात के सन्तों की हिन्दी वाणी, पृ० १०५।

२. वही, पृ० १०४।

तृतीय अध्याय

आनन्दघन की विवेचन-पद्धति

अध्यात्म अतिगूढ़ विषय है। दार्शनिक-बुद्धि तथा वर्णनपरक भाषा उसे स्पष्ट करने में असमर्थ ही रहती है। सन्त आनन्दघन का रहस्यवादी-दर्शन भी अध्यात्ममूलक है। उनका प्रधान लक्ष्य आत्मानुभव है और रहस्यदर्शी साधक के लिए यह स्वाभाविक भी है; क्योंकि उसकी अनुभूतियाँ उस परम सत्ता की अनुभूतियाँ हैं जो अवाङ्मनस गोचर हैं, जिसके सम्बन्ध में 'नेति-नेति' कह कर ही सन्तोष मानना पड़ा।

रहस्यदर्शी साधक रहस्यमय परम-तत्त्व से भावात्मक-तादात्म्य स्थापित करने के लिए आकुल रहता है। अन्ततः उसे रहस्यमय तत्त्व की ऐसी गहरी अनुभूतियाँ होती हैं जिनका शब्दों में वर्णन करना सम्भव नहीं। भाषा उन अनुभूतियों को अपनी सम्पूर्णता में अभिव्यक्त करने में असमर्थ रहती है। अतः ऐसे गूढ़ातिगूढ़ आध्यात्मिक तथ्यों की अनुभूतियों को व्यक्त करने के लिए रहस्यवादियों को विभिन्न प्रतीकों, रूपकों, उलट-वासियों आदि विवेचन-पद्धतियों की शरण लेनी पड़ती है।

रहस्यात्मक अनुभूति स्व-संवेद्य है और है वाणी द्वारा अवाच्य। वैदिक ऋषियों से लेकर आज तक पूर्वी एवं पश्चिमी सन्तों, सिद्धों एवं रहस्यदर्शी साधकों सभी ने परमतत्त्व और उसकी अनुभूति को एक स्वर से 'अकथ' कहा है। तैत्तिरीय उपनिषद् में कहा है—'यतो वाचा निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह'[1] अर्थात् वहां मन (बुद्धि विकल्प) की पहुंच नहीं है। वाणी भी वहां से लौट आती है। इसी की प्रतिध्वनि केनोपनिषद् में 'यद्वाचाऽनभ्युदितम्'[2] के रूप में हुई है। उस अलौकिक दिव्य तत्त्व में बुद्धि और वाक् की गति नहीं है।[3] कठोपनिषद् में आत्मज्ञान को सूक्ष्मातिसूक्ष्म एवं तर्क से अतीत कहा गया है।[4] और बताया गया है कि वह परब्रह्म परमात्मा वाणी आदि कर्मेन्द्रियों, चक्षु आदि ज्ञानेन्द्रियों और

१. तैत्तिरीय उपनिषद्, २।४

२. केनोपनिषद्, १।४

३. वही, १।३

४. कठोपनिषद्, १।२८

मन बुद्धि रूप अन्तःकरण से नहीं प्राप्त किया जा सकता, क्योंकि वह इन सबकी पहुंच से परे है।[1] जैन आगम आचारांगसूत्र में भी यही कहा गया है कि 'तर्क की वहां पहुंच नहीं है, बुद्धि भी उसे ग्रहण करने में असमर्थ है, अतः यह वाणी, विचार और बुद्धि का विषय नहीं'।[2] आनन्दघन ने भी उस रहस्यात्मक अनुभूति को विलक्षण बताते हुए कहा है :

आतम अनुभव फूल की, नवली कोउ रीति ।
नाक न पकरै वासना, कान गहै न परतीति ॥[3]

आत्मानुभवरूपी पुष्प की विलक्षणता ही कुछ निराली है। इसकी सुगन्ध को न नाक ग्रहण कर पाती है और न कान इसका संगीत सुन सकते हैं।

वास्तव में ऐसी रहस्यमय अनुभूतियाँ अनिर्वचनीय होती हैं, यह प्राच्य और पाश्चात्य सभी साधकों ने स्वीकार किया है। वस्तुतः रहस्यानुभूति को यथा तथ्य रूप में साधारण शब्दों द्वारा अभिव्यक्त करना कठिन होता है। फिर भी, रहस्यवादी उसे प्रतीकों, रूपकों, रहस्यात्मक-पद्धतियों आदि के सहारे अभिव्यंजित करने की चेष्टा करते रहे हैं।

रहस्यात्मक अनुभूति की अभिव्यक्ति भी रहस्यात्मक ही होती है। सन्त आनन्दघन ने भी अपनी रहस्यात्मक अनुभूतियों को व्यक्त करने के लिए अनेकविध अभिव्यंजना-प्रणालियाँ (विवेचन-पद्धतियाँ) अपनायी हैं। गहराई से देखा जाय तो आनन्दघन की विवेचन-पद्धति का विश्लेषण करना बहुत कठिन है, क्योंकि वह गूढ़ और गम्भीर है। यही कारण है कि 'आनन्दघन बाईसी' पर बालावबोध लिखने वाले मुनि ज्ञानसार को भी कहना पड़ा :

आशय आनन्दघन तणो, अतिगंभीर उदार ।
बालक बांह पसारी जिम, करे उदधि बिस्तार ॥[4]

आनन्दघन की विवेचन-पद्धति विविधरूपिणी है। उन्होंने यथावसर अनेक पद्धतियों का प्रयोग किया है। उन्होंने प्रतीकों, अमूर्त तत्त्वों के

१. कठोपनिषद्, २।३।२
२. आचारांग, १।५।६
३. आनन्दघन ग्रन्थावली, पद २८।
४. आनन्दघन पद-संग्रह, पृ० २९।

मानवीयकरण, रूपकों, उलटवासियों के अतिरिक्त जैन-परम्परागत अनैकान्तिक-दृष्टि, निश्चय और व्यवहारमूलक नय-पद्धति तथा समन्वयात्मक शैली का भी अनुसरण किया है। सन्त आनन्दघन के रहस्यवादी दर्शन के अन्तर्गत् प्रयुक्त पद्धतियाँ प्रमुखतः इस प्रकार हैं :

(१) प्रतीकात्मकता।
(२) अमूर्त तत्त्वों का मानवीयकरण।
(३) रूपकात्मक-पद्धति।
(४) रहस्यात्मकता।
(५) अनैकान्तिक-दृष्टि।
(६) निश्चय और व्यवहारमूलक नय-पद्धति।
(७) समन्वय-दृष्टि।

प्रतीकात्मकता

"प्रतीक से अभिप्राय किसी वस्तु की ओर इंगित करनेवाला न तो संकेत मात्र है, न उसका स्मरण दिलानेवाला कोई चित्र या प्रतिरूप ही। यह उसका एक जीता-जागता तथा पूर्णतः क्रियाशील प्रतिनिधि है जिस कारण इसे प्रयोग में लाने वाले को इसके व्याज से उसके उपयुक्त सभी प्रकार के भावों का सरलतापूर्वक व्यक्त करने का पूरा अवसर मिल जाया करता है।"[१] "प्रतीक-योजना उस प्रक्रिया को कहते हैं जिसके द्वारा किसी जटिल एवं अमूर्त भावना का भी कोई सरल एवं स्थूल स्वरूप चित्रित किया जा सकता है"।[२] सूफी साहित्य में प्रतीकात्मकता का प्रयोग प्रचुर परिमाण में हुआ है। अंग्रेजी के रहस्यवादीकाव्य में भी इसका सर्वप्रथम प्रयोग कवि ब्लैक और ईट्स द्वारा किया गया। भारतीय आध्यात्मिक-धार्मिक-ग्रन्थों में भी प्रतीक-योजना के उदाहरण मिलते हैं।

रहस्य-भावना की अभिव्यक्ति में प्रतीक-पद्धति कई तरह से सहायक होती है। आनन्दघन ने भी अपने रहस्यवाद की अभिव्यक्ति विविध प्रकार के प्रतीकों के माध्यम से की है। किन्तु उनके द्वारा अपनाए गए विभिन्न प्रतीकों में दाम्पत्य-प्रतीक-प्रधान है।

---

१. कबीर साहित्य की परख, आचार्य परशुराम चतुर्वेदी, पृ० १४६।
२. रहस्यवाद, आचार्य परशुराम चतुर्वेदी, पृ ८२।

आनन्दघन ने आत्मानुभव रूपी दिव्य-प्रेम की अभिव्यक्ति दाम्पत्य-प्रतीकों के सहारे की है। उन्होंने आत्मा और परमात्मा के शुद्ध प्रेम को पति और पत्नी के प्रेम का रूप दिया है। वास्तव में आनन्दघन के रहस्यवाद का प्राणतत्त्व वह दाम्पत्य-प्रतीक ही है जिसके द्वारा उन्होंने विरह-दशाओं का हृदयस्पर्शी एवं मार्मिक चित्रण किया है। इसी तरह आत्मा तथा परमात्मा के मिलन की आध्यात्मिक अनुभूति को दाम्पत्य-प्रतीकों के द्वारा बड़े ही सुन्दर एवं भावपूर्ण ढंग से प्रतिपादित किया है। उन्होंने साधक रूपी अन्तरात्मा या समता को प्रियतमा या पत्नी और साध्य रूप शुद्धात्मा या चेतन को प्रियतम अथवा पति के रूप में कल्पित किया है।

दाम्पत्य-प्रतीकों के उदाहरण आनन्दघन की रचनाओं में प्रचुर मात्रा में हैं। प्रमाणस्वरूप उनकी ये पंक्तियाँ देखिये—

—'ऋषभ जिनेसर प्रीतम माहरो।'[१]

—'प्रीतम प्राण पती बिना, प्रिया कैसे जीवै हो'[२]

—'दुल्हन री तूं बड़ी बावरी, पिया जागै तूं सोवै।'[३]

उक्त पंक्तियों में 'प्रियतम,' 'प्राणपति,' एवं 'पिया' शब्द 'परमात्मा' अथवा 'शुद्धात्मा' का प्रतीक है और 'माहरो,' 'प्रिया' एवं 'दुल्हन' शब्द साधक की अन्तरात्मा का प्रतीक है। इसी प्रकार आनन्दघन के अन्य अनेक पदों में भी शुद्धात्मा के लिए प्रीतम,[४] पीया,[५] कंत,[६] पिऊ,[७] पति,[८] चेतन,[९] भरतार,[१०] प्राणनाथ,[११] ढोला,[१२] लालन,[१३] लाल,[१४]

१. ऋषभ जिन स्तवन, आनन्दघन ग्रन्थावली।
२. आनन्दघन ग्रन्थावली, पद २६।
३. वही, पद ७३।
४. वही, पद २६, ३४, २९, ३३।
५. वही, पद ८५, ३२, ४४।
६. वही, पद ५०, ६९ एवं ऋषभ जिन स्तवन।
७. वही, पद ३०, ३४।
८. वही, पद १०५, ८।
९. वही, पद १०५।
१०. वही, पद ३५।
११. वही, पद १७, ८०।
१२. वही, पद ३१, २०।
१३. वही, पद ३५ एवं २०।
१४. वही, पद ३१।

सांइडा,[1] भंवर,[2] श्याम,[3] बंसीवाला[4] आदि शब्द प्रतीक रूप में आए हैं। इसी तरह साधक रूपी आत्मा के लिए भी सुहागिन नारी,[5] प्रिया,[6] स्वामिनी,[7] बड़ीबहू,[8] सुमति-समता,[9] चेतना, आदि शब्द प्रतीक रूप में प्रयोग किए गए हैं।

आनन्दघन ने एक पद में पति-पत्नी के प्रतीकों के स्थान पर 'चकवा' और 'चकवी' के प्रतीकों का भी प्रयोग किया है। यहाँ चकवा शुद्धात्मा का प्रतीक है और चकवी साधक की अन्तरात्मा का प्रतीक है। वास्तव में दाम्पत्य प्रतीक-योजना में आनन्दघन के रहस्यवाद का रूप निखरा है।

संक्षेप में, आनन्दघन द्वारा प्रयुक्त दाम्पत्य-प्रतीकों के सम्बन्ध में कहा जा सकता है कि समता, चेतना, प्रिया, पत्नी या प्रियतमा साधक की अन्तरात्मा का प्रतीक है और प्रियतम, पति या चेतन परमात्मा या शुद्धात्म-चेतन रूप साध्य का प्रतीक है। इस प्रकार, साधक और साध्य रूप अन्तरात्मा-परमात्मा के बीच भावात्मक-तादात्म्य-सम्बन्ध स्थापित करानेवाला प्रेम निरूपाधिक प्रेम या विशुद्ध आत्म-प्रेम रूप साधना का प्रतीक है। निरुपाधिक प्रेम-साधना द्वारा साधक की अन्तरात्मा साध्य-रूपी परमात्मा में इस प्रकार एकाकार हो जाती है कि दोनों में कोई अन्तर नहीं रह जाता। जैनदर्शन का 'अप्पा सो परमप्पा' का रहस्य इस इस स्थिति में पूर्णतः प्रकट हो जाता है। तात्त्विक रूप से दोनों में कोई अन्तर नहीं रहता और इसी अभेद या अद्वैत की अनुभूति करना रहस्य-

---

१. आनन्दघन ग्रन्थावली, पद १९, ९८।
२. वही, पद २०।
३. वही, पद ८८।
४. वही, पद ९८।
५. वही, पद ८६, ५४।
६. वही, पद २६।
७. वही, पद ३५।
८. वही
९. वही, पद ३४, ३२, ३१, ३६, ३८, ३९, ४० आदि।
१०. वही, पद ३८, ४१, ७३, १०५।
११. वही, पद ७३।

वादी साधक का चरम लक्ष्य रहता है। जब उसे आत्मा-परमात्मा के अद्वैत की अनुभूति हो जाती है तो वह दाम्पत्य-प्रतीकों के द्वारा उस रहस्यानुभूति को विविधरूपों में अभिव्यक्त करने का प्रयास करता है। प्रस्तुत सन्दर्भ में यह बता देना भी आवश्यक प्रतीत होता है कि जैनदर्शन में केवल आत्मा-परमात्मा का ही अद्वैत माना गया है, जबकि जैनेतर दर्शनों में आत्मा-परमात्मा के अतिरिक्त जड़-चेतन का भी अद्वैत मान्य है। आनन्दघन के रहस्यवाद में भी केवल आत्मा-परमात्मा अथवा चेतन और समता के अद्वैतानुभूति की चर्चा ही परिलक्षित होती है।

आनन्दघन की यह अद्वैतानुभूति प्रेम पर आश्रित है किन्तु उनका वह प्रेम लौकिक न होकर अलौकिक-आध्यात्मिक है। वस्तुतः दाम्पत्य-प्रतीकों को अपनाने के पीछे आनन्दघन का मूल कारण है आत्मा-परमात्मा की अद्वैतानुभूति को अभिव्यंजित करना। इसके अतिरिक्त उनके दाम्पत्य-प्रतीकों पर किंचित् भक्तिमार्गीय धारा का प्रभाव भी दिखाई देता है।

आनन्दघन ने कतिपय पदों में संख्यावाचक प्रतीकों के प्रयोग भी किए हैं, जो बहुधा जैन-ग्रन्थों में पाए जाते हैं। ऐसे प्रतीकों का प्रयोग निम्नांकित पदों में द्रष्टव्य है:

पाँच तले है दुआ भाई, छका तले है एका।
सब मिलि होत बराबर लेखा, इह विवेक गिणवेका॥[1]

प्रस्तुत पद में 'पाँच' पंचाश्रव का प्रतीक है और 'दुआ' (दो) राग-द्वेष की प्रवृत्ति का प्रतीक है, 'छह' षट्काय का प्रतीक है और 'एक' असंयम प्रवृति अथवा मन का प्रतीक है। अन्यत्र भी उन्होंने कहा है:

सत्तावन ने काढ़ो घरमा बैठा थीरे,
त्रेवीश ने कहो जाय इंहा धीरे
पछी अनुभव जागशे मांहे थीरे।[2]

'सत्तावन' बन्ध-हेतु के ५७ भेदों का प्रतीक है और 'तेईस' पांच इन्द्रियों के २३ विषयों का प्रतीक है। इसी तरह पांच अरु तीन-त्रिया,

१. आनन्दघन ग्रन्थावली, पद ५६।
२. वही, पद १२१।

दोय चोर, दो चुगल, एक त्रिया, चार पुरुष,[1] पांच पचीस पचासा[2] आदि संख्यावाचक प्रतीकों का प्रयोग भी आनन्दघन ने खूब किया है। इस प्रकार उनके उपर्युक्त विभिन्न प्रतीकों के विवेचन से विदित होता है कि उनकी प्रतीक-पद्धति विलक्षणता पूर्ण है।

अमूर्त तत्त्वों का मानवीयकरण

प्रतीक-योजना के अतिरिक्त आनन्दघन ने अमूर्त तत्त्वों का मानवीयकरण भी किया है। मानवीयकरण सूक्ष्म-स्थूल किसी भी वस्तु का हो सकता है। मानवीयकरण उस प्रक्रिया को कह सकते हैं जिसमें अमूर्त तत्त्वों एवं भावों को मानव रूप में चित्रित किया जाता है।

जैन-परम्परा में उपमिति भव-प्रपंच कथा (सिद्धर्षि), नाटक समयसार (बनारसीदास) आदि रचनाओं में इस पद्धति का प्रयोग हुआ है जिनमें अमूर्त तत्त्वों एवं भावों को मूर्त रूप में चित्रित किया गया है। सन्त आनन्दघन के रहस्यवादी दर्शन का आधार अध्यात्म है। अतएव इनमें अरूप का रूप-विधान अथवा अमूर्त का मूर्तविधान करने वाली मानवीयकरण की पद्धति का आश्रय लिया गया है और इस प्रकार तत्त्व-चिन्तन का गूढ़ धरातल सरलतम रूप में अभिव्यक्त हुआ है। उन्होंने प्रमुखरूप से चेतन, समता-सुमति, ममता-कुमति, श्रद्धा, विवेक और अनुभव का मानवीयरूप में चित्रण कर उनकी विभिन्न प्रवृत्तियों का दिग्दर्शन कराया है। चेतन, विवेक और अनुभव को पुरुष रूप में तथा समता-सुमति, श्रद्धा, सुबुद्धि, ममता-कुमति, कुबुद्धि, माया और तृष्णा को नारी रूप में चित्रित किया है। इन सभी अमूर्त भावों को सजीव पात्रों के रूप में चित्रित कर अन्ततः चेतन तत्त्व की अनात्म-तत्त्वों पर विजय दिखलाई है।

जैनदर्शन के अनुसार आत्मा (चेतन) अनन्त पर्याय वाली है। उनमें मुख्यतः शुद्ध और अशुद्ध दो पर्यायें हैं। अन्य शब्दों में, इसे चेतन की शुद्ध

१. वही, 'पांच अरु तीन प्रिया'—पांच इन्द्रिय और मन, वचन और काय बल रूप ८ स्त्रियां, दोय चोर—राग और द्वेष, दो चुगलआयुष्य और श्वासोच्छ्वास, एक त्रिया—एक मनरूप स्त्री, चार पुरुष—क्रोध, मान, माया और लोभ।

२. वही, पांच पचीस पचासा—पंच महाव्रत, पंच महाव्रत की २५ भावनाएँ तथा ५० प्रकार के तप।

चेतना (अन्तरात्मा) और अशुद्ध चेतना (बहिरात्मा) कह सकते हैं। शुद्ध चेतना समता भावदशा है और अशुद्ध चेतना ममता-मायारूप विभावदशा है। और शुद्ध-अशुद्ध इन दोनों चेतनाओं से परे शुद्धात्म-तत्त्व या परमात्म-तत्त्व है। आनन्दघन ने इसी शुद्ध चेतना रूप समता और अशुद्ध चेतना रूप ममता का क्रमशः चेतन की बड़ी पत्नी और छोटी पत्नी के रूप में मानवीयकरण किया है। समता और ममता दोनों में पारस्परिक स्पर्धा की बलवती भावना दृष्टिगोचर होती है।

चेतन शरीर रूपी नगर का राजा है और उसकी अनेक स्त्रियां हैं—समता, ममता, माया, तृष्णा, कुबुद्धि आदि। किन्तु इन सबमें प्रमुख पत्नी समता है और छोटी पत्नी है ममता, जिसे आनन्दघन ने 'नान्हीं बुहु'[1] के रूप में चित्रित किया है। समता हृदयरूपी समुद्र की पुत्री है और उसका एक भाई है जिसका नाम है अनुभव।[2] समता की प्रिय सखी श्रद्धा है। चेतन के हितैषी मित्र अनुभव और विवेक हैं। राग, द्वेष, काम, क्रोध, लोभ, मान, माया, आशा-तृष्णा, कपट, मद आदि सूक्ष्म मनोभावों का मानवीयकरण धूर्त, ठग के रूप में किया है जो ममता नारी का परिवार है। इसी प्रकार सरलता, मृदुता, इन्द्रिय-जय, सन्तोष आदि को समता के परिवार के रूप में चित्रित किया है।[3] इस प्रकार, समता, ममता, श्रद्धा, अनुभव, विवेक आदि को जीते-जागते संघर्ष करते, लड़ते-जूझते पात्रों के रूप में चित्रित किया है। मुख्य रूप से चेतन, समता, श्रद्धा, अनुभव और विवेक को बोलती हुई अवस्था में चित्रित किया है। आनन्दघन ने समता और श्रद्धा सखी में परस्पर वार्तालाप करवाया है।[4]

चेतन के चारित्रिक पतन अर्थात् स्व-स्वरूप से च्युत होने का कारण है ममता नारी के प्रति मोह और उसके उत्थान का कारण है समता नारी के सन्देश का ग्रहण। समता नारी प्रेरणा का स्रोत है, वह बार-बार हिताहित का बोध कराती है। परिणामतः चेतन ममता नारी का परित्याग कर देता है। समता की प्रेरणा से जैसे ही उसके अन्तश्चक्षु खुलते हैं, वह

१. आनन्दघन ग्रन्थावली, पद ४७।

२. समता रतनागर की जाई, अनुभव चंद सु भाई। वही, पद ४।

३. वही, पद ७९, ८०।

४. वही, पद ३५।

वास्तविक स्थिति से अवगत हो जाता है और उसी क्षण ममता-माया, कुमति आदि से मुक्त हो जाता है।

आनन्दघन ने शुद्ध चेतना रूप समता नारी को एक पतिव्रता आदर्श भारतीय नारी के रूप में चित्रित किया है। इसकी स्पष्ट झलंक हमें निम्नलिखित पंक्तियों में मिलती है—

ऋषभ जिनेसर प्रीतम माहरो, और न चाहू रे कंत।
रीझ्यो साहब संग न परिहरे, मांगे सादि अनंत ॥[1]

समता नारी स्पष्ट शब्दों में कहती है कि एक मात्र ऋषभ जिनेश्वर ही मेरे प्रियतम हैं। मैं अन्य किसी को पति रूप में वरण नहीं करती। सन्नारी होने के नाते उसे आशा है कि जब प्रियतम प्रसन्न हो जाएंगे, तो फिर वे कभी भी मेरा साथ नहीं छोड़ेंगे। आनन्दघन के पदों में जहां-जहां समता नारी का चित्रण हुआ है वहां-वहां वह एक सच्ची आदर्श भारतीय नारी का प्रतिनिधित्व करती है। वह सच्ची प्रेमिका है। उसका प्रेम अन्धा नहीं, सजग और निरुपाधिक है।[2] वह अपना प्रेम पाने के लिए अथक प्रयास करती है।[3] अपने पति चेतन से शपथ दिलाकर पूछती है कि हे प्रियतम ! मुझ से दूर रहने के लिए आपको किसने कहा ? आप शीघ्र उसका नाम बतलाइए। आपको बारबार मेरी शपथ है। आपके रूठने से मेरा मन दुःख से घिर गया है। सच बता रही हूँ कि जिसके साथ आप खेल रहे हैं, वह मेरी सौतिन ममता तो संसार की दासी है। वास्तविकता तो यह है कि जो अपना सिर काट कर आपके सामने रख दे अर्थात् जो अपना सर्वस्व आपको समर्पित कर दे वही आपकी पत्नी है। आपकी शपथ खाकर कहती हूं कि जो मैं कहूं वही कर दिखाने वाली हूं। मैं ऐसी नहीं, जो कहे कुछ और करे कुछ और मैं आपके अतिरिक्त अन्य किसी की भी नहीं हूं।[4]

१. आनन्दघन ग्रन्थावली, ऋषभ जिन स्तवन।
२. वही, ऋषभ जिन स्तवन।
३. वही, पद ४४, ४८।
४. मेरी सु मेरी सु मेरी सु मेरी सौ मेरी री।
तुम्ह तैं जु कहा दुरी कहो नै सबेरी री॥
रूठि देखि कै मेरी मनसा दुख घेरी री।
जाके संग खेलो सो तो जगत की चेरी री॥
सिर छेदी आगैं धरै और नहीं तेरी री।
आनन्दघन की सूं जो कहू हूं अनेरी री॥ वही, पद ५१।

वस्तुतः चेतन की प्रथम पत्नी समता ही है, किन्तु प्रथम पत्नी होते हुए भी वह अभागिन है। जब से चेतन ममता पत्नी में रत रहने लगे हैं, तब से समता को विस्मृत कर बैठे हैं। ममता नारी में मोहित हो गए हैं। फिर भी, समता सन्नारी होने के कारण अपने पति की प्रतिक्षण मंगल कामना करती और चेतन के मित्र विवेक से अपने पतिदेव के सम्बन्ध में कुशल समाचार पूछती है :

> पूछीइ आली खबरि नई, आए विवेक बधाई।
> महानंद सुख की वरनि का, तुम्ह आवत हम गात।
> प्रान जीवन आधार कुं, खेम कुशल कहो बात॥[1]

साथ ही, वह विवेक से प्रिय आगमन के समाचार भी पूछती है। वह कहती है—भाई विवेक ! प्रियतम यहाँ आएँगे अथवा नहीं ? आपको मेरी शपथ है, सच बताइए कि पतिदेव को ममता के यहाँ कुछ सुख प्राप्त हुआ या नहीं ? प्रत्युत्तर में विवेक कहता है कि वहाँ की (ममता के घर की) कहानी तुम्हें क्या बताऊँ, बताने जैसी नहीं है। वहाँ चेतन राज माया-ममता के वश होकर चतुर्गति रूप संसार में भटक रहे हैं।[2] यह सुनकर समता अत्यधिक दुःखी हो जाती है। वह अपनी सौत के बारे में कहती है कि भाई विवेक ! मुझे सौत का दुःख सहन नहीं होता। तुम अपने मित्र चेतन को वहाँ जाने से क्यों नहीं रोकते ? निर्लज्ज उस मोहिनी का क्या साहस है ? उसमें ऐसा कौन-सा मोहक गुण है जिसके कारण तुम्हारे मित्र उस पर मोहित हो गए। उसके घर मिथ्यात्व मोहिनी नामक एक कन्या है और उसी पर तुम्हारे मित्र मोहित हो गए हैं। उसके क्रोध और मान नामक दो पुत्र हैं। मिथ्यात्व परिणति रूपी मोहिनी कन्या का विवाह लोभ के साथ हुआ है। लोभ जमाई तथा मिथ्यात्व मोहिनी के संयोग से माया नामक कन्या पैदा हुई। इस प्रकार, इस मोहिनी के

---

१. आनन्दघन ग्रन्थावली, पद ३७।

२. सलूने साहिब आवेंगे, मेरे वीर विवेक कहौ न सांच।
मोसूं सांच कहो मेरी सुं, सुख पायो कै नांहि।
कहानी कहा कहुं उहां की, डोलै चतुरगति मांहि॥
—आनन्दघन ग्रन्थावली, पद ३८।

परिवार का विस्तार चारों ओर फैला हुआ है और इसी ने मेरे पतिदेव को वश में कर रखा है।[1]

वस्तुतः चेतन राज को फँसाने वाली ममता नारी है जिसके कारण चेतन अपना भान भूले हुए हैं। यद्यपि चेतन शुद्धात्म स्वरूप है, अनंत गुणों से युक्त है, उसमें किसी प्रकार का विकार नहीं है, फिर भी 'जैसा खावे धान, वैसी आवे शान' और 'खरबूजे को देखकर खरबूजा रंग पकड़ता है' आदि कहावतों के अनुसार चेतन माया-ममता नारी के सहवास में अनादिकाल से रहने के कारण, निजस्वरूप से च्युत हो गया और समता नारी के साथ उदासीन बन बैठा है। समता अपनी सौतन ममता के कारण अपने प्रियतम चेतन से मिल नहीं पा रही है, किन्तु प्रियतम से मिलने के लिए उसकी अन्तरात्मा छटपटा रही है। जिस प्रकार एक विरहिणी अपने पति के वियोग में विरहाग्नि से दिनरात संतप्त रहती है, उसी प्रकार समता भी हर-तरह से विरह-दशा का वर्णन कर अपने प्रियतम तक अपनी दयनीय स्थिति का सन्देश पहुँचाना चाहती है। जब तक उसका अपने प्रियतम से मिलन नहीं होता, वह पति-वियोग का कष्ट सहन नहीं कर पाती। समता नारी का विरहिणी स्वरूप भी उसके चरित्र को दीप्ति प्रदान करता है। प्रिय-पथ की पथिका बनकर भी वह 'पिया-पिया' (पिऊ-पिऊ) कह कर विलाप करती है[2] और अपने पिया के आगमन की दिनरात प्रतीक्षा कर रही है।[3]

इस प्रकार, समता नारी विरहावस्था के दुःख के भार को सहने में नारी-सुलभ कोमलता और दुर्बलता का परिचय देती है। आनन्दघन समता का अबला के रूप में चित्रण करते हुए कहते हैं :

१. विवेकी पीरा सह्यो न परैं, वरजो न आपके मीत।
कहा निगोरी मोहनी मोहक लालगंवार।
बाकें घर मिथ्या सुता, रीझ परै तुम्ह यार॥
क्रोध मान बेटा भए, देत चपेटा लोक।
लोभ जमाई माया सुता, एह बढ्यो परमोक॥
—आनन्दघन ग्रन्थावली, पद ३९।

२. वही, पद ३४।

३. वही, पद ३१।

"बालूडी अबला जोर किसौ करै, पीउडो पर घर जाइ[1] ॥"

प्रियतम पर घर में भटक रहे हैं, किन्तु बेचारी बाला नारी किस प्रकार अधिकार दिखलाकर अपने पति को पर घर जाने से रोके। फिर भी, आदर्श नारी का यह कर्तव्य होता है कि वह अपने पति को उन्मार्ग से सन्मार्ग की ओर किसी भी तरह प्रेरित करे। समता भी आदर्श नारी होने के कारण अपने पति चेतन राज का विनम्रतापूर्वक निज घर में आने का निवेदन करती है।[2] वह सांसारिक भोगों में भटकते हुए अपने प्रियतम को किसी तरह सुपथ पर ले आना चाहती है। वह कहती है कि हे नाथ! आप इधर देखिए, आपकी इच्छानुसार चलने वाली पत्नी मेरेअतिरिक्त अन्य नहीं है। ममता तो धूर्त, कपटी और कृपण है। इतना ही नहीं, वह तो आपको दुर्गति में ले जाने वाली है। वह सब प्रकार से आपका अहित करनेवाली तथा आपको संतप्त करनेवाली है। इसलिए आप मेरी बात पर जरा ध्यान दीजिए और ममता का साथ छोड़ दीजिए। समता के समान आपकी हितैषी अन्य कोई नहीं है।[3] इसी तरह समता अपनी सौत मोहिनी माया-ममता को अमंगलकारी तथा भेड़ के समान बताकर चेतन-राज को उसका साथ छोड़ देने के लिए पुनः आग्रह करती है।[4] समता के द्वारा बार-बार कहे जाने पर प्रत्युत्तर में प्रियतम चेतन उसे आश्वासन

---

१. आनन्दघन ग्रन्थावली, पद ४१।

२. सुमता चेतना पतिकुं इणविध कहे निजघर आवो।
आतम उच्छ सुधारस पीये, सुख आनंद पद पावो।
—वही, पद १०५।

३. नाथ निहारो न आप मतासी।
वंचक सठ संचक सी रीतैं, खोटो खातो खतासी॥
ममता दासी अहित करि हरविधि, विविध भाँति संतासी।
आनन्दघन प्रभु बीनती मानो, और न हितु समता सी॥
—वही, पद ४६।

४. ऐसी कैसी घर बसी, जिन स अनैसी री।
याही घर रहसी वाही आपद हैसी री॥
परम सरम देसी घर में उ पैसीरी।
याही ते मोहिनी मै सी, जगत संगै सीरी॥
कौरी की गरज नैसी, गुरजन चखैसीरी।
आनन्दघन सुनौसी, बंदी अरज कहैसी री॥
—वही, पद ४५।

देते हुए कहता है कि हे सुमते ! मैं विश्वासपूर्वक कहता हूँ कि तू मेरी ही है, फिर क्यों डर रही है ? ममता का और मेरा सम्बन्ध आज का नहीं, प्रत्युत चिरकाल का है। इसलिए अब सम्बन्ध-विच्छेद होने पर ममता एक दो दिन के लिए तुझसे और मुझसे व्यर्थ ही झगड़ा करेगी, किन्तु इससे तुझे भयभीत होने की आवश्यकता नहीं है। यह सुनकर समता कहती है कि इतना तो मैं भी जानती हूँ कि पीतल पर बहुमूल्य रत्न नहीं जड़ा जाता, उसी तरह यह भी सत्य है कि ममता के संग से आपका उत्थान नहीं हो सकता। जब आपको निज स्वरूप की स्मृति होगी तब मेरी संगति की आपको आवश्यकता लगेगी।[1]

इस प्रकार, समता अपने पति को निज-स्वरूप पहचानने, निज घर में आने का तथा अनात्म भाव रूपी मोह-माया-ममता आदि शत्रुओं पर विजय प्राप्त करने का सन्देश देते-देते नहीं थकती। वह मोहराज की सेना—माया, ममता आदि से युद्ध करने के लिए अपने पति चेतन को उत्साहित एवं प्रेरित करती हुई कहती है कि हे चतुर चेतन ! आप अनन्त शक्तिशाली हैं। मोहराज की सेना रूपी मैदान को क्यों नहीं जीत लेते ? तीक्ष्ण रुचि रूपी तलवार के द्वारा मोहरूपी शत्रु को परास्त कर दीजिए। यदि आप द्रुत गति से आक्रमण करेंगे तो मोह को परास्त होने में दो घड़ी भी नहीं लगेगी और आपको समस्त उपाधियों से रहित

---

१. मेरी तु मेरी तु काहे डरै री।
कहे चेतन समता सुनि आखर, और देढ़ दिन झूठी लरै री।
ऐसी तो हू जानु निहचै, री री पर न जराव जरै री।
जब अपनो पद आप संभारत, तब तैरे पर संग परै री॥
—आनन्दघन ग्रन्थावली, पद ४२।

२. चेतन चतुर चौगान लरी री।
जीति लै मोहराज को ल्हसकर, मुसकरि छाँडि अनादि धरी री॥
नांगी काढि लताइ ले दुसमण, लागै काची दोइ घरी री।
अचल अबाधित केवल मुनसफ, पावै शिव दरगाह भरी री।
औरलराई, लरै सौ बौरा, सूर पछाडै भाव अरी री।
धरम परम कहा बुझै औरे, आनन्दघन पद पकरी री॥
—वही, पद ५२।

केवल ज्ञानरूपी लक्ष्मी प्राप्त हो जाएगी। जो व्यक्ति प्रमुख शत्रुओं से संघर्ष न कर अन्य से संघर्ष करता है वह तो मूर्ख ही है। परन्तु जो वास्तव में शूरवीर हैं वे तो राग-द्वेष रूप सम्पूर्ण शत्रुओं को पराजित कर देते हैं। आपके मूल शत्रु राग-द्वेष ही हैं। अतः आप इन पर विजय प्राप्त कर लीजिए।

समता नारी द्वारा बार-बार मोहराज से युद्ध करने की प्रेरणा पाकर चेतनराज युद्ध करने के लिए तैयार हो जाते हैं। वे युद्ध के पूर्व अपने मस्तक पर निज-स्वरूप रूपी अनुपम मुकुट पहनते हैं और स्व-स्वरूप-प्राप्ति के लिए प्रखर रुचि रूप तेज खड्ग ग्रहण करते हैं। फिर 'देहं वा पातयामि कार्यं वा साधयामि' का संकल्प लेकर शूरवीर का बाना धारण कर, त्याग और ब्रह्मचर्य रूप कवच पहन कर तीव्र भावना रूप चोला डालकर मोहराज से उन्होंने इस प्रकार युद्ध किया कि प्रारम्भ में ही उसे जड़ मूल से छिन्न-भिन्न कर दिया। यह देख अनुभवी पण्डितों के मुख से प्रशंसात्मक शब्द निकल पड़े। मोहराज का समूल उन्मूलन कर विजय दुंदुभि बजवाकर चेतन निज-स्वरूप रूपी मुक्ति नगर में आ गए।[1] यहाँ आनन्दघन ने चेतन को शूरवीर योद्धा के रूप में चित्रित किया है। उक्त पंक्तियों में चेतन के वीरतापूर्ण कार्य-कलापों की सुन्दर झाँकी मिलती है। वह शत्रु पक्ष पर कठोर प्रहार करता है। यहाँ आनन्दघन ने शरीर रूपी नगर के सम्राट् चेतन और संसार रूप समुद्र के सम्राट् मोह के बीच द्वन्द्व युद्ध कराकर मोह को पराजित और चेतन को विजयी घोषित किया है।

इस प्रकार, समता नारी ने प्रयत्नपूर्वक अपने पति चेतन का, मोहिनी माया-ममता और उसके समूचे परिवार के साथ चिरकालीन सम्बन्ध पूर्णतः छुड़ा दिया और प्रियतम से परमार्थिक प्रीति जोड़कर उन्हें आनन्दघन का रूप मुक्ति नगरी का राज्य दे दिया। जैसा कि कहा है :

---

१. आतम अनुभौ रीति वरी री।
मोर बनाइ निज रूप अनुपम, तीछन रूचि कर तेग करी री॥
टोप सनाह सूर कशे बानो, इकतारी चोरी पंहरी री।
सत्ताथल मोह बिडारत, ए ए सुरजन मुह निसरी री॥
केवल कमला अपछर सुंदर, गान करै रस रंग भरी री।
जीति निसाण बजाइ बिराजै, आनन्दघन सरवंग वरी री॥
—आनन्दघन, ग्रन्थावली, पद ५३।

तब समता उदिम कियो, मेट्यो पूरब साज।
प्रीति परम. सुं जोरिकै, दीन्हो आनन्दघन राज ॥[1]

इस प्रकार कहा जा सकता है कि आनन्दघन ने समता नारी को पतिव्रता, हितैषिणी, सच्ची प्रेमिका और चेतन को सुपथ पर लाने वाली आदर्श नारी के रूप में चित्रित किया है। आनन्दघन के समग्र रहस्यवादी दर्शन में उसका चरित्र उज्ज्वल शशि-रश्मियों में आलोकित है। दूसरी ओर ममता नारी का चित्रण चेतन को पथ-भ्रष्ट करने वाली कुलटा, कुटिल, छिनाल, गणिका, धूर्त, कपटी, कृपण, दुर्गति में ले जानेवाली नारी के रूप में किया है।

कुमती, ममता-माया आदि वैभाविक परिणतियों को आनन्दघन ने मोहिनी नाम दिया है, क्योंकि इसमें चेतन को मोहित करने का गुण है। इसी कारण इसने चेतन के घर में पहुँचते ही अपना प्रभुत्व जमा लिया ओर उस पर अपना मोहिनीरूपी जादू की छड़ी ऐसी घुमाई कि वह समता से एकदम विमुख हो गया और इस मोहिनी ममता के बढ़े-चढ़े सौन्दर्य को देखकर इतना चकित हो गया कि उसके पीछे अपने कर्तव्याकर्तव्य का भान भी भूल बैठा। इस सम्बन्ध में आनन्दघन ने यथार्थ ही कहा है :

ममता खाट परै रमै, ओनींदे दिन रात।
लेनो न देनों इन कथा, भोरे ही आवत जात ॥[2]

ममता नारी में यदि कोई गुण है तो वह है मोहित करने का। किन्तु वह स्वर्ण-कटार किस काम की, जिसका स्पर्श मात्र प्राणान्त का कारण बन जाता है। इसी तरह, यह मोहिनी ममता भी आरम्भ में चेतन को संसार में आसक्त कर देती है और अन्त में उसे दुर्गति में ले जाती है। इसीलिये आनन्दघन ने उसे दुष्टा नारी के रूप में चित्रित किया है। उसके स्वभाव, हावभाव, क्रिया-कलाप आदि से उसकी कुटिलता परिलक्षित होती है। अपने साथ-साथ वह चेतन को भी यत्र-तत्र भटकाती रहती है। इसी कारण आनन्दघन ने उसे 'छिनाल'[3] (पुंश्चलि, व्यभिचारिणी) शब्द से अभिहित किया है। यह उसकी जातिगत विशेषता है।

---

१. आनन्दघन ग्रन्थावली, पद ३९।
२. वही, पद ३५।
३. अलवै चालो करती देखी, लोकडा कहिस्ये छिनाल।
   ओलंभडा जण जण ना आणी, हीयडै उपासै साल ॥
   —वही, पद ४७।

ममता-माया आदि के चित्रण में आनन्दघन का प्रमुख लक्ष्य है— अनात्मभावों की हेयता को प्रदर्शित करना, क्योंकि चेतन सुदीर्घकाल से इसके मायाजाल में फंसकर निजात्म-स्वरूप को भूल बैठा है। जब तक उसे अनात्म-तत्त्वों की हेयता का भान नहीं होता, तब तक वह स्व-स्वरूप की उपलब्धि नहीं कर सकता।

निष्कर्ष यह कि आनन्दघन के रहस्यवाद में समता और ममता नारी हृदय के मनोभावों की अच्छी झलक मिलती है। समता और ममता के बीच संघर्ष होता है, किन्तु अन्त में समता की विजय होती है और ममता की पराजय।

रूपकात्मक-पद्धति

रूपक की परम्परा प्राचीन काल से प्रचलित है। वेदों से लेकर वर्तमान साहित्य में किसी-न-किसी रूप में रूपकों का प्रयोग होता रहा है। ऋग्वेद में, देवासुर संग्राम और पुरुरवा का आख्यान रूपक-पद्धति का अच्छा उदाहरण है। ऋग्वेद में रूकात्मक-पद्धति के अन्य उदाहरण भी मिलते हैं। रूपकात्मक-शैली का एक सुन्दर उदाहरण इस प्रकार है। "एक बैल है। उसके चार सींग हैं। उसके तीन पैर, दो सिर, सात हाथ हैं। वह कठोर ध्वनि से गर्जन करता है।"[1] इसमें बैल के रूपक द्वारा गूढ़ आध्यात्मिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन है। इसी तरह मुण्डकोपनिषद् में दो पक्षियों का रूपक भी प्रसिद्ध है।[2] श्रीमद्भागवत् के चतुर्थ स्कन्ध में पुरजनोपाख्यान रूपक रचना के लिए सुविख्यात है।

न केवल वैदिक साहित्य में, अपितु जैन साहित्य में भी रूपकों का सर्वाधिक प्रयोग हुआ। रूपक चित्रण में जैन कवियों की भी अपनी एक दृष्टि रही है। 'उपमिति भवप्रपंच कथा' में शुरू से लेकर अन्त तक रूप-कात्मकता का असाधारण ढंग से निर्वाह हुआ है।

सन्त आनन्दघन ने भी रूपक-पद्धति का आश्रय लिया है। यतः उनकी नैश्चयिक-दृष्टि आत्मा-परमात्मा के स्वरूप में तात्त्विक अन्तर न देख अभेदात्मकता देखती है, अतः उनके रहस्यवाद में रूपकों का प्रयोग होना

१. कबीर का रहस्यवाद—डा० रामकुमार वर्मा, पृ० ५९।

२. मुण्डकोपनिषद्, ३।१।१।

स्वाभाविक है। डा० फ्रायड का तो मत ही यही है कि आत्मा की भाषा रूपकों में ही प्रकट होती है। आनन्दघन के रहस्यवाद में प्रयुक्त रूपकों की विवेचना करने के पूर्व यह जानना आवश्यक है कि रूपक किसे कहते हैं ?

अभिव्यक्ति में बल और चमत्कार पैदा करने वाले अलंकारों में रूपक भी एक महत्त्वपूर्ण अलंकार है। साहित्य के आचार्यों द्वारा किये गये रूपक के लक्षण पर एक नजर डाल लेना उचित होगा।

भामह के अनुसार रूपक का लक्षण है—गुणों की समानता देकर उपमेय का उपमान के रूप में निरूपण करना।[1] दण्डी का रूपक-लक्षण उपमा-सापेक्ष है। रूपक के सम्बन्ध में उनका कथन है कि उपमान और उपमेय का भेद जहां तिरोभूत हो जाय, ऐसी उपमा ही रूपक है।[2] उद्‌भट के मतानुसार 'जिन दो पदों का अभिधा द्वारा कोई सम्बन्ध नहीं, उनमें से एक अप्रधान जो प्रधान के साथ जुड़ता है वह रूपक है।[3] 'मम्मट उपमान और उपमेय के अभेद को रूपक मानते हैं।[4] संक्षेप में, रूपक अर्थ उपमान और उपमेय में अभेद की प्रतीति है और इस अभेद-प्रतीति का कारण दोनों के बीच गुण की समानता है। उपमेय पर उपमान का आरोप होने पर पाठक का मन मुख्यरूप से दोनों के अभेद का बोध करता है।

सन्त आनन्दघन ने अपनी अनुभूतियों को रूपकों द्वारा मार्मिक ढंग से अभिव्यक्त किया है। इन्होंने आत्मा और परमात्मा एवं चेतना-चेतना

---

१. उपमाने न यत्तत्त्वमुपमेयस्य रूप्यते।
गुणानां समतां दृष्ट्वा रूपकं नाम तद्विदुः॥
—भामह, काव्यालंकार, २।२१

२. उपमेव तिरोभूत भेदा रूपकमुच्यते।
—दण्डी, काव्यादर्श, २।६६

३. श्रुत्या सम्बन्धविरहाद्यत्पदेन पदान्तरम्।
गुण वृत्ति प्रधानेन युज्यते रूपकं तु तत्॥
—उद्‌भट, काव्यालंकार-सार-संग्रह, १।११

४. तद्‌रूपकमभेदो य उपमानोपमेययोः।
— मम्मट, काव्यप्रकाश, १०।१३९।

के प्रेम, विरह एवं मिलन की अवस्था के सुन्दर एवं रहस्यपूर्ण रूपक बांधे हैं। ऋषभ जिन-स्तवन में ऋषभ जिन परमात्मा को प्रियतम का रूपक देकर निरुपाधिक विशुद्ध प्रेम का चित्रण किया है। इसी तरह, चन्द्रप्रभ जिन-स्तवन में साधक की शुद्ध चेतना रूपी नारी अपनी सखी से कह रही है: "चन्द्रप्रभ मुखचन्द सखो मुनै देखण दे।"[1] सखी श्रद्धे! अब तो मुझे चन्द्र प्रभु का मुख रूपी चन्द्रमा देखने दे! यहां 'मुखचन्द' में उपमेय पर उपमान का आरोप होने पर दोनों (मुख और चन्द्र) में अभेद का बोध होने से रूपक है। विरहावस्था के चित्रण में आनन्दघन ने सर्प, सर्पिणी, हंस, चकवा-चकवी, चातक आदि निसर्ग-जन्तुओं को लेकर भी रूपक बांधे हैं। सर्पिणी का रूपक निम्नलिखित पंक्ति में द्रष्टव्य है:

प्रान-पवन विरह-दशा, भअंगनि पीवै हो।[2]

इसमें यह बताया गया है कि चेतन रूप प्रियतम के अभाव में समता रूप प्रिया के प्राण रूपी वायु को विरहावस्थारूपी सर्पिणी पी रही है।

विरह भुयंग निसा समै, मेरी सेजड़ी खूंदी हो[3]

पद में विरह रूपी सर्प ने शुद्ध चेतना रूप समता-प्रिया की शैय्या को रौंद कर अस्त-व्यस्त कर दिया है। यहां 'विरह-भुयंग' में सर्प का आरोप होने से रूपक है। एक अन्य पद में 'हंस' का रूपक देते हुए आनन्दघन कहते हैं:

तन पंजर झूरइ परयोरे, उड़ि न सके जीउ-हंस।
बिरहानल जाला जली प्यारे, पंख मूल निरवंश॥[4]

शुद्ध चेतन रूप प्रियतम की समता-प्रिया कह रही है कि एक ओर शरीर-रूपी पिंजड़े में बद्ध जीवात्मा रूप हंस उड़ नहीं सकता और दूसरी ओर विरहाग्नि की ज्वाला वेग से जल रही है। इस विरहाग्नि की ज्वाला में जीवात्मा रूप हंस के सारे पंख जल गये हैं। इसलिए वह उड़ कर भी आपके पास नहीं आ सकती। यहां 'तन पंजर', 'जीउ हंस' एवं 'विरहानल' आदि में सुन्दर रूपकों का प्रयोग हुआ है।

१. चन्द्रप्रभ जिन स्तवन, आनन्दघन ग्रन्थावली।
२. आनन्दघन ग्रन्थावली, पद २६।
३. वही, पद ३२।
४. वही, पद २७।

आनन्दघन के रहस्यवाद में कहीं-कहीं श्रृंगारपरक रूपक भी दृष्टिगत होते हैं। एक पद में उन्होंने शुद्ध चेतनारूपी प्रिया के श्रृंगार धारण करने के वर्णन में प्रेम, साड़ी, मह्दिी, अंजन, चूड़ियां, कंगन, उरबसी, माला, सिंदूर, आरसी आदि के अच्छे रूपक बांधे हैं।[1] आनन्दघन के पदों में केवल, दाम्पत्यमूलक रूपक ही नहीं, युद्ध के रूपक भी हैं। उन्होंने मोह को जीतने एवं उसके विरुद्ध संग्राम करने के लिए ल्हसकर (सेना), नंगी तलवार, दुसमण(शत्रु), मुनसफ (न्यायाधीश), दरगाह (पवित्र समाधि), मोर (मोड़-मुकुट), तेग (तलवार), टोप, सनाह (कवच), बाना, इकतारी चोरी (अंगरखा) आदि के रूपक बांधे हैं।[2]

इसी तरह उनके पदों में आध्यात्मिक रूपक भी हैं। रूपक के द्वारा आत्म-शुद्धि की प्रक्रिया को बताते हुए वे कहते हैं :

मनसा प्याला प्रेम मसाला, ब्रह्म अगनि पर जाली।
तन भाठी अवटाइ पीयै कस, जागै अनुभौ लाली ॥[3]

मन के भावना रूप चषक (प्याले) में प्रेम रूप स्वाध्याय का मसाला भर कर, ब्रह्म-आत्म तेज-तप रूप अग्नि को प्रज्ज्वलित कर, उस प्रेम-मसाले को शरीररूप भट्टी में औटा कर जो उस मसाले का सत्त्व (कस) पीते हैं, उन्हें अनुभव ज्ञान रूप लालिमा प्रकट हो जाती है। तात्पर्य यह है कि ध्यान-भावना, स्वाध्याय, तप-त्याग आदि द्वारा आत्मा की शुद्धि होती है और शुद्ध होने पर अनुभव ज्ञान का प्रकाश हो जाता है। एक अन्य पद चौपड़ का सुन्दर रूपक है और उसके द्वारा चतुर्गति रूप संसार में चौपड़ का खेल खेला जा रहा है। आनन्दघन इसी चौपड़ के खेल का रहस्योद्घाटन करते हुए कहते हैं :

कुबुद्धि कूबरी कुटिल गति, सुबुधि राधिका नारी।
चोपरि खेले राधिका, जीते कुबिजा हारी ॥[4]

कुबुद्धिरूप कुबड़ी वक्रगति वाली कुब्जा दासी और सुबुद्धि रूप राधिका नारी इस चौपड़ को खेल रही है। इसमें सुबुद्धि रूप राधिका की जय

१. आनन्दघन ग्रन्थावली, पद ८६।
२. वही, पद ५२ एवं ५३।
३. वही, पद ५८।
४. वही, पद ५६।

होती है और कुबुद्धि रूप कुब्जा की पराजय। यहां आनन्दघन ने कुब्जा और राधिका के रूपक द्वारा कुबुद्धि और सुबुद्धि की चरित्रगत विशेषताओं की ओर संकेत किया है। इसी चौपड़ के खेल को आगे बढ़ाते हुए वे कहते हैं :

प्रानी मेरो, खेलै चतुरगति चोपर।
नरद गंजफा कौन गिनत है, मानै न लेखे बुद्धिवर ॥[१]

इस संसार में मेरी आत्मा अथवा प्रत्येक प्राणी चतुर्गति रूप चौपड़ खेल रहा है। वस्तुतः बाह्य रूप से जो चौपड़ सामान्य व्यक्ति खेलते हैं, उससे चतुर्गति रूप चौपड़ की क्या समानता हो सकती है ? अर्थात् वुद्धिमानों की दृष्टि में चतुर्गति रूप चौपड़ के सामने नरद गंजफा[२] के खेलों का कोई महत्त्व नहीं। आनन्दघन कहते हैं :

राग दोस मोह के पासे, आप बणाए हितधर ॥
जैसा दाव परै पासे का, सारि चलावै खिलकर ॥[३]

आत्मा ने स्वयं प्रसन्न होकर संसाररूप चौपड़ को खेलने के लिए राग-द्वेष और मोह रूप पासे बना लिए हैं। जैसा पासा आता है उसी के अनुसार आत्मा रूप कर्म खिलाड़ी द्वारा सार (गोट) चलाई जाती है। तात्पर्य यह कि चतुर्गति रूप चौपड़ में आत्मा को राग-द्वेष और मोह रूप पासे के कारण ही विभिन्न शरीर धारण करना पड़ता है। आत्मा राग-द्वेष-मोह की जैसी-जैन्री प्रवृत्तियाँ करता है, तद्वत् उसे विभिन्न गतियों एवं उत्पत्ति स्थानों में जाना पड़ता है। निम्नलिखित पंक्तियों में आनन्दघन इसी चौपड़ के खेल का स्वरूप बताते हुए कहते हैं :

पाँच तलै हे दुआ भाई, छका तले है एका।
सब मिलि होत बराबर लेखा, इह विवेक गिणवेका ॥
चौरासी माँवै फिरै नीली, स्याह न तोरै जोरी।
लाल जरद फिरि आवै धरमैं, कबहुक जोरी बिछोरी ॥
भीर (भाव) विवेक के पाउ न आवत, तब लगि काची बाजी।
आनंदघन प्रभु पाव दिखावत, तौ जीतै जीव गाजी ॥[४]

१. आनन्दघन ग्रन्थावली, पद ५६।
२. गोटवाली चौपड़ और छोटे पत्तों का खेल।
३. आनन्दघन ग्रन्थावली, पद ५६।
४. वही।

चौपड़ चार पट्टी और ८४ खाने की होती है। तीन चौकोर पासों से वह खेली जाती है। चौपड़ खेलने के लिए नीली (हरी), काली (स्याह), लाल और पीली (जरद) चार रंगों की १६ सारें होती हैं। प्रत्येक पासे में पाँच :·: के नीचे की ओर दो : का चिह्न और छह ::: के नीचे की ओर एक . का चिह्न होता है। जिस तरह के चिह्न के पासे ऊपर की ओर होते हैं, तदनुसार सार चलती है। सार (गोटी) का जब तक तोड़ नहीं होता अर्थात् वह दूसरी सार मार कर हटा नहीं देती तब तक वह अपने घर में नहीं जा सकती। चौपड़ के ८४ खानों में नीली सार, काली सार से अपनी जोड़ी न तोड़कर फिरती रहती है, लेकिन लाल और पीली सार कभी-कभी अपनी जोड़ी तोड़ कर निज घर में आ जाती है। इसी तरह चतुर्गति रूप चौपड़ में भी ८४ लक्ष योनि रूप ८४ घर—उत्पत्ति-स्थान होते हैं। इन ८४ खानों में परिभ्रमण करने वाली कृष्ण, नील, कापोत और तेजो लेश्या रूप चार वर्णों की आत्मा के शुभाशुभ अध्यवसाय रूप सारें होती हैं। यद्यपि जैन दर्शन में षट्लेश्या[1]—मानी गई हैं, इनमें प्रथम की तीन लेश्या शुभ और अन्तिम तीन अशुभ कही गई है, फिर भी आनन्दघन ने चतुर्गति रूप चौपड़ की दृष्टि से यहाँ ४ लेश्याओं का ही संकेत किया है। कृष्ण और नील लेश्या के परिणाम वाले जीव ८४ लक्ष-योनि में घूमते रहते हैं। कृष्ण-नील की जोड़ी साधारणतया सदैव रहती है। किन्तु कपोत और तेजोलेश्या के परिणाम वाले जीव, सम्यक्त्व-सुबुद्धि के योग से कभी-कभी जोड़ी का नाश कर अपने मोक्ष रूपी घर में आ सकते हैं। ऊपर चौपड़ के खेल में यह भी बताया गया है कि प्रत्येक पासे के ऊपर की ओर पंजा और नीचे दुआ का चिह्न रहता है तथा पासे के ऊपर की ओर छक्का और नीचे की ओर एक का चिह्न रहता है। पाँच और दो तथा छह और एक-इन सबको मिलाने पर कुल चौदह होते हैं। उक्त चौदह की संख्या जैनदर्शन में मान्य आत्म-विकास के चतुर्दश सोपान (गुण स्थान) की ओर संकेत करती है। दूसरी दृष्टि से इन संख्याओं को रूपक के आधार पर भी समझा जा सकता है। पाँच इन्द्रिय, पाँच अव्रत अथवा पाँच आस्रव रूप पंजे को जिस साधक ने जीत लिया है, वह राग-द्वेष रूप दुआ को भी जीत लेता है और पंजे—दुए को जीत लेने पर वह षट्लेश्या अथवा काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और

---

१. कृष्ण, नील, कापोत, तेजो, पद्म और शुक्ल।

मत्सर इन षट्रिपु रूप छक्के पर भी विजय पा लेता है और जब पंजे, दुए तथा छक्के पर जय हो जाती है तब मन रूप एक्का स्वतः जीता जा सकता है। इसी भाव को उत्तराध्ययन में इस रूप में व्यक्त किया है :

एगे जिए जिया पंच, पंच जिए जिया दस।
दसहा उ जिणित्ताणं सव्व सत्तु जिणामहं ॥[1]

अर्थात् एक मन को जीत लेने पर पाँचों इन्द्रियों पर आत्मा की विजय हो जाती है। पाँचों इन्द्रियों पर विजय पा जाने के बाद पाँच प्रमाद और पाँच अव्रतों पर विजय प्राप्त कर ली जाती है और इसी प्रकार इन दसों को जीत लेने पर आत्मा के समस्त शत्रुओं को जीत लिया जाता है। अन्त में, आनन्दघन चौपड़ के खेल को समेटते हुए कहते हैं कि जिस प्रकार चौपड़ के खेल में पौ नहीं आती, तब तक सारें अपने गन्तव्य की ओर नहीं जा सकतीं। इसलिए वह खेल अधूरा ही रहता है। इसी तरह आत्मा में भी जब तक भाव-विवेक रूप पौ नहीं आती, तब तक चतुर्गति रूप चौपड़ का खेल अधूरा ही है। जब चतुर्गतिरूप चौपड़ खेलते हुए जीव को भाव-विवेक रूप (शुभ अध्यवसाय रूप) पाउ आता है तभी खेल में उसकी विजय होती है। पार पहुंचाने वाले अंक को 'पाउ' कहते हैं। चतुर्गति रूप चौपड़ के खेल में चौरासी लक्ष जीवयोनि में परिभ्रमण करते हुए संयोगवश मानव जीवन प्राप्त होता है और उसमें भी महादुर्लभ सम्यग्दर्शन रूप भाव-विवेक रूपी पाउ आता है तो ८४ लक्ष योनि मय चतुर्गतिरूप चौपड़ के खेल का अन्त आ जाता है और तब आत्मा मोक्ष रूपी घर में प्रवेश करता है। दूसरे शब्दों में, भाव-विवेक रूप पाउ के प्रकट होने पर आत्मा चतुर्गति रूप चौपड़ के खेल को जीतकर विजयी बन जाता है। यही चतुर्गति रूप चौपड़ के खेल का रहस्य है। इसी तरह आनन्दघन ने एक हिन्दू पौराणिक रूपक भी दिया है :

समता रतनागर की जाई, अनुभव चंद सु भाई।
कालकूट तजि भव में सेणी, आप अमृत ले जाई ॥

लोचन चरण सहस चतुरानन, इनते बहुत डराई।
आनन्दघन पुरुषोत्तम नायक, हितकरि कंठ लगाई ॥[2]

---

१. उत्तराध्ययन, २३।३६।

२. आनन्दघन ग्रन्थावली, पद ४।

उक्त पद में समता हृदय रूप समुद्र की पुत्री है और अनुभव रूप चन्द्रमा इसका भाई है। समता ने संसार के विषय-वासना रूप गरल को त्याग कर संसार में शान्ति रूप अमृत का सृजन किया है। वस्तुतः समता आर्त-रौद्र ध्यान रूप विष का परित्याग कर धर्म-शुक्ल ध्यान रूप अमृत ग्रहण करती है। सहस्रों नेत्र और हजार पैर वाले क्रोध, मान, माया और लोभ रूप चतुर्मुखी मोह रूप महाराक्षस को देखकर समता अत्यन्त भयभीत हो जाती है। उसे भयभीत देखकर पुरुषों में उत्तम ऐसे आनंद रूप परमात्मा ने उसे अपना लिया। इसी पद को हिन्दू पौराणिक रूपक द्वारा और अधिक स्पष्ट रूप से समझा जा सकता है।

हिन्दू पौराणिक मान्यतानुसार समुद्र से चौदह रत्न निकले, इसलिए वह 'रत्नाकर' कहलाता है। हिन्दू पुराणों में इस बारे में कहा जाता है कि अमृत प्राप्त करने के लिए एक बार देव और दानवों ने मिलकर समुद्र का मन्थन किया। मन्थन के लिए सुमेरू पर्वत को 'रई' (मथनी) बना और शेषनाग रूप रस्सी द्वारा समुद्र को मथा गया। समुद्र मन्थन के पश्चात् उनमें से चौदह रत्न[1] प्राप्त हुए। यहां द्रष्टव्य यह है कि आनन्दघन के अनुसार मानव-हृदय ही रत्नाकर है, क्योंकि इसमें समता, क्षमा, सन्तोष, ऋजुता, शान्ति आदि अनेक भाव रत्न भरे पड़े हैं। चूंकि हृदय में अनेक भाव उत्पन्न होते हैं और विलीन होते हैं, इसलिए भी हृदय समुद्रवत् है। आनन्दघन भी हृदय रूप समुद्र का मन्थन कर उसमें से समता रूप लक्ष्मी प्राप्त करते हैं। बुद्धि द्वारा हृदय रूप समुद्र का मन्थन होता है। मानव की समता-ममता रूप सद्-असद् वृत्तियां इसे इधर-उधर खींचती हैं। सद्वृत्तियां देवरूप हैं और असद् वृत्तियां असुर रूप। हृदय समुद्र के मन्थन से समता-लक्ष्मी प्रकट होती है जिसे हिन्दू-परम्परा में पहला रत्न कहा गया है और हृदय-मन्थन से ही छठा रत्न अनुभव रूप चन्द्रमा प्रकट होता है जिसके आलोक में आत्मा को जड़-चेतन का भेद-विज्ञान होता है। इसी हृदय-मन्थन से विषय-वासनारूप कालकूट विष भी

१. चौदह रत्न—(१) लक्ष्मी, (२) कौतुभ रत्न, (३) पारिजातक पुष्प, (४) सुरा, (५) धन्वतरि वैद्य, (६) चन्द्रमा, (७) कामधेनु, (८) ऐरावत हाथी, (९) रंभा देवांगना, (१०) सात मुखवाला उच्चैश्रवा अश्व, (११) काल-कूट (विष), (१२) धनुष, (१३) पांचजन्य शंख और (१४) अमृत।

निकलता है, जो १४ रत्नों में से ग्यारहवां रत्न है। इतना ही नहीं, अन्ततः इसी हृदयमन्थन से चौदहवां परमानन्द रूप अन्तिम रत्न अमृत प्राप्त होता है। समता सद्वृत्ति रूप है और सद्वृत्ति देवत्व की प्रतीक है। हिन्दू मान्यतानुसार देवताओं ने अमृत प्राप्त किया और दानवों ने विष। इसीलिए आनन्दघन ने इसी दृष्टि से कहा है कि समता रूप सद्वृत्तियों ने विषय-वासना रूप काल-कूट (विष) को छोड़कर शान्ति रूप अमृत-रस को ग्रहण किया। माया-ममता आदि असद् वृत्ति रूप हैं और असद् वृत्तियां दानवों की प्रतीक हैं। अतः माया-ममता आदि असद्वृत्ति रूप दानवों ने विषय-वासना रूप विष को पाया।

हिन्दू परम्परा में ब्रह्मा को चार मुख और हजार नेत्र तथा हजार पैर वाला कहा गया है। अतः विष्णु की पत्नी लक्ष्मी ब्रह्मा के इस विकराल रूप को देखकर डर जाती हैं, तब विष्णु उसे प्रेमपूर्वक गले लगा लेते हैं। यहां आनन्दघन ने क्रोध, मान, माया और लोभ रूप चतुर्मुखी मोह रूप महा-राक्षस को चतुरानन (ब्रह्मा) का रूपक दिया है, क्योंकि क्रोध, मान, माया और लोभ रूप चार मुखवाले मोह-राक्षस के भी हजार नेत्र और हजार पैर होते हैं। चतुर्मुखी मोह के अनेक भेद-प्रभेद हैं। इसलिए इस विक-राल मोह रूप ब्रह्मा के चार मुख, हजार नेत्र एवं हजार पैर देखकर आत्मारूपी विष्णु की पत्नी समतारूपी लक्ष्मी भयभीत हो जाती है। ऐसी स्थिति में आनन्द रूप आत्मा जो कि राग-द्वेष रहित और पुरुषों में श्रेष्ठ है, ऐसे वीतरागदेव रूप विष्णु ने समता रूप लक्ष्मी को प्रसन्नतापूर्वक अपना लिया।

वास्तव में प्रस्तुत पद में आनन्दघन ने श्रद्धा से मानी जानेवाली हिन्दू पौराणिक कथा का अत्यन्त बुद्धिगम्य सुन्दर रूपक देकर कल्पना-शक्ति का अद्भुत-कौशल प्रदर्शित किया है।

आनन्दघन ने एक अन्य पद में रूपक द्वारा हृदय-विदारक दृश्य प्रस्तुत किया है। इसमें शुद्ध चेतना रूप समता-प्रिया, शुद्ध चेतन रूप अपने प्रियतम से राग-द्वेष, क्रोध, मान, माया-लोभादि दुष्टों के काले-कारनामों का भण्डा-फोड़ करती हुई कहती है कि हे कंत! आपने वीर्यरूपी एक बूंद से शरीर-रूप महल बनाया और उसमें आपने अपनी ज्योति भी आलोकित की है किन्तु इस शरीर रूप महलमें तो राग-द्वेषरूप दो चोर बैठे हुए हैं, जो सदैव आत्मगुणों की चोरी करते रहते हैं। साथ ही, इस महल में श्वास और उच्छ-

वास रूप दो चुगलखोर भी घुसे हुए हैं जिनका काम ही केवल चुगली करना है। ये दोनों चुपके-चुपके काल को आयु-स्थिति में सूचना देते रहते हैं। इसलिए इस शरीररूप महल की कोई भी बात गुप्त नहीं रह गई है। इतना ही नहीं, इन्द्रियरूपी पाँच नारियां तथा मन, वचन काया रूप तीन स्त्रियां भी इस शरीर रूपी राजधानी में राज्य कर रही हैं। इनमें से एक मनरूपी स्त्री ने समूचे संसार को ही ज्ञान रूप खड्ग द्वारा अपने अधीन कर रखा है। आपके इस शरीर-महल में क्रोध, मान, माया और लोभ रूप चार पुरुषों ने भी निवास कर रखा है जो अनादि काल से भूखे हैं। सब कुछ खाकर भी ये तृप्त नहीं हुए हैं अर्थात् आत्मिक-गुणों को नष्ट करके भी इन्हें सन्तोष नहीं हुआ है। किन्तु सुयोग से इस शरीर रूप मन्दिर में एक ही यथार्थ वस्तु है और इस यथार्थ तत्त्व को जाननेवाला केवल आत्म-ज्ञानी है। वही उस वास्तविक तत्त्व को जानता है।[1]

इस प्रकार, आनन्दघन ने उक्त पद में बूंद, महिल, चोर, चुगल, त्रिया, राजधानी, खड्ग आदि के सुन्दर रूपक बाँध कर रहस्य को उद्घाटित किया है। सारांश, आनन्दघन के रूपक विविध आधारों को लेकर खड़े किए गए हैं। वास्तव में उनके रहस्यवाद का सौन्दर्य इन रूपकों से बहुत बढ़ गया है।

रहस्यात्मकता

रहस्यात्मक-पद्धति मर्मी सन्त कवियों की एक विशिष्ट पद्धति है। इसके अन्तर्गत गूढ़ एवं अनिर्वचनीय आध्यात्मिक अनुभूतियों को अटपटे रूपकों एवं प्रतीकों के माध्यम से व्यक्त किया जाता है। सामान्यतया रहस्यात्मक-पद्धति का अभिप्राय है किसी बात को रहस्यात्मक उक्ति के रूप में प्रस्तुत करना। ऐसी रहस्यात्मक-उक्ति वह है जिसमें गूढ़ार्थ भाव

---

१. एक बूंद को महिल बनायो, तामें ज्योति समानी हो।
दोय चोर दो चुगल महल में, बात कछु नहि छानी हो॥
पांच अरु तीन त्रिया मंदिर में, राज करै राजधानी हो।
एक त्रिया सब जग बस कीनो, ज्ञान खड्ग बस आनी हो।
चार पुरुष मंदिर में भूखे, कबहू त्रिपत न आनी हो।
इक असील इक असली बूझै, बूझ्यौ ब्रह्मा ज्ञानी हो॥
—आनन्दघन ग्रन्थावली, पद ६९।

निहित हो, जिसे सामान्य जन न समझ सकें तथा जो पढ़ने पर असंगत एवं बेसिर-पैर की प्रतीत हो; किन्तु गहराई में प्रवेश करने पर उसका गम्भीर अर्थ निकले। मुख्य रूप से इसमें आध्यात्मिक तथ्यों को लोक विपरीत ढंग से वर्णित किया जाता है। लोक जीवन में यह पहेली और लिखित साहित्य में उलटवासी अथवा रहस्यात्मक उक्ति के रूप में प्रसिद्ध है।

हिन्दी-साहित्य में इसे उलटवासी, अटपटो बानी, सन्ध्या-भाषा, गूढ़ोक्ति आदि कहा जाता है। जैन परिभाषा में सम्भवतः इसे 'हरियाली,'[1] किंवा 'उलटोबानी' कहा गया है। इसमें सन्देह नहीं कि इस पद्धति की परम्परा अतिप्राचीन है। इसका मूल वेदों[2], उपनिषदों[3] तथा बौद्ध -साहित्य[4] में भी खोजा जा सकता है। वस्तुतः इस पद्धति का सबसे अधिक व्यापक प्रयोग सिद्धों और नाथ-पन्थी योगियों ने किया। आगे चलकर इस परम्परा को कबीर, दादू, रज्जब आदि ने भी अपनाया। सन्त आनन्दघन पर भी कबीर आदि की इस शैली का प्रभाव दृष्टिगत होता है।

रहस्यात्मक उक्तियां प्रायः जटिल, रहस्यमय और अस्पष्ट होती हैं जिनका अर्थ जानने के लिए कठिन अभ्यास करना पड़ता है। यद्यपि यह स्पष्ट है कि आनन्दघन के पदों में कहीं भी 'अटपटी बानी,' 'उलटीचाल,' 'उलटवासी' या 'हरियाली' शब्द का प्रयोग नहीं दिखाई देता, तथापि इनके पदों को पढ़ने पर ऐसा प्रतीत होता है कि इनके अधिकांश पद रहस्यात्मक उक्ति के अन्तर्गत आते हैं। कबीर की भांति इन्होंने भी कहीं-कहीं 'अकथ कहानी आनन्दघन बाबा,' 'आनन्दघन इस पद कूं बूझे,' 'अवधू सो जोगी गुरु मेरा; इन पद का करे रे निवेडा 'इत्यादि शब्दों का प्रयोग पदों के आदि या अन्त में किया है, जो उनकी रहस्यात्मक-पद्धति

१. श्री आनन्दघन जी नां पदो, भाग २, परिशिष्ट, पृ० ४९७।

२. (क) ऋग्वेद, २।१।१५२।३, वही, ३।४।५८।३, वही, ४।५।४७।५
(ख) अथर्ववेद, ९।९।५

३. (अ) ईशोपनिषद्, ४-५।
(ब) कठोपनिषद् १।२।२०
(स) श्वेताश्वतर उपनिषद्, ३।१९-२०

४. धम्मपद, पकिण्णवग्गो ५-६, चर्यापद २, ११, ३३।

की ओर इंगित करता है। अतः यहाँ सन्त आनन्दघन की कतिपय रहस्यात्मक उक्तियाँ व्याख्या सहित देना समीचीन होगा, जिससे उनकी बोध-वृत्ति और मौलिकता का अनुमान लगता है। निम्नोक्त पद में उन्होंने विचित्रताओं का एक विलक्षण रूप खड़ा किया है। वे कहते हैं कि 'हे अवधू ! जो योगी इस पद का गूढ़ार्थ स्पष्ट कर दे, वही मेरा गुरु हो सकता है। एक वृक्ष है। जिसके न जड़ है, न छाया और न फूल। फिर भी, उस पर फल लगा हुआ है। उसे शाखा और पत्ते आदि कुछ भी नहीं हैं, किन्तु उसका अमृत-रस आकाश में लगा हुआ है। यह विचित्र वृक्ष आत्मा है। यहां आत्मा को वृक्ष का रूपक दिया गया है।

आत्मारूपी एक वृक्ष है जिसकी कोई जड़ नहीं है, क्योंकि आत्मा अनादिकाल से है इसलिए इसका मूल कहीं भी नहीं खोजा जा सकता। इस मूल रहित वृक्ष की छाया भी नहीं है। चूँकि, आत्मा अरूपी है इसलिए उसका प्रतिबिम्ब नहीं पड़ सकता। इस मूल रहित अरूपी वृक्ष पर बिना फूल के ही मोक्षरूपी फल लगा हुआ है। इतना ही नहीं, इस वृक्ष के शाखा-पत्ते आदि कुछ नहीं है, तथापि परमानन्दरूप अमृत-रस सिद्ध-शिलारूप लोकाकाश के अग्रभाग में है।

आत्मारूपी एक वृक्ष है। उस पर अन्तरात्मा और मनरूपी दो पक्षी बैठे हुए हैं। अन्तरात्मारूपी पक्षी गुरु है और मनरूपी पक्षी शिष्य।

अन्तरात्मारूपी गुरु मनरूपी शिष्य को सत्प्रेरणा देता है और उसे अपने वश में रखने का प्रयास करता है किन्तु मनरूपी शिष्य स्वभाव से चंचल है। वह बाह्य-जगत् के विषय-वासनाओं में भटकता रहता है और संसार के पौद्गलिक पदार्थों को चुन-चुन कर खाने में संलग्न है जबकि अन्तरात्मारूपी गुरु संसार के बाह्यभावों से विमुख होकर निरन्तर निज गुणों में ही रमण कर रहा है। आनन्दघन का यह कथन कि 'तरुवर एक पंछी-दोउ बैठे, एक गुरु एक चेला'—मुण्डकोपनिषद् के उस रूपक की याद दिला देता है, जिसमें भोगों में आसक्त जीव और विषयों से उदासीन शुद्धात्मा में भेद का उल्लेख एक वृक्ष पर बैठे हुए दो पक्षियों द्वारा किया गया है।[1]

---

१. द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्व जाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति ॥
—मुण्डकोपनिषद्, ३।१।८

मूखरूपी गगन-मण्डल के मध्य एक कूप है। वहाँ अमृत का वास है। खेचरी मुद्रा को गुरुगम से जानकर जिस शिष्य ने इसकी सिद्धि की है, वही इस कूप से आनन्द रूप अमृत के प्याले भर-भर कर पीता है। किन्तु गुरु विहीन शिष्य अमृत का पान किए बिना ही कूप से प्यासा लौट जाता है। गोरख आदि योगी की अपेक्षा से यह बाह्य अर्थ होता है, लेकिन सहज योगी ऐसे अमृत की इच्छा नहीं करते। अतः इसका दूसरा अर्थ यह भी हो सकता है कि मानव देह में स्थित गगन-मण्डल का मध्य भाग नाभि, वहाँ आत्मा के आठ रूचक प्रदेश रूप अमृत का कूप है। एक-एक प्रदेश में अनन्त आनन्दरूप अमृत-रस भरा है। प्रदेश कर्मफल से रहित या निर्मल है। जो गुरुगम से ज्ञान प्राप्त कर नाभि में ध्यान लगाता है। वह आनन्दरूप अमृत के प्याले भर-भर कर पीता है अथवा शीर्ष सम्बन्धी गगन-मण्डल के मध्य ब्रह्मरन्ध्र रूप कूप है, जिस शिष्य के मस्तक पर सुगुरु का हाथ है, वह ब्रह्मरन्ध्र में आत्मा का ध्यान करके समाधि लगाता है और फलतः अमृत का पान करता है, किन्तु गुरु विहीन शिष्य उस अमृत से वंचित रहता है।

तीर्थंकर परमात्मा के मुखरूपी गगन-मण्डल में वाणीरूपी गाय का उद्भव हुआ और वाणीरूपी गाय से निःसृत उपदेश रूप दूध को मर्त्यलोक रूपी धरती पर गणधरों के द्वारा जमाया गया, गूंथा गया। तदनन्तर उसे ज्ञानियों द्वारा बुद्धिरूपी मथानी से मंथन करने पर ज्ञान, दर्शन, चरित्र के अखण्डानन्दरूप नवनीत को तो विरले पुरुषों ने ही पाया, शेष संसार के प्राणी छाछ में ही सन्तुष्ट हो गये।

आत्मारूपी तम्बूरे में बिना डण्ठल के पत्र हैं और बिना पत्ते के यह आत्मारूपी तूम्बा (फल) है। बिना जिह्वा के गुण-गान हो रहा है। इतना ही नहीं, आत्मा रूपी गायक का न रूप है, न उसकी रेखा है, क्योंकि वह अरूपी है फिर भी, असंख्यात प्रदेश रूप आत्मा शरीररूपी तम्बूरे को पराभाषा द्वारा बजाता है। अभिप्राय यह है कि शरीर स्थित आत्मा ही तम्बूरा है और आत्मा ही इसे बजानेवाला है। यह बात सुगुरु के द्वारा बताई गई है।

आत्मानुभव के बिना उपर्युक्त सूक्ष्म गहन भावों का ज्ञान नहीं हो सकता और न अन्तर्ज्योति को प्रकट किया जा सकता है। आनन्दघन

कहते हैं कि जो साधक उस शुद्धात्म तत्त्व की मूर्ति को अपने घट के भीतर परख लेता है, अनुभव कर लेता है, वह आनन्द पुंज रूप परमपद को प्राप्त होता है।'[1] इसी तरह 'अवधू एसो ज्ञान बिचारी, वामे कोण पुरुष कोण नारी' पद में भी रहस्यात्मक-पद्धति का प्रयोग हुआ है। उसमें आनन्दघन का कथन है कि 'हे अवधू! इस रहस्य पर विचार करो, जिससे यह ज्ञान हो सके कि उसमें पुरुष कौन है और स्त्री कौन है? यह आत्मा ब्राह्मण के रूप में स्नानादि बाह्यशौच में प्रवृत्त हुई और योगी के रूप में शिष्या बन कर रही है। मुसलमान के रूप में उत्पन्न होने से कलमा पढ़-पढ़ कर यह तुर्कनी भी हुई है। फिर भी, यह अकेली ही रहती है, क्योंकि ये सभी पर्याय भाव इसका निज स्वरूप नहीं है। यही भाव प्रकारान्तर से आनन्दघन के—

जोगिये मिलिने जोगण कीधी, जतिये कीधी जतनी।
भगते पकड़ी भगतणी कीधी, मतवाले कीधी मतणी॥
राम भणी रहमान भणावी, अरिहंत पाठ पठाई।
घर घर ने हूँ धंधे विलगी, अलगी जीव सगाई॥[2]

---

१. अवधू! सो जोगी गुरु मेरा, इन पद का करे रे निवेडा।
तरुवर एक मूल बिन छाया, बिन फूले फल लागा।
शाखा पत्र नहीं कछु उनकु, अमृत गगने लागा॥ १॥
तरुवर एक पंछी दोउ बैठे, एक गुरु एक चेला।
चेले ने जुग चुण चुण खाया, गुरु निरन्तर खेला॥ २॥
गगन मंडल में अधविच कूआ, उहां है अभी का वासा।
सगुरु होवे सो भर-भर पीवे, न गुरु जावे प्यासा॥ ३॥
गगन मंडल में गउआ बिहानी, धरती दूध जमाया।
माखण थासो बिरला पाया, छासे जग भरमाया॥ ४॥
थड बिनु पत्र, पत्र बिनु तुंबा, बिन जीभ्या गुण गाया।
गावन वाले का रूप न रेखा, सुगुरु मोही बताया॥ ५॥
आतम अनुभव बिन नहीं जाने, अंतर ज्योति जगावै।
घट अन्तर परखे सोही मूरति, आनन्दघन पद पावै॥ ६॥
—आनन्दघन ग्रन्थावली, पद १०३।

२. आनन्दघन ग्रन्थावली, पद ६६।

कहते हैं कि जो साधक उस शुद्धात्म तत्त्व की मूर्ति को अपने घट के भीतर परख लेता है, अनुभव कर लेता है, वह आनन्द पुंज रूप परमपद को प्राप्त होता है।'[1] इसी तरह 'अवधू एसो ज्ञान बिचारी, वामे कोण पुरुष कोण नारी' पद में भी रहस्यात्मक-पद्धति का प्रयोग हुआ है। उसमें आनन्दघन का कथन है कि 'हे अवधू! इस रहस्य पर विचार करो, जिससे यह ज्ञान हो सके कि उसमें पुरुष कौन है और स्त्री कौन है? यह आत्मा ब्राह्मण के रूप में स्नानादि बाह्यशौच में प्रवृत्त हुई और योगी के रूप में शिष्या बन कर रही है। मुसलमान के रूप में उत्पन्न होने से कलमा पढ़-पढ़ कर यह तुर्कनी भी हुई है। फिर भी, यह अकेली ही रहती है, क्योंकि ये सभी पर्याय भाव इसका निज स्वरूप नहीं है। यही भाव प्रकारान्तर से आनन्दघन के—

जोगिये मिलिने जोगण कीधी, जतिये कीधी जतनी।
भगते पकड़ी भगतणी कीधी, मतवाले कीधी मतणी ॥
राम भणी रहमान भणावी, अरिहंत पाठ पठाई।
घर घर ने हूँ धंधे विलगी, अलगी जीव सगाई ॥[2]

---

१. अवधू! सो जोगी गुरु मेरा, इन पद का करे रे निवेडा।
तरुवर एक मूल बिन छाया, बिन फूले फल लागा।
शाखा पत्र नहीं कछु उनकु, अमृत गगने लागा ॥ १ ॥
तरुवर एक पंछी दोउ बैठे, एक गुरु एक चेला।
चेले ने जुग चुण चुण खाया, गुरु निरन्तर खेला ॥ २ ॥
गगन मंडल में अधविच कूआ, उहां है अभी का वासा।
सगुरु होवे सो भर-भर पीवे, न गुरु जावे प्यासा ॥ ३ ॥
गगन मंडल में गउआ बिहानी, धरती दूध जमाया।
माखण थासो बिरला पाया, छासे जग भरमाया ॥ ४ ॥
थड बिनु पत्र, पत्र बिनु तुंबा, बिन जीभ्या गुण गाया।
गावन वाले का रूप न रेखा, सुगुरु मोही बताया ॥ ५ ॥
आतम अनुभव बिन नहीं जाने, अंतर ज्योति जगावै।
घट अन्तर परखे सोही मूरति, आनन्दघन पद पावै ॥ ६ ॥
—आनन्दघन ग्रन्थावली, पद १०३।

२. आनन्दघन ग्रन्थावली, पद ६६।

पद में स्पष्टतः झलकता है। चेतना कर्मों के कारण भिन्न-भिन्न रूप में परिवर्तित होती रहती है, पर्यायों को धारण करती रहती है, किन्तु नैश्चयिक दृष्टि से आत्मा शुद्ध स्वरूपी होने के कारण अकेली ही है। आत्मचेतना कहती है कि मेरा परिणामरूप श्वसुर तो बालक जैसा भोला है, काल परिणतिरूपी सास बाल कुमारी है और उसके चेतनरूप पतिदेव अभी ममतारूपी झूले में ही सोए हुए हैं। वही पतिदेव को ममतारूपी झूले में झुलानेवाली है।

वह न विवाहिता है और न कुमारी ही। वह हमेशा कर्मरूप अनेक पुत्रों को जन्म देती रहती है। यद्यपि वह विवाहिता नहीं है, तथापि कृष्ण लेश्या अर्थात् अशुभ अध्यवसाय रूप किसी भी पुरुष को नहीं छोड़ा है जो उसके साथ विषय-कषाय से मुक्त रहा हो। फिर भी वह अब तक ब्रह्मचारिणी ही कहलाती है। पारमार्थिक दृष्टि से कोई भी इसका उपभोग नहीं कर सका है। कहा भी है—'भोगा न भुक्ताः वयमेव भुक्ताः।'

ढाई द्वीप रूपी पलंग पर उसकी सेज बिछी हुई है और इच्छाओं का आकाशरूपी तकिया है। तृष्णारूपी पृथ्वी के छोर को और अनन्त इच्छारूपी आकाश को ओढ़ने की चादर बनाई है, फिर भी उसका पूरा शरीर नहीं ढँका, उसकी आशा-तृष्णा शान्त नहीं हुई।

तीर्थंकर परमात्मा के मुखरूपी गगन-मण्डल में वाणरूपी गाय का प्रकाश हुआ और उसका दूध पृथ्वी पर जमाया। उसका मन्थन सभी ने किया, किन्तु परमतत्त्वरूप अमृत को किसी विरल पुरुष ने ही प्राप्त किया।

वह न अपने समतारूपी ससुराल जाती है और न मोह-ममतारूपी पीहर ही। उसने तो अपने चेतनरूप पतिदेव की अविनाश रूपी सेज यहीं पर बिछा दी है। अतः आनन्दघन कहते हैं कि हे सज्जन-सन्तों! सुनो, अन्ततः चेतना चेतन रूपी ज्योति में मिल गई। चेतन और चेतना का द्वैत भाव समाप्त होकर अद्वैत स्थापित हो गया।[1]

---

१. अवधू ऐसो ज्ञान बिचारी, वामें कोण पुरुष कोण नारी ?
बम्भन के घर न्हाती धोती, जोगी के घर चेली।
कलमा पढ़ पढ़ भई रे तुरकड़ी, तो आपही आप अकेली ॥ १ ॥

अन्य पदों में भी आनन्दघन ने रहस्यात्मकता का प्रयोग किया है। एक पद में उन्होंने कहा है—'हे चेतना रूपी चरखा चलानेवाली! सुन, तेरा यह शरीररूपी चरखा अहंकाररूप चूं चूं की आवाज कर रहा है। चेतना की वीर्य रूपी जल व गर्भाशयरूपी स्थल में उत्पत्ति हुई और स्वयं ही शरीर रूपो नगर में निवास करने लगी। एक आश्चर्य ऐसा देखा है कि ममतारूपी बिटिया ने मोह-अज्ञान रूप पिता को जन्म दिया है। चेतना भावना-भक्ति रूपी रूई को लेकर स्मरण रूप शुद्धिकरण के लिए ज्ञान रूप जुलाहे के पास गई। ज्ञान रूपी जुलाहे ने मनरूपी रूई को साफ करने के लिए एकाग्रतारूपी करघे को चलाया। ममतारूपी बिटिया अपने मोह रूप पिता से कह रही है कि मेरा ब्याह करो। मैं शुद्धात्म रूप से उत्तम वर चाहती हूँ। जब तक शुद्धात्म रूप वर नहीं मिलता है तब तक ममता रूपी बिटिया से मोह रूप पिता का जन्म होता रहेगा। तात्पर्य यह है कि ममता से अज्ञान और अज्ञान से ममता का क्रम चलता रहेगा।

मायारूपी सास, कुमति रूपी नणंद और अशुद्ध चेतन रूप पति भी मर जाय, किन्तु इस देह रूप चरखे का ज्ञान करानेवाला सद्‌गुरू रू पी बुड्ढा न मरे। मुझे उनसे ज्ञान वृत्ति एवं भक्तिरूपी अथवा विभिन्न साधना रूप जो चरखा मिला है, उसे यह चरखा बता दे। मेरा यह शरीर रूपी चरखा विविध साधना रूपी रंगों से रंगा हुआ है। इससे सूत कातने के लिए शुद्ध भावना रूपी पूणी है। सुमति रूपी सुन्दर जुलाहिन अप्रमत्त

ससरो हमारो बालो भोलो, सासू बाल कुमारी।
पियुजी हमारो पोढे पारणीये, तो मैं हूं झुलावन हारी ॥ २ ॥
नहीं तूं परणी नहीं हूं कुँवारी, पुत्र जणावनहांरी।
काली दाढ़ी को मैं कोई नहीं छोड्यो, तो हजुहुं बालकुमारी ॥ ३ ॥
अढी द्वीप में खाट खटुली, गगन ओशी कुं तलाई।
धरती को छेडो आभकी पिछोडी, तोय न सोड भराई ॥ ४ ॥
गगन मंडल में गाय बिआणी, बसुधा दूव जमाई।
सउरे सुनो भाई बलोणूं बलोवे, तो तत्त्व अमृत को पाई ॥ ५ ॥
नहीं जाउं ससरीए ने नहीं जाउं पीयरीए, पीयुजी की सेज बिछाई।
आनन्दघन कहे सुनो भाई साधु, तो ज्योति में ज्योति मिलाई ॥ ६ ॥
—आनन्दघन ग्रन्थावली, पद १०१।

होकर तारों को गिन-गिन कर निकाल रही है। आनन्दघन कहते हैं कि इस शरीर रूप चरखे में तो 'सोऽहं' रूप 'मैं' का आत्मतत्त्व है। किन्तु उस 'सोऽहं' ('वही मैं हूँ') रूप आत्मतत्त्व को सभी नहीं देख पाते हैं या उसे भाषा में अभिव्यक्त नहीं कर पाते हैं। जो साधक आनन्दघन रूप इस 'सोऽहं' की विभूति को जान लेता है, अनुभव कर लेता है, उसका इस संसार से आवागमन का चक्र मिट जाता है।[1] इस रहस्यात्मक उक्ति में आनन्दघन ने साधना और ज्ञान के प्रतीकों का प्रयोग किया है।

इस प्रकार, आनन्दघन के 'जगत गुरू मेरा, मैं जगत का चेला'[2] तथा 'देख्यो एक अपूरब बेला। आप ही बाजी आप बाजीगर, आप गुरू आप चेला।[3] आदि पदों में भी रहस्यात्मक-पद्धति के सुन्दर उदाहरण देखे जा सकते हैं। उनकी ऐसी रहस्यात्मक एवं दार्शनिक उक्तियों का अर्थ अनुमान से अवश्य लगाया जा सकता है, किन्तु उनके वास्तविक अभिप्राय तक पहुंच पाना सबके वश को बात नहीं है। कबीर की रहस्यात्मक उक्तियों के साथ आनन्दघन की रहस्यात्मक उक्तियों की तुलना

---

१. सुण चरखेवाली चरखो बोले तेरो हुं हुं हुं।
जल में जाया थल में उपना, बस गया नगर में आप।
एक अचंभा ऐसा देखा, बेटी जाया बाप रे॥ १॥
भाव भगति की रूई मंगाई, सुरत पींजावण चाली।
ज्ञान पींजारो पींजण बैठो, तांत पकड़ झण काई रे॥ २॥
बावल मेरो व्याव कीजो है, अण जाण्यो वर आप।
अण जाण्यो वर नहि मिले तो, बेटी जाया बाप रे॥ ३॥
सासू मरे जो नणद मरे जो, परण्यो भी मर जाय।
एक बुढीओ नहि मरे तो, तिण चरखो दीजो बताय॥ ४॥
चरखो मारो रंग रंगीलो, पुणी हे गुलजार।
कातनवाली छैल छबीली, गीन गीन काढे तार रे॥ ५॥
इणी चरखा में हुं हुं लिख्यौ है, हुं हुं लिखे नहीं कोय।
आनन्दघन या लिखे विभुति, आवागमन नहीं होय रे॥ ६॥
—आनन्दघन ग्रन्थावली, पद ११४।

२. वही, पद ६।

३. वही, पद ५५।

करने पर यह विदित हुए बिना नहीं रहता कि उन पर कबीर की शैली का प्रभाव अवश्य रहा है।

अनेकान्त-दृष्टि

सन्त आनन्दघन के रहस्यवाद में उपर्युक्त विवेचन-पद्धतियों के अतिरिक्त जैन परम्परा के अनेकान्त, स्याद्वाद, सप्तभंगी और नयवाद का का प्रभाव भी स्पष्टतः परिलक्षित होता है। उन्होंने अनेकान्तवाद और नयवाद द्वारा सहज सुलभ भाषा में तत्त्वज्ञान के रहस्य को उद्घाटित किया है।

यद्यपि जैनागमों में अनेकान्त-दृष्टि के विचार बीज रूप में निहित हैं, किन्तु उसका पुष्पित एवं पल्लवित रूप पश्चात्वर्ती जैनाचार्यों के साहित्य में दिखाई देता है। वस्तुतः अनेकान्त-दृष्टि को दार्शनिक धरातल पर लाने का श्रेय आचार्य सिद्धसेन तथा मल्लवादी को है जिन्होंने सन्मति प्रकरण एवं नयचक्र आदि में इस पर विशद् विचारणा की है। इनके अतिरिक्त समन्तभद्र, अकलंक, आचार्य हरिभद्र, विद्यानन्द आदि जैन दार्शनिकों ने भी इसका विकास किया।

आनन्दघन की विवेचनाओं का आधार भी अनेकान्त-दृष्टि रही है। उनका 'अवधू नटनागर की बाजी'[1] पद अनेकान्त-दृष्टि का सुन्दर उदाहरण है। इसी तरह उनकी 'षट्दर्शन जिन अंग भणीजे'—से प्रारम्भ होनेवाली नमिजिन-स्तवन भी अनेकान्तवाद की दृष्टि से एक महत्त्वपूर्ण कृति है। इसमें उन्होंने षट्दर्शनों में समन्वय कर अनेकान्तवाद की स्थापना की और षड्दर्शनों को समय-पुरुष (सिद्धान्त पुरुष) के विभिन्न अंग के रूप में प्रतिपादित किया।

वास्तव में, अनेकान्त दृष्टि एक ऐसी अनोखी पद्धति है जिसमें समग्र दर्शन समाहित हो जाते हैं, जैसे हाथी के पैर में अन्य पशुओं के पैर, माला में मोती और सागर में सरिताएं समा जाती हैं। इस सम्बन्ध में आनन्दघन का सुप्रसिद्ध निम्नलिखित पद द्रष्टव्य है :

जिनवर मां सघला दरसण छे, दरसण जिनवर भजना रे।
सागरमां सघली तटनी सही, तटनी सागर भजना रे॥[2]

१. आनन्दघन ग्रन्थावली, पद ५९।

२. वही, नमिजिन स्तवन।

श्रीमद् राजचन्द्र जी ने भी कहा है:

भिन्न-भिन्न मत देखीए, भेद दृष्टिनो एह।
एक तत्त्वना मूल मां, व्याप्या मानो तेह ॥[1]

एकान्त और अनेकान्त में मौलिक भेद यही है कि एकान्त कथन में 'ही' का आग्रह रहता है और अनेकान्त-दृष्टि में 'भी' के सदाग्रह की प्रधानता रहती है। जैनदर्शन में एकान्त को मिथ्यात्व कहा गया है।[2] सन्त आनन्दघन ने भी एकान्त निरपेक्ष वचन को मिथ्या बताकर सापेक्ष (अनेकान्त) वचन की यथार्थता पर बल दिया है। वे कहते हैं:

वचन निरपेख व्यवहार झूठो कह्यौ, वचन सापेख व्यवहार सांचो।
वचन निरपेख व्यवहार संसारफल, सांभली आदरी कांइ राचो ॥[3]

उनका उद्घोष है कि निरपेक्ष वचन-अपेक्षारहित या एकान्त वचन मिथ्या है, असत्य है और सापेक्षवचन—अनेकान्तवचन सत्य है। एकान्त वचन का प्रयोग करना असद्व्यवहार है और वह संसार को बढ़ाता है।

अनेकान्त-दृष्टि चिन्तन की एक ऐसी व्यापक विचार पद्धति है, जो सर्वांगीण दृष्टि प्रदान करती है। इसमें सभी दृष्टियों का समादर, समन्वय तथा वस्तु का पूर्ण प्रतिपादन करने की क्षमता है। 'अनन्तधर्मात्मकं वस्तु'[4]—जैनदर्शन का सुप्रसिद्ध सिद्धान्त है। एक ही वस्तु में अनन्त धर्मों की सत्ता है। 'अनेकान्त' शब्द वस्तु के अनन्त धर्म का उद्घोष करता है, किन्तु वस्तु के अनेक धर्मों को एक ही शब्द से एक समय में युगपद् नहीं कहा जा सकता। इसीलिए जैनदर्शन में 'स्याद्वाद' का विकास हुआ। स्याद्वाद कथन करने की एक निर्दोष भाषा-पद्धति है। अतः यह वस्तु की अनेक धर्मता का अपेक्षा दृष्टि से कथन करती है। 'स्यात्' शब्द

१. श्रीमद् राजचंद्र (हिन्दी अनुवाद), प्रथम खण्ड, पृ० २२५।
२. एगंत होइ मिच्छत्तं।
३. आनन्दघन ग्रन्थावली, अनन्त जिन स्तवन।
४. 'अनन्तधर्मात्मकमेवतत्त्वम्'—
—स्याद्वाद मंजरी, २२, पृ० २००।
'वस्तु-धर्मो ह्यनेकान्तः'
—अनेकान्त-व्यवस्था, प्रथम भाग, प्रकरण—उपा० यशोविजय, श्लो० ३।

अव्यय है और यह अव्यय अनेकान्त का द्योतक है। इस कारण स्याद्वाद को अनेकान्तवाद भी कहा जाता है।[१] आचार्य हेमचन्द्र ने भी 'स्यात्' शब्द को अनेकान्तबोधक माना है।[२] यद्यपि दोनों में कोई विशेष पार्थक्य प्रतीत नहीं होता, तथापि सूक्ष्म-दृष्टि से देखने पर दोनों में प्रतिपाद्य-प्रतिपादक सम्बन्ध दृष्टिगोचर होता है। आचार्य अकलंक के अनुसार 'अनेकान्तात्मक वस्तु को भाषा द्वारा प्रतिपादित करनेवाली पद्धति ही स्याद्वाद है।'[३] स्याद्वाद पद्धति के कथन का आधार है सप्तभंगी। जैनदर्शन में सप्तभंगी का अभिप्राय भाषायी अभिव्यक्ति के सात प्रकारों से है। स्याद्वाद जहां वस्तु का विश्लेषण करता है वहीं सप्तभंगी वस्तु के अनन्त धर्मों में से प्रत्येक धर्म की विश्लेषण करने की प्रक्रिया को प्रस्तुत करती है। इसे 'सप्तभंगी न्याय' भी कहा जाता है। सप्तभंगी क्या है? इसका समुचित उत्तर मल्लिषेण ने दिया है:

सप्तभिः प्रकारैः वचनविन्यासः सप्तभंगीतिगीयते।[४]

अर्थात् वस्तु के स्वरूप कथन में सात प्रकार के वचनों का प्रयोग किया जाना ही 'सप्तभंगी' कहा जाता है। आचार्य 'अकलंक के अनुसार प्रश्न उठने पर एक वस्तु में अविरोध भाव से एक धर्म विषयक जो विधि और निषेध की कल्पना की जाती है, उसे सप्तभंगी कहते हैं।'[५]

सरल शब्दों में, सप्त यानी सात और भंग अर्थात् विकल्प, प्रकार या भेद। किसी भी एक वस्तु के, किसी भी एक धर्म के विषय में सात प्रकार के वचन-प्रयोग से ही विवेचन सम्भव है। सात प्रकार के वचन-प्रयोग के अतिरिक्त आठवाँ वचन प्रकार का प्रयोग नहीं हो सकता। ये सप्तभंग प्रत्येक धर्म पर घटित किये जा सकते हैं। सप्तभंगी के मूलभंग तीन

१. स्यादित्यव्ययमनेकान्त द्योतकं, ततः स्याद्वादोऽनेकान्तवादः।
—स्याद्वाद मंजरी, ५।

२. अन्ययोगव्यवच्छेदिका, कारिका, २८।

३. अनेकान्तात्मकार्थ कथनं स्याद्वादः।
—लघीयस्त्रय टीका ६२ अकलंक।

४. स्याद्वाद मंजरी, कारिका २३ टीका।

५. प्रश्नवशादेकस्मिन् वस्तुन्य विरोधेन विधि-प्रतिषेध-विकल्पना सप्तभंगी।
—आ० अकलंक देव, तत्त्वार्थराजवार्तिक सूत्र, १।५ टीका।

हैं। आनन्दघन ने भी मुख्यरूप से आत्मा पर तीन ही भंग घटित किये हैं। इस सम्बन्ध में उनका निम्नलिखित पद द्रष्टव्य है :

है, नाहीं, है वचन अगोचर, नय प्रमाण सतभंगी।
निरपखि होई लखै कोई विरला, क्या देखे मतजंगी ॥[1]

अर्थात् 'है' 'नहीं है' और 'वचन से जो कहा नहीं जा सकता' ('अवक्तव्य है') इसे सप्तभंगी न्याय की भाषा में 'स्यात् अस्ति, स्यात् नास्ति और स्यात् अवक्तव्यम्' कहा जाता है। वचन के ये तीन मूल प्रकार हैं, जिनका प्रयोग उक्त पद में किया गया है और इन्हीं के ही चार उत्तर भेद— 'स्यात् अस्ति नास्ति, स्यात् अस्ति अवक्तव्यम्', 'स्यान्नास्ति अवक्तव्यम्' और 'स्यात् अस्तिनास्ति अवक्तव्यम्' मिलने से सप्तभंगी बनती है। विमल दास ने 'सप्तभंगी तरंगिणी' में इसका विस्तृत विवेचन किया है।

इस प्रकार, कहा जा सकता है कि स्याद्वाद का उद्गम स्थल अनेकान्तवस्तु है और सप्तभंगी उस अनेकान्त-वस्तु को व्यक्त करने की एक विश्लेषणात्मक प्रक्रिया है। यह अपेक्षा भेद से एक ही वस्तु में प्रतीत होनेवाले विरोधी धर्मयुगलों का विरोध दूर करती है। जो वस्तु सापेक्ष दृष्टि से सत् है अर्थात् उसमें किन्हीं गुण-धर्मों की उपस्थिति है, वही अन्य अपेक्षा से असत् भी है अर्थात् किन्हीं गुण-धर्मों का उसमें अभाव है, किन्तु जिस रूप में वह सत् है उस रूप में वह असत् नहीं है। आनन्दघन ने भी इस पद्धति का अवलम्ब लेते हुए आत्म-तत्त्व की विवेचना के सन्दर्भ में सत्-असत् की चर्चा की है।[2] उनके अनुसार आत्मा में सत्-पक्ष और असत्-पक्ष दोनों हैं। स्व द्रव्य की अपेक्षा इसमें अस्ति पक्ष है और पर द्रव्य की अपेक्षा नास्ति पक्ष। निज ज्ञानादि गुण-पर्याय की परिणति, क्षायिक आदि भाव तथा निज चेतन स्वभाव की अपेक्षा से आत्मा में सत् पक्ष है और जड़ पदार्थ के गुण, वर्ण, गंध, रस, स्पर्श आदि आत्मा में न होने की अपेक्षा

---

१. आनन्दघन ग्रन्थावली, पद ५९।

२. चेतन सकल वियापक होई।
सत् असत् गुण पर जाय परिणति, भाउ सुभाउ गति जोई ॥
स्व पर रूप वस्तु की सत्ता, सीझे एक नहीं दोई।
सत्ता एक अखण्ड अबाधित, यह सिद्धांत पच्छ जोई ॥
अन्वय अरु व्यतिरेक हेतु को, समझि रूप भ्रम खोई।
आरोपित सब धर्म और है, आनन्दघन तत सोई ॥—वही, पद ८२।

से उसमें असत् पक्ष भी है। सत् और असत् पक्ष से ऊपर समग्रतः तो आत्मा अवाच्य या अवक्तव्य है।

अनेकान्त-दृष्टि अनन्त धर्मात्मक वस्तु के स्वरूप को समझने की एक पद्धति है और स्याद्वाद उस अनेकान्तात्मक वस्तु की निर्दोष अभिव्यक्ति की शैली है, जिसे सप्तभंगी कहते हैं। इस प्रकार, ये तीनों परस्पराश्रित हैं। इसीलिए आनन्दघन ने अपनी विवेचन-पद्धति में इन तीनों में से किसी की भी उपेक्षा नहीं की। उनके दर्शन में अनेकान्त, स्याद्वाद और सप्तभंगी की यह त्रिवेणी पाई जाती है।

निश्चय और व्यवहारमूलक नय-पद्धति

नयवाद जैनदर्शन की नींव है। अनेकान्त-दृष्टि का भव्य प्रासाद इसी पर टिका हुआ है। अतः अनेकान्त और नयवाद एक दूसरे से पूर्णतया पृथक् न होकर एक दूसरे के पूरक हैं। इन दोनों के मध्य अंगांगी भाव सम्बन्ध देखा जा सकता है। नयवाद वस्तु के विविध रूपों का विश्लेषण करता है। विशेषावश्यक भाष्य में कहा गया है कि जैनदर्शन में एक भी सूत्र और अर्थ ऐसा नहीं जो नय-शून्य हो।[1] नयवाद का विषय अति गम्भीर, गहन एवं विस्तृत है। सामान्यतया उसे समझ पाना कठिन है। स्वयं आनन्दघन ने भी अभिनन्दन जिन-स्तवन में नयवाद को अति दुर्गम बताते हुए कहा है:

हेतु विवादे हो चित्त धरी जोइए अति दुर्गम नयवाद।[2]

हेतुओं (तर्कों) के विवाद में चित्त को उलझा कर नयवाद का ज्ञान प्राप्त करना अतीव दुष्कर है, क्योंकि नयवाद के एक नहीं, अनेक भेद-प्रभेद हैं:

एक अनेक रूप नयवादे नियते नर अनुसरिए रे।[3]

इस प्रकार नयवाद की चर्चा आनन्दघन के अधिकांश पदों में उपलब्ध होती है। शान्ति जिन-स्तवन में भी गुरु के उपदेश की महत्ता के प्रसंग में समग्र नयवाद का उल्लेख करते हुए वे कहते हैं:

---

१. नत्थि नएहिं विहुणं सुत्तं अत्थोय जिण मए किंचि।
—विशेषावश्यक भाष्य, २२७७।

२. आनन्दघन ग्रन्थावली, अभिनन्दन जिन स्तवन।

३. आनन्दघन ग्रन्थावली, वासुपूज्य जिन स्तवन।

फल विसंवाद जेहमां नहीं, शब्द ते अर्थ सम्बन्धि रे।
सकल नयवाद व्यापी रह्यो, ते शिव साधन संधि रे ॥[1]

जिनके वचनों में फल के सन्देह (संशय) का अवसर नहीं है, जिनके शब्द भ्रान्ति रहित यथार्थ अर्थ के द्योतक हैं और जिनके वचनों में सर्वत्र समग्र नयवाद व्याप्त है अर्थात् जिसमें सब दृष्टिकोणों का समन्वय है, ऐसे गुरु का उपदेश मोक्ष मार्ग की साधना में कारण रूप है।

नय क्या है ? सामान्यतया नय का अर्थ है—अपेक्षा, दृष्टि या अभिप्राय। नयचक्रसार में 'नय' की परिभाषा इस प्रकार की गई है कि 'वस्तु के अनेक धर्म होते हैं, उनमें से किसी एक धर्म को प्रधानता देनेवाले और अन्य धर्मों को गौण रखनेवाले ज्ञान को नय कहते हैं।[2]

नीयते परिच्छिद्यते अनेन, अस्मिन्, अस्माद् वेति नयः।
अनन्त धर्माध्यासिते वस्तुन्येकांश ग्राहको वेधि इत्यर्थः ॥[3]

जिसके द्वारा, जिसमें अथवा जिससे अनन्तधर्मात्मक वस्तु के किसी एक अंश का बोध किया जाए, वह 'नय' है। नयों का वर्गीकरण अनेक प्रकार से हुआ है। आचार्य सिद्धसेन का तो कहना है कि जितने भी वचन के प्रकार हैं, उतने ही नय हैं,[4] क्योंकि वस्तु अनन्तधर्मात्मक है, अतः नयों की संख्या भी अनन्त है। फिर भी जैनाचार्यों ने उन्हें संक्षेप में प्रस्तुत

---

१. वही, शान्तिजिन स्तवन।
२. अनन्तधर्मात्मके वस्तुन्येकधर्मोन्नयनं ज्ञानं नयः।
—नयचक्रसार।
३. अभिधान राजेन्द्र कोश, खण्ड ४, पृ० १८५२।
४. (अ) जावइया वयणा पहा, तावइया चेव होंति णय-वाया।
जावइया णय-वाया, तावइया चेव पर-समया ॥
—सन्मति तर्क, ३।४७
(ब) जावंतो वयण पहा, तावंतो वा नया विसद्दाओ।
ते चेवय पर समया, सम्मत्तं समुदिया सव्वे ॥
—विशेषावश्यक भाष्य, २२६५।
(स) जावदिया वयणपहा, तावदिया चेव होंति णयवादा।
जावदिया णयवादा, तावदिया चेव होंति पर समया ॥
—गोम्मटसार कर्मकाण्ड, ८९४।

करने का प्रयास किया है। जैन परम्परा में नयों की व्यवस्था तीन रूपों में दृष्टिगत होती है। उनमें प्रथम नैगम, संग्रह आदि के रूप में सप्तविध नयों का वर्गीकरण जैनागमों में मिलता है।[1] दूसरा प्रकार द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नामक द्विविध नय का है।[2] इस सम्बन्ध में आचार्य सिद्धसेन का स्पष्ट कथन है कि "भगवान् महावीर के प्रवचन में वस्तुतः ये ही मूल दो दृष्टियाँ हैं, और शेष सभी दृष्टियाँ इन्हीं दो की शाखा-प्रशाखाएँ हैं।"[3] तीसरा प्रकार निश्चय और व्यवहारमूलक नय-द्वय का है।[4] इस सम्बन्ध में उपाध्याय यशोविजय ने भी कहा है कि अध्यात्म-दृष्टि से मूल नय दो ही हैं—एक निश्चय और दूसरा व्यवहार। उसमें भी निश्चय नय के दो भेद हैं—एक शुद्ध निश्चय नय और दूसरा

---

१. अनुयोग द्वार सूत्र, १५६
(से किं तं णए ? सत्तमूलणया पण्णत्ता। तं जहा णेगमे संगहे ववहारे उज्जुसुए सद्दे समभिरूढे एवंभूए।) एवं स्थानांगसूत्र ५५२, भगवती-सूत्र ४६९, तत्त्वार्थ० १।३४।

२. (अ) समासतस्तु द्विभेदो द्रव्यार्थिकः पर्यायार्थिकश्च।
—प्रमाणनय तत्त्वालोक, अ० ७।४।५।

(ब) नयो द्विविधः द्रव्यार्थिकः पर्यायार्थिकश्च।
—सर्वार्थसिद्धि, १।६।

३. तित्थयरमूलसंगह विसेस पत्थार मूलवागरणी।
दवट्ठिओ य पज्जवणओ य सेसा वियप्पासिं॥
—सन्मति तर्क १।३, उद्धृत आगम युग का जैन दर्शन, पृ० ११७।

४. (अ) पुनरप्यध्यात्मभाषया नया उच्यन्ते। तावन्मूल नयौ द्वौ निश्चयो व्यवहारश्च। तत्र निश्चयोऽभेद विषयो व्यवहारो भेद विषयः॥
—आलाप सिद्धि

(ब) णिच्छय ववहारणया मूल भेयाण ताण सव्वाणं।
णिच्छय साहण हेओ, दव्वपज्जत्थि आ मुणह॥ ४॥
—आलाप पद्धति ५, गा० ४ एवं नयचक्र वृत्ति १८३।

(स) निश्चय व्यवहारौहि, द्वौ च मूल नयौ स्मृतौ।
निश्चयो द्विविध स्तत्र, शुद्धाऽशुद्ध विभेदतः॥ १॥
—अभिधानराजेन्द्र कोश, खण्ड ४, पृ० १८९२।

अशुद्ध निश्चय नय।[1] सन्मतिटीका में भी निश्चय और व्यवहार के सम्बन्ध में निर्देश है कि नैगम, संग्रह और व्यवहार ये तीन निश्चय-दृष्टियाँ हैं और ऋजुसूत्र, शब्द, समाभिरूढ़ तथा एवंभूत ये चार व्यवहार दृष्टियाँ हैं।[2] इन दोनों दृष्टियों का उल्लेख प्रकारान्तर से 'भगवतीसूत्र' में भी है।[3]

उपर्युक्त नयों के वर्गीकरण की विवेचना जैनाचार्यों ने दो दृष्टि से की है—एक शास्त्रीय दृष्टि से और दूसरी आध्यात्मिक दृष्टि से। सप्तविध नयों का वर्गीकरण तथा द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नय का निरूपण शास्त्रीय दृष्टि के अन्तर्गत् आता है और निश्चय एवं व्यवहार नय की विवेचना आध्यात्मिक दृष्टि के अन्तर्गत्। नयों के उपर्युक्त सभी प्रकारों में से हम केवल यहाँ निश्चय और व्यवहार इन दो मूल नयों की ही चर्चा करेंगे क्योंकि सन्त आनन्दघन ने मात्र निश्चय और व्यवहार नय तथा द्रव्य-दृष्टि और पर्याय-दृष्टि के आधार पर ही अपनी विवेचनाएँ की हैं। "इसके अतिरिक्त निश्चय और व्यवहार नय एक ऐसा दृष्टिकोण है जिसमें अन्य सभी नयों का वर्गीकरण अन्तर्निहित है। निश्चय और व्यवहार नय में सभी नयों का अन्तर्भाव है।"[4] जैनागम भगवतीसूत्र में भी निश्चय और व्यवहार नय का उल्लेख है। भगवान् महावीर ने गौतम गणधर द्वारा पूछे गए अनेक प्रश्नों का निराकरण इसी नय-द्वय की शैली में किया है।[5] आचार्य कुन्दकुन्द के साहित्य में भी निश्चय-व्यवहार नय की सूक्ष्म विवेचना है।

---

१. दोय मूल नय भाषीयाजीरे, निश्चय ने व्यवहार।
निश्चय द्विविध कह्युंरे, शुद्ध अशुद्ध प्रकार रे॥
प्राणी परखो आगम भाव॥
—द्रव्यगुण पर्याय नो रास, ढाल तेरहवीं, गा० १।

२. शुद्धं द्रव्यं समाश्रित्य, संग्रह स्तदशुद्धितः।
नैगम व्यवहारौ स्तः, शेषाः पर्यायमाश्रिताः॥
—सन्मति टीका, २७२।

३. भगवतीसूत्र, १८।६

४. अभिधान राजेन्द्रकोश, खण्ड ४, पृ० १८८३।

५. भगवतीसूत्र, १८।६।४४-४६।

इससे यह सिद्ध होता है कि निश्चय-व्यवहारमूलक यह द्विविध वर्गीकरण जैनदर्शन में अतिप्राचीन काल से है। न केवल जैनदर्शन में, जैनेतर दर्शनों में भी निश्चय-व्यवहारनय के समान दो दृष्टियाँ पाई जाती हैं। मुण्डकोपनिषद् में कहा गया है कि शौनक नामक गृहस्थ द्वारा जब आचार्य अंगिरा से पूछा गया कि 'कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवतीति,'[१] तो प्रत्युत्तर में आचार्य अंगिरा ने कहा कि इस रहस्य को ज्ञात करने के पूर्व द्विविध विधाओं को जानना अनिवार्य है। एक है पराविद्या अर्थात् परमात्म विद्या और दूसरी है अपराविद्या अर्थात् धर्म, अधर्म के साधन और उनके फल से सम्बन्ध रखनेवाली विद्या।[२] अपराविद्या केवल बाह्यज्ञान का परिचय कराती है जब कि पराविद्या आत्म-तत्त्व और परमात्मतत्त्व का पूर्णज्ञान प्राप्त कराती है। औपनिषदिक दर्शन की ये दोनों विधाएँ जैनदर्शन में स्वीकृत व्यवहार और निश्चय नय के समान ही हैं। इसी तरह बौद्ध दर्शन में भी सत्य के दो रूपों की चर्चा है। मध्यमक शास्त्र में कहा गया है कि बुद्ध की धर्म देशना दो सत्यों पर आश्रित है—लोक संवृति सत्य और परमार्थ सत्य।[३] लोक संवृति सत्य और परमार्थ सत्य भी क्रमशः व्यवहार और निश्चय नय की भांति ही हैं। भारतीय दर्शनों के अतिरिक्त पाश्चात्य दर्शन में भी इस प्रकार के द्विविध भेद की झलक मिलती है। अन्य आध्यात्मिक दर्शनों में भी इस प्रकार के सत्य-द्वय को खोजा जा सकता है।

इस प्रकार, संक्षेप में नय के मूल भेद दो हैं—एक निश्चयनय और दूसरा व्यवहारनय। निश्चयनय को परमार्थनय और व्यवहारनय को अपरमार्थनय भी कहा जाता है। प्रो० ए० चक्रवर्ती के शब्दों में 'परमार्थ' शब्द परमात्मा का द्योतक है और सत्य के अन्तरतम में प्रवेश करने का दार्शनिक पथ प्रदान करता है, जिससे हम चरम सत्य के यथार्थ स्वभाव

१. मुण्डकोपनिषद्, १।१।३

२. द्वे विद्ये वेदितव्ये इति ह स्म यद्ब्रह्मविदो वदन्ति परा चैवापरा च।
परा च परमात्म विद्या। अपरा च धर्माधर्मसाधन तत्फल विषया॥
—मुण्डकोपनिषद् १।४।५।

३. द्वे सत्ये समुपाश्रित्य, बुद्धानां धर्म देशना।
लोक संवृत्ति सत्यं च, सत्यं च परमार्थतः॥
—मध्यमकशास्त्रम्, २४।८ नागार्जुन प्रणीत।

का पूर्ण परिचय पाते हैं।'[1] निश्चय दृष्टि (नय) वह है, जो वस्तु की तात्त्विक स्थिति को अर्थात् वस्तु के मूल स्वरूप को स्पर्श करती है। यह दृष्टि अभेदगामिनी एवं अन्तरंग से सम्बद्ध है। यह भिन्नता में अभिन्नता, अनेकत्व में एकत्व तथा स्थूल-तत्त्व में सूक्ष्म-तत्त्व के दर्शन करती है। तत्त्वज्ञान के क्षेत्र में यह दृष्टि आत्मा के बन्धन, मोक्ष, कर्तृत्त्व, भोक्तृत्त्व आदि प्रत्ययों को महत्त्व न देकर केवल आत्मा के शुद्ध स्वरूप का प्रतिपादन करती है। बन्धन, मोक्ष, कर्तृत्त्व, भोक्तृत्त्व आदि आत्मा की समस्त पर्याएँ इसकी दृष्टि में गौण हैं। इसके विपरीत जो दृष्टि वस्तु के बाह्य पक्ष (अवस्था) की ओर लक्ष्य खींचती है, वह व्यवहार-दृष्टि कही जाती है। व्यवहार-दृष्टि बहिरंग से सम्बद्ध तथा भेदगामिनी होती है। वह अभिन्नता में भिन्नता, एकत्व में अनेकत्व की ओर हमारा ध्यान आकर्षित करती है। संक्षेप में, एक अभिन्नता का प्रतिपादन करती है तो दूसरी भिन्नता को प्रदर्शित करती है। एक सूक्ष्म तत्त्वग्राही है तो दूसरी स्थूल तत्त्वग्राही। एक अभेदगामिनी है तो दूसरी भेदगामिनी। एक आत्मा के वास्तविक शुद्ध स्वरूप का वर्णन करती है तो दूसरी आत्मा की अशुद्ध-दशा को दर्शाती है। इसीसे आचार्य कुन्दकुन्द ने 'ववहारो भूयत्थो, भूयत्थो देसिदो सु शुद्ध णओ'[2] कहकर व्यवहार नय को अभूतार्थ और शुद्ध नय (निश्चय नय) को भूतार्थ कहा है। आचार्य अमृतचन्द्र ने भी निश्चय नय को भूतार्थ और व्यवहार नय को अभूतार्थ कहा है।[3]

सन्त आनन्दघन ने इन्हीं दोनों दृष्टियों (नयों) को लक्ष्य में रखकर आत्मतत्त्व के रहस्यमय गूढ़ स्वरूप को समझाने का प्रयास किया है। निश्चय दृष्टि से आत्मतत्त्व का सम्यक् विवेचन उन्होंने 'अवधू नाम हमारा राखे, सोइ परम महारस चाखे'[4] पद में किया है, जिसमें यह दिग्दर्शन

---

१. समयसार आफ श्रीकुन्दकुन्द—इन्ट्रोडक्शन बाइ प्रो० ए० चक्रवर्ती, पे० १८।

—उद्धृत, 'अपभ्रंश और हिन्दी में जैन रहस्यवाद', पृ० १३१।

२. समयसार, ११।

३. निश्चयमिह भूतार्थं व्यवहारं वर्णयति अभूतार्थम्।

—पुरुषार्थसिद्ध्युपाय—(अमृतचन्द्राचार्य विरचित)।

४. आनन्दघन ग्रन्थावली, पद ११।

तुलनीय—परमात्मप्रकाश, प्र० ख०, गा० ६८-७१।

कराया गया है कि आत्मा निश्चयनय की दृष्टि से न पुरुष है, न स्त्री है, न लाल है, न पीला है, न साधु है, न साधक है, न छोटा है और न बड़ा है आदि-आदि। इस पद की विस्तृत व्याख्या आत्म-स्वरूप के प्रकरण में की जाएगी। दूसरी ओर आनन्दघन ने 'मायडी मूनै निरपक्ष किण ही न मूकी'[1] पद में व्यवहार नय की दृष्टि से आत्मा के स्वरूप की सुन्दर मीमांसा की है। यद्यपि निश्चय नय की दृष्टि से आत्मा का स्वभाव तो शुद्ध चेतना है, किन्तु व्यवहार नय की दृष्टि से वह जिस-जिस कुल में उत्पन्न होती है, उसके आचार-विचार वैसे ही हो जाते हैं। व्यवहार-दृष्टि से उक्त पद में आत्मा (चेतना) अपनी व्यावहारिक दशा की व्यथा का वर्णन करती हुई कहती है कि मैंने निष्पक्ष (शुद्ध स्वरूप में) रहने का प्रयास किया किन्तु संसार के विविध मत-मतान्तरवालों ने मुझे निष्पक्ष नहीं रहने दिया। योगियों ने मुझे 'जोगिन' बना लिया और यतियों ने 'जतनी' बनाया। भक्तिमार्गी भक्तों ने मुझे भक्तिन बनाया। इस तरह प्रत्येक मत वालों ने मुझे अपने मत का बना लिया। किसी ने मुझ से राम-नाम का

---

१. मायडी मूनै निरपख किण ही न मूकी।
निरपख रहेवा घणु ही झूरी, धी में निजमति फूकी ॥ १ ॥
जोगिये मिलिने जोगण कीधी, जतिये कीधी जतनी।
भगते पकड़ी भगतण कीधी, मतवाले कीधी मतणी ॥ २ ॥
राम भणी रहमान भणावी, अरिहंत पाठ पठाई।
घर घर ने हूं धंधे विलगी, अलगी जीव सगाई ॥ ३ ॥
कोइये मूंडी कोइये लोची, कोइये केस लपेटी।
कोई जगावी कोई सूती छोड़ी, वेदन किणही न मेटी ॥ ४ ॥
कोई थापी कोई उथापी, कोई चलावी कोई राखी।
एक मनो में कोई न दीठो, कोई नो कोई नहि साखी ॥ ५ ॥
धींगो दुरबल नैं ठेलीजै, ठींगौं ठींगो बाजे।
अबला ते किम बोली सकिये, बड जोधा ने राजे ॥ ६ ॥
जे जे कीधूं जेजे कराव्यूं, ते कहता हूं लाजूं।
थोड़े कहे घणु प्रीछी लेजो, घर सूतर नहीं साजूं ॥ ७ ॥
आप बीती कहेता रिसावें, तेहि सूं जोर न चाले।
अनंदघन प्रभु बांहड़ी झालै, बाजी सघली पाले ॥ ८ ॥
—आनन्दघन ग्रन्थावली, पद ६६।

पाठ करवाया तो किसी ने रहमान का उच्चारण करवाया और किसी ने मुझसे अरिहंत का जाप करवाया। आगे इसी बात को कहती है कि किसी ने मुझ से मुण्डन करवाया तो किसी ने केशलोच और किसी ने जटा-जूट धारण करवाया। किसी ने मुझसे जागरण करवाया तो किसी ने मुझे सुला कर रखा। इस प्रकार सभी ने मुझे बाह्य कर्मकाण्डों में उलझा कर निजरूप से वंचित रखा। यद्यपि निश्चय-दृष्टि से चेतन और चेतना पृथक् पृथक् नहीं हैं, तथापि व्यवहार-दृष्टि से आनन्दघन ने चेतन और चेतना को पृथक्-पृथक् कल्पित किया है।

अन्यत्र भी आनन्दघन ने अधिकांश पदों में आत्म-तत्त्व का निरूपण निश्चय और व्यवहार दृष्टि के आधार पर सुन्दर ढंग से किया है। वासु-पूज्य जिन स्तवन में[1] उन्होंने आत्मस्वरूप की विचारणा निश्चय-व्यवहार दृष्टि के द्वारा की है। इसमें उन्होंने व्यवहार-दृष्टि से आत्मा को कर्ता तथा सुख-दुःख रूप कर्मफल का भोक्ता कहा है और निश्चय-दृष्टि से उसे एकमात्र आनन्द-स्वरूप सिद्ध किया है। अरजिन-स्तवन में द्रव्य और पर्याय-दृष्टि से तथा निश्चय-व्यवहार-दृष्टि से उनकी विवेचनाएँ बहुत ही महत्वपूर्ण हैं। इसमें उन्होंने आत्मा तथा उसके दर्शन-ज्ञान आदि गुण-पर्यायों की मीमांसा की है। सर्वप्रथम निश्चयनय की दृष्टि से 'स्वसमय' और व्यवहारनय की दृष्टि से 'पर समय' की विवेचना करते हुए कहते हैं :

शुद्धातम अनुभव सदा, स्व समय एह विलास रे।
परबड़ी छांहड़ी जे पड़े, ते परसमय-निवास रे ॥[2]

जहां पर्यायार्थिक अथवा व्यवहार-दृष्टि को गौण रखकर द्रव्यार्थिक अथवा नैश्चयिक (पारमार्थिक) दृष्टि की मुख्यता से शुद्ध आत्मा का अनुभव सदा होता है वही स्व समय रूप स्वात्मरमणता है और जहां शुद्धात्मा के अति-

१. आनन्दघन ग्रन्थावली, वासुपूज्य जिन स्तवन।

२. वही, अरजिनस्तवन,

तुलनीय—जीवो चरित दंसण णाणठ्ठिउ तं हि ससमयं जाण ॥ २ ॥
पुग्गल कम्मपदेसट्ठियं च तं जाण परसमयं ॥
—समयसार, गा० २।

जे पज्जयेसु णिरदा जीवा परसमयिग त्ति णिद्दिट्ठा।
आदसहावम्मि ठिदा ते सगसमया मुणेदव्वा ॥ २ ॥
—प्रवचनसार, ज्ञेय०, गा० २।

रिक्त गुण-पर्यायों की प्रतिच्छाया पड़ती है अर्थात् जहां व्यवहार-दृष्टि से या पर्याय-दृष्टि से आत्मस्वरूप की विचारणा की जाती है वहां पर समय है। इसी बात को उनके समकालीन उपाध्याय यशोविजय जी ने इस रूप में कहा है कि 'जो पर्यायों में ही रत हैं, वे पर समय में स्थित हैं और जो आत्म-स्वभाव में लीन हैं, उनकी स्वसमय में ही निश्चलतापूर्वक स्थिरता होती है।'[1] 'गुण पर्यायवद् द्रव्यम्'[2] लक्षण के अनुसार आत्म-द्रव्य गुण और पर्यायों से युक्त है। साधारणतः दर्शन, ज्ञान और चरित्र आत्मा के गुण माने जाते हैं। अनेक विशेषणों और गुणों से युक्त आत्मा की विविध अवस्थाओं तथा पर्यायों की कल्पना की जाती है। किन्तु प्रश्न यह है कि दर्शन, ज्ञान और चारित्र जो आत्मा के मूल गुण या स्व लक्षण कहे गये हैं, वे आत्मा से पृथक् हैं अथवा अपृथक्? द्रव्य और गुण में क्या सम्बन्ध है? दोनों को एक माना जाये या अलग-अलग? इसके अतिरिक्त दर्शन, ज्ञान-चारित्र की भी अनेक पर्याएँ होती हैं। तो यहां भी वही प्रश्न खड़ा होता है कि गुण और पर्याय तथा आत्म-द्रव्य ये तीनों किस मात्रा में भिन्न हैं और किस मात्रा में अभिन्न? इस पेचीदी समस्या का उत्तर आनन्द-घन ने द्रव्य और पर्याय-दृष्टि तथा निश्चय और व्यवहार इन दो दृष्टियों (नयों) द्वारा दिया है। आत्मा और उसके दर्शन, ज्ञान-चारित्र गुण-पर्यायों को समझाने हेतु सर्वप्रथम सूर्य की उपमा देकर वे अपनी बात प्रस्तुत करते हैं:

तारा नक्षत्र ग्रह चंद्रनी, ज्योति दिनेष मोझार रे।
दर्शन-ज्ञान-चरण थकी, शक्ति निजातम धार रे ॥[3]

जिस प्रकार सूर्य में तारों, नक्षत्रों, ग्रहों और चन्द्रमा की ज्योति अन्तर्भूत हो जाती है, उसी तरह आत्मा में भी दर्शनज्ञान-चारित्रगुण की शक्ति अन्तर्निहित है। इसे यदि और अधिक स्पष्ट शब्दों में कहें तो जगत् में ऐसी प्रसिद्धि है कि तारा, नक्षत्र, चन्द्रमा आदि प्रकाशमान पदार्थों में सूर्य का ही प्रकाश संक्रमित होता है। आधुनिक विज्ञान का भी यह अभिमत

---

१. ये पर्यायेषु निरतास्ते ह्यन्य समय स्थिताः।
आत्म स्वभाव निष्ठानां ध्रुवा स्व समय स्थितिः॥
—अध्यात्मोपनिषद्, द्वितीय अधिकार, श्लो० २६।

२. तत्त्वार्थसूत्र, ५।३७

३. आनन्दघन ग्रन्थावली।

है कि ग्रहों तथा चन्द्रमा का प्रकाश स्वतन्त्र नहीं है, ये सब सूर्य के प्रकाश के बल से ही आलोकित होते हैं। इसी तरह दर्शन, ज्ञान और चारित्र गुण भी आत्मा से पृथक् स्वतन्त्र नहीं हैं। यद्यपि व्यवहार में ये आत्मा के गुण कहे जाते हैं किन्तु नैश्चयिक अथवा पारमार्थिक दृष्टि से दर्शन, ज्ञान और चारित्र ही आत्मा है। ये तीनों आत्मा से भिन्न न होकर अभिन्न हैं, आत्ममय हैं। इसमें गुण-गुणी का भेद नहीं रहता, प्रत्युत दोनों अभिन्न रूप में रहते हैं। जबकि व्यवहार-दृष्टि में गुण (दर्शन, ज्ञान-चारित्र) और गुणी (आत्मा) पृथक्-पृथक् रूप में दृष्टिगोचर होते हैं। यही बात आचार्य कुन्दकुन्द तथा अमितगति ने भी कही है।[1] मोक्ष-मार्ग में भी कहा गया है कि दर्शन, ज्ञान-चारित्र ये तीन भेद व्यवहार से ही कहे जाते हैं, निश्चय से तीनों एक आत्मा ही हैं।[2] उक्त कथन का अभिप्राय यह है कि व्यवहार दृष्टि से वस्तु में जो भिन्नता परिलक्षित होती है, निश्चय-दृष्टि से उसी में अभिन्नता या अभेद की प्रतीति होती है। व्यवहार-दृष्टि से दर्शन, ज्ञान और चारित्र आत्मिक-गुण हैं, किन्तु पारमार्थिक दृष्टि से ये सब आत्ममय हैं। निम्नलिखित पंक्तियों में दूसरा उदाहरण सोने का देकर आत्मा और उसके गुण-पर्यायों की विवेचना करते हैं :

भारी पीलो चीकणो कनक, अनेक तरंग रे।
पर्याय दृष्टि न दीजिए, एकज कनक अभंग रे ॥[3]

सामान्य बात यह है कि स्वर्ण के साथ पर्याय रूप में तीन गुण निहित रहते हैं—भारीपन, पीलापन और चिकनापन, अर्थात् सोना वजन में भारी रंग से पीला और गुण से चिकना (स्निग्ध) ऐसे अनेक रूपों में दृष्टिगत होता है। इसी तरह स्वर्ण के हार, कंगन, कंठी, कड़ा आदि विभिन्न आभूषण बनाए जाते हैं किन्तु ये सब पर्याय-दृष्टि से देखने पर ही भिन्न-भिन्न प्रतीत होते हैं। यदि पर्याय-दृष्टि को गौण कर द्रव्य-दृष्टि से देखा जाए तो सोना एक और अखण्ड-अभेद रूप ही रहता है। उसके भेद-प्रभेद नहीं हो सकते। वस्तुतः स्वर्ण में भारीपन, पीलापन व चिकनापन अथवा

१. ववहारेणु दिस्सदि णाणिस्स चरित्त दसंणं णाणं।
णावि णाणंण चरित्तंण दंसणं जाणगो सुद्धो ॥
—समयसार, गा० ७ एवं योगसार प्राभृत, ४३।

२. मोक्षमार्ग, ३।१

३. आनन्दघन ग्रन्थावली, अरजिन स्तवन।

विभिन्न आभूषणों की कल्पना करना पर्याय-दृष्टि है। उक्त पंक्तियों में आनन्दघन ने स्वर्ण के उदाहरण द्वारा द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक दृष्टि का गूढ़ रहस्य सरल सुगम भाषा में अभिव्यक्त किया है। इसी उदाहरण को आत्मा पर घटाते हुए वे कहते हैं :

दर्शन-ज्ञान-चरण थकी, अलख स्वरूप अनेक रे।
निर्विकल्प रस पीजिए, शुद्ध निरंजन एक रे ॥[1]

जैसे स्वर्ण के विविध गुण और पर्याय सोने से अलग नहीं हैं, उसी में समा जाते हैं, वैसे ही दर्शन, ज्ञान-चारित्र आदि गुण पर्याय आत्मा से पृथक् न होकर आत्ममय ही हैं। यद्यपि पर्याय-दृष्टि से देखने पर आत्मा भी दर्शन ज्ञान और चारित्र की दृष्टि से अनेक रूपवाली प्रनिभासित होती है, यतः व्यवहार या पर्याय-दृष्टि से आत्मा के अनन्त गुण और पर्याएँ मानी गई हैं। लेकिन आत्मा को यदि निर्विकल्प भाव से अर्थात् गुण-पर्याय आदि समग्र संकल्प-विकल्प से रहित होकर मात्र शुद्ध नैश्चयिक दृष्टि से देखा जाय तो वह शुद्ध, निरंजन और एक रूप में ही प्रतिभासित होती है। उपाध्याय यशोविजय ने भी पातंजल योगदर्शन पर अपनी टिप्पणी में इसी बात की ओर निर्देश करते हुए कहा है कि निर्विकल्प-ध्यान में शुक्ल ध्यान के दूसरे पाद में एक स्वात्म द्रव्य का पर्याय रहित द्रव्य का शुद्ध ध्यान होता है और इसलिए वह स्वसमय निष्ठा है। उस अवस्था में द्रव्यार्थिक प्रधान शुद्ध निश्चयनय की मुख्यता होती है।[2]

निश्चय-दृष्टि और व्यवहार-दृष्टि की उपयोगिता पात्र भेद से पृथक् रूप में प्रतिपादित करते हुए आनन्दघन का कथन है :

परमारथ पंथ जे कहे, ते रंजे एक तन्त रे।
व्यवहार लख जे रहे, तेहना भेद अनन्त रे ॥[3]

जो व्यक्ति परमार्थ (निश्चयात्मक) मार्ग का कथन करता है, वह एक ही शुद्धात्म-तत्त्व रूप को देखकर प्रसन्न होता है, किन्तु जो व्यवहार नय की

१. वही।
२. पातंजल योगदर्शन पर उपाध्याय यशोविजय कृत टिप्पणी,
उद्धृत—अध्यात्म दर्शन, पृ० ३८५।
३. आनन्दघन ग्रन्थावली, अरजिन स्तवन।

दृष्टि से आत्म-तत्त्व को देखता है, उसकी दृष्टि में आत्मा के अनन्त गुण-पर्यायों की अपेक्षा से अनन्त भेद दृष्टिगत होते हैं।

यहां सहज प्रश्न उठता है कि निश्चय और व्यवहार-दृष्टि में से किसे ग्रहण किया जाये अथवा किसका अवलम्बन लेने में आत्म-लाभ है? निश्चय-व्यवहार के लाभालाभ की दृष्टि से आनन्दघन की ये पंक्तियाँ मननीय हैं :

> व्यवहारे लख दोहिलो, कांइ न आवे हाथ रे।
> शुद्ध नय थापन सेवतां, नवि रहे दुविधा साथ रे ॥[1]

केवल व्यवहार नय का आश्रय लेने से आत्म-तत्त्व (परम-तत्त्व) की प्राप्ति दुर्लभ है, क्योंकि इसके द्वारा तत्त्वतः कुछ भी उपलब्धि नहीं होती, जबकि शुद्ध निश्चय नय की अभेद स्थापना करने से अर्थात् उसे ग्रहण करने पर शुद्धात्म-तत्त्व लक्ष्य को पाने में किसी [illegible] का [illegible] या द्वैतभाव नहीं रहता। अन्य शब्दों में निश्चय नय को अंतरंग में धारण कर आत्म-तत्त्व को देखने पर आत्मा और परमात्मा में किसी तरह का द्वैतभाव या भिन्नत्व नहीं रहता, प्रत्युत अद्वैत-अभेद रूप एक परमतत्त्व का अनुभव होता है।

यह सच है कि निश्चय-दृष्टि को लक्ष्य में न रखकर मात्र व्यवहार नय का अवलम्बन लेने पर साधक विविध पर्यायों और विकल्पों में इतना भटक जाता है कि मूल लक्ष्य छूट जाता है। ऐसी स्थिति में शुद्ध आत्म-तत्त्व रूप अमृत-फल का सारभूत रस उसे प्राप्त नहीं होता, उसके पल्ले केवल ऊपर के छिलके ही पड़ते हैं। इसीलिए कदाचित् आनन्दघन जैसे अध्यात्मयोगी को यह कहना पड़ा कि 'व्यवहारे लख दोहिलो'—'व्यवहार द्वारा शुद्धात्मा तत्त्व को पाना अति दुर्लभ है। इतना ही नहीं, केवल व्यवहारनय पर आश्रित रहने वाले साधकों पर करारी चोट करते हुए 'कांइ न आवें हाथ रे' 'कहकर यह सिद्ध किया है कि साधक यदि निश्चय-दृष्टि को लक्ष्य में न रखकर मात्र व्यवहार-दृष्टि को ही सब कुछ मानकर अनेकविध कठोर साधना या बाह्य क्रियाकाण्ड करता है, फिर भी परिणामतः उसका वास्तविक आत्म-सिद्धि का प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि आचार्य कुन्दकुन्द की भांति आनन्दघन ने भी 'शुद्ध नय थापन सेवतां' 'कहकर शुद्ध निश्चय नय को ग्रहण करने पर

१. आनन्दघन ग्रन्थावली, अरजिन स्तवन।

बल दिया है। उपाध्याय यशोविजय ने भी इसी बात की ओर अंगुलि निर्देश करते हुए अध्यात्मसार में कहा है कि 'इस प्रकार शुद्ध नय का अवलम्बन लेने से आत्मा में एकत्व प्राप्त होता है, क्योंकि पूर्णवादी (परमार्थ-वादी) या निश्चयनयवादी आत्मा के अंशों (पर्यायों) की कल्पना नहीं करते। पर्याय जितनी जानते हैं, उतने से पूर्ण द्रव्य ज्ञात नहीं होता। केवल अंश ही प्रतीत होते हैं। स्थानांग आदि सूत्रों में 'एगे आया' का जो कथन है, उसका आशय भी यही है।[1] इसके अतिरिक्त उन्होंने भी अंतरंग में निश्चय-दृष्टि को रखकर व्यवहार-दृष्टि का अनुसरण करने की चेतावनी दी है। इस सम्बन्ध में उनका कथन है :

निश्चय दृष्टि चित्त धरी जी, पाले जे व्यवहार।
पुण्यवंत ते पामशे जी, भव-समुद्र नो पार ॥[2]

जो साधक हृदय में निश्चय-दृष्टि धारण करके व्यवहार का पालन करता है, वही भाग्यशाली संसाररूप सागर से पार हो सकता है। आचार्य कुन्दकुन्द ने जो निश्चय और व्यवहारनय के सम्बन्ध में यहाँ तक कहा है कि व्यवहारनय निद्रा है तो निश्चय नय जागरण। अतः जो व्यवहार में जगता है, वह निश्चय नय से आँख मूंद लेता है और जो व्यवहार नय से स्वप्नावस्था में है, वह पारमार्थिक दृष्टि से जाग रहा है।[3]

आनन्दघन की निश्चय-व्यवहार नय की दृष्टि से आत्म-तत्त्व की विवेचनाएँ अन्यत्र भी पाई जाती हैं। एक जगह उन्होंने कहा है :

अचल अबाधित देव कुं, खेम खरीर लखंत।
विवहारी घट बढ़ि कथा, निहचै शरम अनन्त ॥[4]

---

१. इति शुद्धनयात्तमेकत्वं प्राप्तमात्मनि।
अंशादिकल्पनाऽप्यस्य, नष्टा यत्पूर्णवादिनः ॥
एक आत्मेति सूत्रस्याऽप्ययमेवाऽऽशयो मतः ॥
—अध्यात्मसार, ३१।

२. श्री सीमंधर स्वामी विनति रूप सवासो गाथा नुं स्तवन—उपाध्याय यशोविजय,—ढाल ५, गाथा ५५।

३. जो सुत्तो ववहारे सो जोई जग्गए सकज्जाम।
जो जग्गदि ववहारे सो सुत्तो अप्पणे कज्जे ॥
—मोक्खपाहुड़, गा० ३१।

४. आनन्दघन ग्रन्थावली, पद ३७।

जैन दर्शन में आत्मा के घटने-बढ़ने की अर्थात् संकोच-विस्तार की जो बात है, वह व्यवहार नय की दृष्टि को लक्ष्य करके है, किन्तु निश्चय नय की दृष्टि से तो आत्मा संकोच-विस्तार के गुण से रहित परम आनन्द रूप है। आत्मा के बन्धन और मोक्ष के सम्बन्ध में कहा गया है :

> बंधन मोख निहचै नहीं, विवहारी लखि दोय।
> कुशल खेम अनादि ही, नित्य अबाधित होय ॥[1]

आचार्य कुन्दकुन्द के समान आनन्दघन का भी स्पष्ट अभिमत है कि निश्चय नय की दृष्टि से आत्मा बन्धन और मुक्ति की प्रक्रिया से रहित है। 'बन्धन' और 'मोक्ष' के प्रत्ययों की अवधारणा केवल व्यवहार नय से सिद्ध होती है। क्योंकि बन्धन और मुक्ति दोनों आत्मा की पर्याय हैं। बन्धन अशुद्ध और मुक्ति शुद्ध पर्याय है। अतः पर्याय की दृष्टि से बन्धन-मुक्ति दोनों व्यवहाराश्रित हैं किन्तु निश्चय-दृष्टि से आत्मा इन दोनों से परे नित्य, शाश्वत और त्रिकालाबाधित है। मुनि योगीन्दु ने भी कहा है कि 'व्यवहारनय से आत्मा द्रव्य, कर्म, बन्ध, भावकर्म बन्ध और नौ कर्मबन्ध में फँसता है। पुनः यत्न विशेष से कर्म बन्धन से मुक्त होकर मोक्ष को प्राप्त होता है किन्तु परमार्थ (निश्चय) नय से आत्मा न तो कर्मबन्ध में फँसता है और न उसका मोक्ष होता है। वह बन्ध-मोक्ष से रहित है।[2]'

सारांश यह कि आनन्दघन के दर्शन में आत्मतत्त्व की व्याख्या द्रव्य और पर्याय तथा निश्चय और व्यवहार नय की दृष्टि से की गई है।

वस्तुतः निश्चय और व्यवहार—दोनों दृष्टियाँ अपने-अपने स्थान पर यथार्थ हैं। कोरे निश्चय से भी काम नहीं चल सकता, क्योंकि साधक को व्यवहार भूमि पर चलना है। जो साधक शुद्ध निश्चय नय की उच्च भूमिका अर्थात् निर्विकल्प दशा तक नहीं पहुँचा है, वहाँ तक वह व्यवहार दृष्टि की अपेक्षा नहीं कर सकता। इसके अतिरिक्त जन साधारण को भी प्राथमिक भूमिका में व्यवहार द्वारा ही परमार्थ का उपदेश दिया जा

---

१. आनन्दघन ग्रन्थावली, पद ३७।

२. बंधु वि मोक्खु वि सयलु जिय जीवहं कम्मुजणेइ।
अप्पा किं वि वि कुणइ णवि णिच्छउ एउं भुणइ ॥
—परमात्मप्रकाश, प्र० खं० ६५।

सकता है। इसलिए पुरुषार्थ सिद्धि में स्पष्टतः यह कहा गया है कि अनादिकाल से अज्ञानी जीव व्यवहारनय के उपदेश के बिना वस्तु का स्वरूप समझ नहीं सकते, अतएव उन्हें व्यवहार नय द्वारा समझाया जाता है।[1] इसी तरह आचार्य कुन्दकुन्द ने भी व्यवहार नय की महत्ता एक अन्य ढंग से प्रतिपादित की है। उनका कथन है कि 'जिस प्रकार एक अनार्य को किसी भी प्रकार की शिक्षा देने के लिए, अनार्य भाषा को ही माध्यम बनाना पड़ता है, ठीक इसी प्रकार साधारण जन को 'परमात्म-तत्त्व' का ज्ञान व्यवहारनय से ही कराया जा सकता है।[2]'

उपर्युक्त आधार पर व्यवहार नय को निश्चय नय का पूरक कहा जा सकता है। एक साध्य है तो दूसरा साधन। साधक को साध्य तक पहुँचने के लिए एक सोपान की आवश्यकता रहती है और उस सोपान का काम व्यवहार नय करता है।—अतः 'ज्ञानक्रियाभ्यां मोक्षः' की भाँति निश्चय और व्यवहार नय के समन्वय से ही आत्म-तत्त्व की जानकारी हो सकती है। अपेक्षावाद की दृष्टि से दोनों मार्ग अपने-अपने ध्येय के अनुसार सत्य हैं। एकान्त रूप से निश्चय का कथन करना और व्यवहार का निषेध या अपलाप करना असमीचीन है। इसी प्रकार निश्चय को सर्वथा अनुचित मानकर एकान्त रूप से व्यवहार का आग्रह रखना भी उचित नहीं। जो व्यक्ति इस तरह एकान्त रूप से एक ही दृष्टि का आग्रह रखकर दूसरे का सर्वथा निषेध करता है, वह यथार्थ नय न होकर नयाभास (मिथ्यावाद) होता है। ऐसी स्थिति में नयवादी एक ही दृष्टिकोण को ग्रहण कर संघर्ष कर बैठते हैं। आनन्दघन ने यथार्थ ही कहा है :

सरवंगा सब नइ धणीरे, मानै सब परमान।
नयवादी पल्लो गहै (प्यारे), करइ लराइ ठान ॥[3]

---

१. अबुधस्य बोधनार्थं मुनीश्वरा देशयन्त्यभूतार्थम्।
व्यवहारमेव केवलमवैति यस्तस्य देशना नास्ति ॥ ६ ॥
—पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय, गा० ६, पृ० ५।

२. जह णवि सक्कमणज्जो अणज्ज भासं विणा उ गाहेउं।
तह ववहारेण विणा परमत्थुव एसणमसक्कं ॥
—समयसार' गा० ८, पृ० १८।

३. आनन्दघन ग्रन्थावली, पद ६१।

वस्तुतः आत्मा में सभी नय घटित होते हैं। अतः यह आत्मा नय और प्रमाण से जाना जाता है। यह (आत्मा) सर्वांगी और स्वयं सब नयों का स्वामी है। इसका रूप एक नय द्वारा सिद्ध नहीं हो सकता। सब दृष्टि-कोणों को ध्यान में रखकर ही इसका स्वरूप समझा जा सकता है। अन्ततः आनन्दघन ने नयवाद से भी ऊपर उठकर आत्मा को अनुभवगम्य बताया है। उनका स्पष्ट कथन है कि यह आत्मा अनुभव ज्ञान से ही जाना जा सकता है।[1]

समन्वयात्मक-दृष्टि

आनन्दघन के रहस्यवाद में हमें समन्वयात्मक-शैली के भी दर्शन होते हैं। यह पद्धति पूर्व पद्धतियों की अपेक्षा अधिक सरल और सुगम है। अतः जन साधारण के लिए यह पद्धति अति उपयोगी है। यह वह पद्धति है, जिसके द्वारा मानव दुराग्रहपूर्ण विचारों से ऊपर उठकर समन्वय-साधना की ओर प्रवृत्त होता है। इसके द्वारा आनन्दघन ने परम-तत्त्व तथा षट्दर्शनों का जो विवेचन किया है, उसमें संकीर्णता, कट्टरता तथा अन्य धर्मों एवं दर्शनों के प्रति तनिक भी विद्वेष की गन्ध नहीं मिलती। उनका एक मात्र लक्ष्य था, मानव-समाज को संकीर्णता के दायरे से मुक्त कर उनमें समन्वय तथा सौहार्द्र भाव स्थापित करना।

जैनधर्म की दृष्टि आरम्भ से ही उदार, व्यापक एवं समन्वयात्मक रही है। 'नमोकार महामन्त्र' इसका सर्वश्रेष्ठ उदाहरण है जिसके पाँचों पद व्यक्तिवाचक न होकर गुणवाचक हैं। उसमें लोक के सभी साधुओं को वन्दना कर एक व्यापक एवं उदार दृष्टिकोण का परिचय दिया गया है। जैन तत्त्व-चिन्तन में इस पद्धति का विकसित रूप हमें परिलक्षित होता है। जैनधर्म में समन्वयात्मक-दृष्टि पर जितना अधिक बल दिया गया, उतना कदाचित् अन्यत्र दृष्टिगोचर नहीं होता। जैन दार्शनिकों ने सर्वधर्मों एवं दर्शनों के प्रति माध्यस्थ-भाव का आदर्श उपस्थित किया है।

व्यापक एवं समन्वयात्मक शैली की परम्परा को उजागर करने वाले जैनाचार्यों में मुख्यरूप से सिद्धसेन दिवाकर, समन्तभद्र, अकलंक, हरिभद्र तथा हेमचन्द्र आदि के नाम लिये जा सकते हैं, जिन्होंने जैनदर्शन रूप

१. आनन्दघन ग्रन्थावली, पद ६१।

सिन्धु में सर्वदर्शन रूप सरिताओं को (समग्र दृष्टि-बिन्दुओं को) समाहित किया। इन सभी जैनाचार्यों में विशेष रूप से आचार्य हरिभद्र की दार्शनिक क्षेत्र में सर्वधर्म-सहिष्णुता सुविख्यात है। उनका 'शास्त्रवार्ता-समुच्चय तथा 'षट्दर्शन-समुच्चय' ग्रन्थ षट्दर्शनों की निष्पक्ष समालोचना का ज्वलन्त उदाहरण है। उनकी मध्यस्थ भावना निम्नांकित शब्दों में द्रष्टव्य है :

पक्षपातो न मे वीरे, न द्वेषः कपिलादिषु।
युक्तिमद् वचनं यस्य, तस्य कार्य परिग्रहः ॥[१]

परमात्मा महावीर के प्रति न मेरा कोई पक्षपात है और न मेरा महर्षि कपिल, महात्मा बुद्ध आदि के प्रति कोई द्वेष। जिसका भी वचन यथार्थ हो, उसे स्वीकार करना चाहिए। इसी तरह 'उपदेश-तरंगिणी' में भी उन्होंने कहा है कि मुक्ति न तो दिगम्बरत्व में है, न श्वेताम्बरत्व में, न तर्कवाद में, न तत्त्ववाद में और न किसी एक पक्ष का समर्थन करने में ही है। वस्तुतः कषायों से मुक्त होना ही मुक्ति है।[२]

इस समन्वयात्मक-पद्धति का अनुसरण आनन्दघन तथा उनके समकालीन उपाध्याय यशोविजय की कृतियों में भी दृष्टिगत होता है। वास्तव में सन्त आनन्दघन ने सत्रहवीं शती में धार्मिक एवं दार्शनिक-जगत् में व्याप्त संकीर्ण विचारधारा को दूर करने का प्रबल प्रयास किया। यही कारण है कि उनकी कृतियों में कहीं भी किसी धर्म या दर्शन के सिद्धान्तों के प्रति अनादर बुद्धि या संकुचित वृत्ति दिखाई नहीं देती। उन्होंने सर्वधर्मों एवं दर्शनों का समादर कर उनमें समन्वय स्थापित किया, यद्यपि उनके समय में साम्प्रदायिक संकीर्णता अत्यधिक थी। इतना ही नहीं, उस समय भारत में औरंगजेब का शासन होने से धार्मिक कट्टरता के कारण हिन्दू-मुसलमानों के मध्य भी विषमतापूर्ण व्यवहार था। कोई राम को लेकर तो कोई रहीम को लेकर अपने-अपने आराध्य को सर्वश्रेष्ठ

१. लोकतत्त्व निर्णय, हरिभद्रसूरि विरचित, श्लो० ३८।

२. नाशाम्बरत्वे न सिताम्बरत्वे न तर्क वादे न च तत्त्ववादे।
न पक्ष सेवाऽऽश्रयणेन मुक्तिः कषाय मुक्तिः किल मुक्तिरेव ॥
—उपदेशतरंगिणी, प्रथम तरंग, तप उपदेश, श्लो० ८, पृ० ९८।

घोषित करने का प्रयास कर रहा था किन्तु उस अलख निरंजन के परम रहस्य की अनुभूति कोई विरला ही कर पाता था।

आनन्दघन ने यथार्थ ही कहा है :

अवधू राम नाम जग गावै, बिरला अलख लगावै।[1]

ऐसी विषम स्थिति में सन्त आनन्दघन ने अपने आराध्य परमतत्त्व को व्यापक रूप में परिभाषित किया। तत्त्वतः आराध्य सभी का एक ही है। उसमें किसी प्रकार का भेद नहीं है। भेद है केवल नाम-रूप का। किन्तु आराध्य के पृथक्-पृथक् नाम-रूपों से उसके स्वरूप में कोई अन्तर नहीं आता। इस व्यापक दृष्टिकोण को दृष्टिपथ में रखकर ही आनन्दघन ने कहा है कि "आनन्दघन चेतनमय निःकर्म री"—'परमतत्त्व' (शुद्धात्म-तत्त्व) वह है जो समस्त कर्मों से रहित चैतन्यमय एवं आनन्द स्वरूप है।[2]

मनुष्य को संकीर्णता के दायरे से हट कर विशाल दृष्टि से परमतत्त्व जानने का प्रयास करना चाहिए। विशाल-दृष्टि से देखने पर परमतत्त्व व्यापक, अखण्ड और अनन्त रूप में दिखाई देता है। इसी कारण आनन्दघन का यह परमतत्त्व निरंजन, निराकार, अलख, आनन्दघन और चैतन्य-स्वरूप है। अनन्त हैं, उसके नाम और रूप। उन्होंने उसे राम-रहीम, कृष्ण-करीम, महादेव, पार्श्वनाथ, ब्रह्म आदि नामों से भी सम्बद्ध किया है। उनके कतिपय पदों में परम तत्त्व का अति व्यापक वर्णन हुआ है। जैसे—उन्होंने परमतत्त्व को ब्रजनाथ के रूप में (पद ९५), बंसीवाले (श्रीकृष्ण) के रूप में (पद ९८), हरि के रूप में (पद ९६), राम के रूप में (पद ७, पृ० ३९), निरंजन के रूप में (पद ८) ब्रह्म के रूप में (पद ६५) निरूपित किया है।

एक पद में तो उन्होंने सर्वधर्मों में प्रचलित परमतत्त्व के विविध नामों का एक साथ प्रयोग कर समन्वय-दृष्टि का अच्छा परिचय दिया है। उनकी सर्वधर्मों के प्रति समादरता का निम्नांकित पद मननीय है :

१. आनन्दघन ग्रन्थावली, पद ९७।

२. वही पद।

सिन्धु में सर्वदर्शन रूप सरिताओं को (समग्र दृष्टि-बिन्दुओं को) समाहित किया। इन सभी जैनाचार्यों में विशेष रूप से आचार्य हरिभद्र की दार्शनिक क्षेत्र में सर्वधर्म-सहिष्णुता सुविख्यात है। उनका 'शास्त्रवार्ता-समुच्चय तथा 'षट्दर्शन-समुच्चय' ग्रन्थ षट्दर्शनों की निष्पक्ष समालोचना का ज्वलन्त उदाहरण है। उनकी मध्यस्थ भावना निम्नांकित शब्दों में द्रष्टव्य है :

> पक्षपातो न मे वीरे, न द्वेषः कपिलादिषु।
> युक्तिमद् वचनं यस्य, तस्य कार्य परिग्रहः ॥[1]

परमात्मा महावीर के प्रति न मेरा कोई पक्षपात है और न मेरा महर्षि कपिल, महात्मा बुद्ध आदि के प्रति कोई द्वेष। जिसका भी वचन यथार्थ हो, उसे स्वीकार करना चाहिए। इसी तरह 'उपदेश-तरंगिणी' में भी उन्होंने कहा है कि मुक्ति न तो दिगम्बरत्व में है, न श्वेताम्बरत्व में, न तर्कवाद में, न तत्त्ववाद में और न किसी एक पक्ष का समर्थन करने में ही है। वस्तुतः कषायों से मुक्त होना ही मुक्ति है।[2]

इस समन्वयात्मक-पद्धति का अनुसरण आनन्दघन तथा उनके समकालीन उपाध्याय यशोविजय की कृतियों में भी दृष्टिगत होता है। वास्तव में सन्त आनन्दघन ने सत्रहवीं शती में धार्मिक एवं दार्शनिक-जगत् में व्याप्त संकीर्ण विचारधारा को दूर करने का प्रबल प्रयास किया। यही कारण है कि उनकी कृतियों में कहीं भी किसी धर्म या दर्शन के सिद्धान्तों के प्रति अनादर बुद्धि या संकुचित वृत्ति दिखाई नहीं देती। उन्होंने सर्वधर्मों एवं दर्शनों का समादर कर उनमें समन्वय स्थापित किया, यद्यपि उनके समय में साम्प्रदायिक संकीर्णता अत्यधिक थी। इतना ही नहीं, उस समय भारत में औरंगजेब का शासन होने से धार्मिक कट्टरता के कारण हिन्दू-मुसलमानों के मध्य भी विषमतापूर्ण व्यवहार था। कोई राम को लेकर तो कोई रहीम को लेकर अपने-अपने आराध्य को सर्वश्रेष्ठ

---

१. लोकतत्त्व निर्णय, हरिभद्रसूरि विरचित, श्लो० ३८।

२. नाशाम्बरत्वे न सिताम्बरत्वे न तर्क वादे न च तत्त्ववादे।
न पक्ष सेवाऽऽश्रयणेन मुक्तिः कषाय मुक्तिः किल मुक्तिरेव ॥
—उपदेशतरंगिणी, प्रथम तरंग, तप उपदेश, श्लो० ८, पृ० ९८।

घोषित करने का प्रयास कर रहा था किन्तु उस अलख निरंजन के परम रहस्य की अनुभूति कोई विरला ही कर पाता था।

आनन्दघन ने यथार्थ ही कहा है :

अवधू राम नाम जग गावै, बिरला अलख लगावै।[1]

ऐसी विषम स्थिति में सन्त आनन्दघन ने अपने आराध्य परमतत्त्व को व्यापक रूप में परिभाषित किया। तत्त्वतः आराध्य सभी का एक ही है। उसमें किसी प्रकार का भेद नहीं है। भेद है केवल नाम-रूप का। किन्तु आराध्य के पृथक्-पृथक् नाम-रूपों से उसके स्वरूप में कोई अन्तर नहीं आता। इस व्यापक दृष्टिकोण को दृष्टिपथ में रखकर ही आनन्दघन ने कहा है कि "आनन्दघन चेतनमय निःकर्म री"—'परमतत्त्व' (शुद्धात्म-तत्त्व) वह है जो समस्त कर्मों से रहित चैतन्यमय एवं आनन्द स्वरूप है।[2]

मनुष्य को संकीर्णता के दायरे से हट कर विशाल दृष्टि से परमतत्त्व जानने का प्रयास करना चाहिए। विशाल-दृष्टि से देखने पर परमतत्त्व व्यापक, अखण्ड और अनन्त रूप में दिखाई देता है। इसी कारण आनन्दघन का यह परमतत्त्व निरंजन, निराकार, अलख, आनन्दघन और चैतन्य-स्वरूप है। अनन्त हैं, उसके नाम और रूप। उन्होंने उसे राम-रहीम, कृष्ण-करीम, महादेव, पार्श्वनाथ, ब्रह्म आदि नामों से भी सम्बद्ध किया है। उनके कतिपय पदों में परम तत्त्व का अति व्यापक वर्णन हुआ है। जैसे—उन्होंने परमतत्त्व को ब्रजनाथ के रूप में (पद ९५), बंसीवाले (श्रीकृष्ण) के रूप में (पद ९८), हरि के रूप में (पद ९६), राम के रूप में (पद ७, पृ० ३९), निरंजन के रूप में (पद ८) ब्रह्म के रूप में (पद ६५) निरूपित किया है।

एक पद में तो उन्होंने सर्वधर्मों में प्रचलित परमतत्त्व के विविध नामों का एक साथ प्रयोग कर समन्वय-दृष्टि का अच्छा परिचय दिया है। उनकी सर्वधर्मों के प्रति समादरता का निम्नांकित पद मननीय है :

---

१. आनन्दघन ग्रन्थावली, पद ९७।

२. वही पद।

राम कहौ रहिमान कहौ, कोउ कान्ह कहौ महादेव री।
पारसनाथ कहौ कोउ ब्रह्मा, सकल ब्रह्म स्वयमेव री ॥[1]

वे स्पष्ट शब्दों में कहते हैं कि ब्रह्म या परमतत्त्व एक है। उस परमतत्त्व को चाहे कोई राम कहे या रहमान, कृष्ण कहे या महादेव, पार्श्वनाथ कहे या ब्रह्म। किन्तु वह महाचैतन्य परमतत्त्व स्वयं ब्रह्म स्वरूप ही है अर्थात् शुद्धात्म-स्वरूप ही है। उसमें किसी प्रकार का अन्तर नहीं है। उनका यही शुद्धात्म-स्वरूप परमतत्त्व राम-रहीम, महादेव आदि सब कुछ है। न उनमें किसी तरह का तरतमांश है और न उनके नाम-रूप में भेद। उनका कथन है कि

भाजन भेद कहावत नाना, एक मृत्तिका रूप री।
तैसे खण्ड कलपना रोपित, आप अखण्ड सरूप री ॥[2]

जिस प्रकार मिट्टी एक होकर भी पात्र-भेद से अनेक नामों से पुकारी जाती है (जैसे, यह घड़ा है, यह कुण्डा है, यह गिलास है, यह प्याला है आदि)। उसी प्रकार एक अखण्ड रूप परमतत्त्व (शुद्धात्मा) में विभिन्न कल्पनाओं के कारण, अनेक नामों की कल्पना कर ली जाती है, किन्तु वस्तुतः वह तो अखण्ड स्वरूप ही है। आनन्दघन के इस पद की तुलना कबीर से की जा सकती है।[3]

वैसे परमतत्त्व के स्वरूप के सम्बन्ध में किसी को भ्रान्ति न हो इसलिए आनन्दघन ने उसके सम्बन्ध में स्पष्टीकरण भी कर दिया है। उन्होंने उदार शब्दों में कहा है कि 'उनका राम वह है जो निज पद (स्व-स्वरूप) में रमण करता है, उनका रहमान वह है जो दूसरों पर रहम (करुण-दया) करता है, कृष्ण वह है जो कर्मों का कर्षण करता है, महादेव वह है जो निर्वाण प्राप्त कर चुका है, पार्श्वनाथ वह है जो ब्रह्म रूप का स्पर्श करता है और जिसे ब्रह्म की अनुभूति है वही ब्रह्म है। इस प्रकार, उनके मन्तव्यानुसार कर्मों से आलिप्त, अथवा निष्कर्म (कर्म-उपाधि से रहित) शुद्ध

---

१. आनन्दघन ग्रंन्थावली, पद ६५।

२. वही पद ६५।

३. कबीर ग्रन्थावली, पद ३२७, पृ० १९९।

चैतन्यमय आनन्द-स्वरूप परमतत्त्व का यही यथार्थ स्वरूप है[1] और यही चरम सत्य है। इसी का ज्ञान प्राप्त करना प्रत्येक साधक का लक्ष्य है। स्वयं आनन्दघन भी इस आनन्दमय परमतत्त्व की आराधना इसी रूप में करते हैं। लेकिन इसका तात्पर्य यह नहीं कि वे अवतारवाद के समर्थक हैं अथवा परमतत्त्व के सम्बन्ध में उनकी कोई निश्चित धारणा नहीं है। मूल बात यह है कि उन्हें किसी भी प्रकार की संकीर्णता स्वीकार नहीं है। वे अपने आराध्य को किसी भी नाम से, चाहे वह सगुणवाची हो या निर्गुणवाची, कहने में संकोच का अनुभव नहीं करते। इसका स्पष्ट प्रमाण उनकी 'आनन्दघन चौबीसी' और 'आन्दघन बहोत्तरी' है। 'आनन्दघन बावीसी' में उन्होंने जैन परम्परानुसार प्रत्येक तीर्थंकर की नामोल्लेखपूर्वक स्तुति की है, जबकि 'आनन्दघन बहोत्तरी' में मुख्यतः 'निरंजन चेतनमय मूरति' के रूप में परमतत्त्व के स्वरूप को प्रस्तुत किया है। दूसरे शब्दों में 'आनन्दघन बावीसी' सगुणोपासना और 'आनन्दघन बहोत्तरी' निर्गुणोपासना की द्योतक कही जा सकती है।

यह सच है कि जिसे परमतत्त्व के स्वरूप की वास्तविक अनुभूति हो जाती है, वह साम्प्रदायिक भेद के पचड़े में या संकीर्णता के घेरे में आबद्ध नहीं रह सकता। उसके लिए राम-रहीम, कृष्ण-करीम, पार्श्वनाथ और महादेव या ब्रह्म आदि में कोई अन्तर नहीं रह जाता और न उसे साकार (सगुण) और निराकार (निर्गुण) ब्रह्म में कोई भेद प्रतीत होता है। उसका तो अपना एक धर्म होता है और वह है, आत्म-धर्म (शुद्धात्म-धर्म)। यही बात आनन्दघन पर पूर्णरूपेण चरितार्थ होती है। जैन मत में दीक्षित होने के उपरान्त भी परमतत्त्व के सम्बन्ध में उनकी धारणा अतिव्यापक एवं समन्वयकारी रही है। सामान्यतया जैन परम्परा में परमतत्त्व की उपासना तीर्थंकरों के रूप में ही की जाती रही है, किन्तु आनन्दघन ने परमतत्त्व की उपासना तीर्थंकरों की स्तुति के अतिरिक्त कृष्ण, ब्रजनाथ, श्याम, हरि, निरंजन, अलख, ब्रह्म इत्यादि के रूप में भी की है।

---

१. निजपद रमै राम सो कहिये, रहम करे रहमान री।
करषै करम कान्ह सो कहियै, महादेव निरवाण री।
परसै रूप सो पारस कहियै, ब्रह्म चिन्है सो ब्रह्म री।
इहबिध साध्यो आप आनन्दघन चेतनमय निःकर्मरी ।।
—आनन्दघन ग्रन्थावली, पद ६५।

आनन्दघन ने ही नहीं पूर्ववर्ती सुप्रसिद्ध तार्किक आचार्य अकलंक, मुनि योगीन्दु, आचार्य हरिभद्र, आचार्य हेमचन्द्र आदि ने भी परमतत्त्व (परमात्मा) को व्यापक एवं समन्वयात्मक-दृष्टिकोण के रूप में देखा है। आचार्य अकलंक ने कहा है कि जिसने जानने योग्य सब कुछ जान लिया है, जो जन्मरूपी समुद्र की तरंगों के पार पहुंच गया है, जिसके वचन, दोष रहित, अनुपम और पूर्वापर विरोध रहित हैं, जिसने अपने सारे दोषों का विध्वंस कर दिया है और इसीलिए जो सम्पूर्ण गुणों का भण्डार बन गया है तथा इसी हेतु जो सन्तों द्वारा वन्दनीय है, चाहे वह कोई भी हो, बुद्ध हो, वर्द्धमान हो, ब्रह्मा हो, विष्णु हो अथवा महादेव हो।[1]

मुनियोगीन्दु ने भी कहा है कि परमात्मा ही निरंजन देव है, शिव, ब्रह्मा, विष्णु है। एक ही परमतत्त्व के ये विभिन्न नाम हैं। यह निरंजन देव ही परमात्मा है। इसे जिन, विष्णु, बुद्ध और शिव आदि विभिन्न नामों से पुकारा जाता है।[2] आचार्य मानतुंग ने भी जिनेन्द्र देव को बुद्ध, शंकर, विधाता, पुरुषोत्तम आदि शब्दों से सम्बोधित किया है।[3] आचार्य हेमचन्द्र ने भी सोमनाथ के मन्दिर में बिना किसी तरतमांश के उस देव को नमस्कार किया है जिसके रागादि दोष क्षय हो चुके हैं, फिर वह देव चाहे ब्रह्मा, विष्णु, हर या जिन कोई भी हो।[4] इसी तरह एक अन्य जैन

१. यो विश्वं वेद वेद्यं जनन जल निधेर्भंगिनः पार दृश्वा
पौर्वापर्या विरुद्धं वचनमनुपमं निष्कलंकं यदीयम्।
तं वन्दे साधु वंद्यं निखिल गुणनिधिं ध्वस्तदोषद्विषन्तं।
बुद्धं वा वर्द्धमानं शतदलनिलयं केशवं वा शिवं वा।

२. सो सिउ संकरु विण्हु सो, सो रुद वि सो बुद्धु।
सो जिणु ईसरू बंभु सो, सो अंणतु सो सिद्धु॥ १०५॥
—योगसार, पृ० ३८३।

३. बुद्धस्त्वमेव विबुधर्चित बुद्धि बोधात्,
त्वं शंकरोऽसि भुवनत्रय शंकरत्वात्।
धाताऽसि धीर! शिवमार्गविधेर्विधानात्,
व्यक्तं त्वमेव भगवन्! पुरुषोत्तमोऽसि॥ २५॥
—भक्तामर स्तोत्र।

४. यस्य निखिलाश्च दोषा, न सन्ति सर्वे गुणाश्च विद्यन्ते।
ब्रह्मा वा विष्णुर्वा, हरो जिनो वा नमस्तस्मै॥
—लोकतत्त्व निर्णय, श्लो० ४०।

भक्त कवि ने भी पद्मावती की आराधना व्यापक रूप में की है। उसने पद्मावती को ही सुगतागम में तारा, शैवागम में गौरी, कौलिक शासन में ब्रह्मा और सांख्यागम में प्रकृति के समान बतलाया है। उसके अनुसार उनमें कोई भेद नहीं है और न कोई छोटी-बड़ी है। सब समान हैं। ऐसा आराधक ही सच्चा भक्त है। जिनमें दूसरों के प्रति निन्दा-कटुता या संकीर्णता का भाव हो, वह सच्चा साधक हो ही नहीं सकता।

सन्त आनन्दघन ने भी सुपार्श्व जिन-स्तवन में सर्वधर्म समन्वय की दृष्टि से एक ही परमात्मा के विभिन्न नामों का उल्लेख किया है। उनके अनुसार अनेकान्त दृष्टि से देखने पर एक ही परमात्मा भिन्न-भिन्न रूपोंमें दिखाई पड़ता है। उनके पृथक्-पृथक् नाम उनके विशिष्ट गुणों के कारण हैं। परमात्मा के विविध नामों की महत्ता प्रतिपादित करते हुए वे कहते हैं कि परमतत्त्वरूप परमात्मा अलख, निरंजन, सकलजंतु विश्राम, अभय-दानदाता, परमपुरुष, परमात्मा, परमेश्वर, प्रधान, परमेष्ठी, परमदेव, विधि, विरंचि, विश्वंभर (ब्रह्मा, विष्णु, महेश), हृषीकेश, जगन्नाथ और पाप-क्लेश का नाश करने वाले अघमोचन आदि सब कुछ हैं। इस प्रकार एक ही परमात्मा के अनेक नाम हैं जो अनुभवगम्य हैं।[3] दूसरे शब्दों में,

१. भवबीजांकुरजनना, रागाद्याः क्षयमुपागता यस्य।
ब्रह्मा वा विष्णुर्वा, हरो जिनो वा नमस्तस्मै॥
—महादेव स्तोत्र, श्लो० ४४।

२. तारा त्वं सुगतागमे भगवती गौरीति शैवागमे
वज्रा कौलिक शासने जिनमते पद्मावती विश्रुता।
गायत्री श्रुतशालिनां प्रकृतिरित्युक्तासि साङ्ख्यागमे
मातर्भारति ! किं प्रभूत भणितैर्व्याप्तं समस्तं त्वया॥
—श्रीभैरव पद्मावती [illegible]—श्री[illegible], श्लो० २०,
परिशिष्ट ५, पृ० २८।

३. सिव संकर जगदीश्वरू, चिदानन्द भगवान। ललना।
जिन अरिहा तीर्थंकरू, जोति स्वरूप असमान॥ ललना॥ ३॥
अलख निरंजन वच्छलू, सकल जंतु विसराम। ललना।
अभयदान दाता सदा, पूरण आतम राम। ललना।॥ ४॥
वीतराग मद कल्पना, रति अरति भय सोग। ललना।
निद्रा तन्द्रा दुरदसा, रहित अबाधित जोग। ललना।॥ ५॥

परमात्मा के इन विभिन्न नामों के गूढ़-रहस्यार्थ को तत्त्व-संवेदनज्ञान अर्थात् अनुभवज्ञान द्वारा ही जाना जा सकता है। अन्यथा एक ही परमात्मा के विविध नामों के कारण भ्रान्ति होने की सम्भावना है। वास्तव में, आनन्दघन ने परमात्मा के लोकप्रसिद्ध नामों का निर्देश कर समन्वय-दृष्टि से परमात्म-स्वरूप को प्रकट किया है। जैनाचार्यों ने परमात्मा के विविध नामों के सम्बन्ध में समन्वयदृष्टि ही प्रस्तुत की है। परमात्मा, बुद्ध, जिन, हृषीकेश, शंभु, ब्रह्मा, आदि पुरुष आदि पृथक्-पृथक् नाम एक ही अर्थ के वाचक हैं।

जहां आनन्दघन ने परमतत्त्व के सम्बन्ध में व्यापक एवं समन्वयशीलता का परिचय दिया है, वहीं दार्शनिक क्षेत्र में भी उनका दृष्टिकोण समन्वय-वादी रहा है। वे दर्शन के क्षेत्र में भी एकान्त दृष्टि को असमीचीन समझते हैं। इसका स्पष्ट प्रमाण मुनि सुव्रत जिन-स्तवन है, जिसमें उन्होंने एकान्त-वादियों के आत्मतत्त्व सम्बन्धी विचार को प्रस्तुत कर उनके दोषों की ओर भी संकेत किया। वस्तुतः उनके समय में भी दार्शनिक क्षेत्र में वाद-विवाद हुआ करता था। कोई आत्मा को नित्य मानता था तो कोई अनित्य। किन्तु कोई भी विचारक या दार्शनिक आत्मवाद सम्बन्धी मान्यता को समन्वयात्मक ढंग से प्रतिपादित नहीं कर रहा था। बल्कि सभी अपने-अपने पक्ष को लेकर एकान्तवाद के आग्रह से बद्ध थे। ऐसी स्थिति में सन्त आनन्दघन ने परस्पर सद्भाव स्थापित करने के लिए पूर्व जैनाचार्यों के समान समन्वयात्मक-दृष्टि द्वारा सभी दर्शनों को यथायोग्य स्थान दिया। उनके अनुसार वस्तुतः सभी दर्शन सापेक्षिक सत्य हैं। कोई भी दर्शन सर्वथा सत्य अथवा असत्य नहीं है। पूर्ण सत्य में सब दर्शनों का समन्वय होना चाहिए।

परम पुरुष परमातमा, परमेसर परधान। ललना।
परम पदारथ परमेष्ठी, परमदेव परमान॥ ललना॥ ६॥
बिधि बिरंचि विश्वंभस्त, ऋषीकेश जगनाथ॥ ल०॥
अघहर अघमोचन धणी, मुगति परमपद साथ॥ ल०॥ ७॥
इम अनेक अभिधा धरै, अनुभवगम्य बिचार॥ ल०॥
जे जाणै तेहनै करै, आनंदघन अवतार॥ ल०॥ ८॥
—आनन्दघन ग्रन्थावली, श्रीसुपार्श्व जिन स्तवन।

जैनाचार्यों में सर्वप्रथम सिद्धसेन ने "जैनेतर सम्पूर्ण दृष्टियों को अनेकान्त-दृष्टि के अंशमात्र बता कर[1] मिथ्यादर्शनों के समूह को जैनदर्शन बताते हुए[2] अपनी सर्व समन्वयात्मक उदार भावना का परिचय दिया।"[3]

वास्तव में ५वीं-६ठीं शताब्दी के जैनाचार्यों से लेकर परवर्ती विचारकों, सन्त कवियों की विवेचना-पद्धति में समन्वय-सूत्र खोजे जा सकते हैं। सन्त आनन्दघन ने भी सिद्धसेन आदि पूर्ववर्ती जैनाचार्यों की भाँति ही सब दर्शनों के प्रति एक समन्वयात्मक दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है। इस सम्बन्ध में उनका निम्नांकित पद द्रष्टव्य है :

जिनवर मां सघला दर्शन छे, दर्शन जिनवर भजना रे।
सागर मां सघली तटिनी सही, तटिनी सागर भजना रे॥[4]

समन्वयवादी विरोध में भी अविरोध खोजता है। यह कहना अत्युक्तिपूर्ण न होगा कि सत्रहवीं शती में (साम्प्रदायिक युग में) आनन्दघन जैसे आध्यात्मिक सन्त ने 'लोकायतिक कूख जिनवरनी' कहकर चार्वाक जैसे नास्तिक दर्शन को भी जिनेन्द्रदेव की कुक्षि के एक अंग के रूप में स्थापित कर दार्शनिक-जगत् को समन्वय की शक्ति से परिचित करा दिया। सामान्यतः कोई भी विचारक या दार्शनिक भौतिकवादी चार्वाक दर्शन को समय-पुरुष के एक अंग के रूप में प्रस्थापित करने की कल्पना भी नहीं कर सकता। किन्तु आनन्दघन ने बिना किसी पक्षपात के उसे भी यथा-योग्य स्थान दिया। उनके अनुसार किसी भी दर्शन के प्रति उपेक्षा या अनादर बुद्धि नहीं होनी चाहिये। इस सम्बन्ध में उनका स्पष्ट उद्‌घोष है कि षट्‌दर्शन रूप अंगों को नमिजिन के अंगों (अवयवों) पर स्थापित करके जो साधक साधना करते हैं, वे नमिजिन परमात्मा के चरणउपासक षट्‌दर्शनों की समानरूप से आराधना करते हैं :

---

१. उद्धाविव सर्वसिन्धवः समुदीर्णास्त्वयि नाथ दृष्टयः।
न च तासु भवान् प्रदृश्यते प्रविभक्तासु सरित्स्विवोदधिः॥
—आचार्य सिद्धसेन विरचित द्वात्रिंशिका द्वात्रिंशिका ४-१५।

२. भद्दं मिच्छा दंसण समूह भद्दयय अभयसारस्स।
जिण वयणस्स भगवओ संविग्ग सुहादिमग्गस्स॥
—सन्मति तर्क, ३-३५।

३. स्याद्वाद मंजरी से उद्धृत, पृ० २७।

४. आनन्दघन ग्रन्थावली, नमिजिन स्तवन।

षड्दरसण जिन अंग भणीजै, न्यास षडंग जो साधै रे।
नमि जिनवर ना चरण उपासक, षड दरसण आराधै रे ॥[1]

यह सच है कि सभी दर्शनों की समान भाव से आराधना करनेवाला साधक ही परमात्मा के चरणों का सच्चा उपासक हो सकता है, अतः उसकी बुद्धि अनेकान्तिक होती है। इसी बात को उनके समकालीन उपाध्याय यशोविजय ने इस प्रकार अभिव्यक्त किया है—"सच्चा अनेकान्तवादी किसी भी दर्शन से द्वेष नहीं करता। वह सम्पूर्ण नय रूप दर्शनों को इस प्रकार वात्सल्य दृष्टि से देखता है, जैसे कोई पिता अपने पुत्रों को देखता है, क्योंकि अनेकान्तवादी की न्यूनाधिक बुद्धि नहीं हो सकती। वास्तव में सच्चा शास्त्रज्ञ कहे जाने का अधिकारी वही है जो स्याद्वाद का अवलम्बन लेकर सम्पूर्ण दर्शनों में समभाव रखता है। वास्तव में माध्यस्थ भाव ही शास्त्रों का गूढ़ रहस्य है, यही धर्मवाद है। माध्यस्थ भाव रहने पर शास्त्रों के एक पद का ज्ञान भी सफल है, अन्यथा करोड़ों शास्त्रों के पढ़ जाने से भी कोई लाभ नहीं।[2]" "निःसन्देह सच्चा स्याद्वादी सहिष्णु होता है, वह राग-द्वेषरूप आत्मा के विकारों पर विजय प्राप्त करने का सतत् प्रयत्न करता है। वह दूसरों के सिद्धान्तों को आदर की दृष्टि से देखता है और मध्यस्थ भाव से संपूर्ण विरोधों का समन्वय करता है।[3]"

इस प्रकार, जैनदर्शन की दृष्टि समन्वयात्मक एवं सनदर्शितापूर्ण है। जैन परम्परानुसार आनन्दघन ने भी छहों दर्शनों को निष्पक्षतापूर्वक समय-पुरुष के षड् अंग के रूप में कल्पित किया है। उनके अनुसार मुख्यरूप से षट्दर्शन निम्नलिखित हैं :—(१) सांख्य, (२) योग, (३) मीमांसक, (४) बौद्ध, (५) लोकायतिक (चार्वाक) और (६) जैन। ऐसा प्रतीत होता है कि न्यायवैशेषिक दर्शन को उन्होंने सांख्य और योग में अथवा योगदर्शन को सांख्य दर्शन में गिनकर यौग अर्थात् नैयायिक ऐसा भी अर्थ टब्बा में किया है।[4] भारतीय विचारधारा में सुप्रसिद्ध षट्दर्शनों की अवधारणा इस प्रकार है :

१. आनन्दघन ग्रन्थावली, नमिजिन स्तवन।

२. अध्यात्मसार, ६१-७०-७३, उद्धृत स्याद्वाद मंजरी, पृ० ३१-३२।

३. स्याद्वाद मंजरी, पृ० ३२ से उद्धृत।

४. श्रीआनन्दघन चौबीसी-प्रमोदायुक्त-सम्पा० प्रभुदास बेचरदास पारेख, पृ० ३५९।

षड्दरसण जिन अंग भणीजै, न्यास षडंग जो साधै रे।
नमि जिनवर ना चरण उपासक, षड दरसण आराधै रे ।।[1]

यह सच है कि सभी दर्शनों की समान भाव से आराधना करनेवाला साधक ही परमात्मा के चरणों का सच्चा उपासक हो सकता है, अतः उसकी बुद्धि अनेकान्तिक होती है। इसी बात को उनके समकालीन उपाध्याय यशोविजय ने इस प्रकार अभिव्यक्त किया है—"सच्चा अनेकान्तवादी किसी भी दर्शन से द्वेष नहीं करता। वह सम्पूर्ण नय रूप दर्शनों को इस प्रकार वात्सल्य दृष्टि से देखता है, जैसे कोई पिता अपने पुत्रों को देखता है, क्योंकि अनेकान्तवादी की न्यूनाधिक बुद्धि नहीं हो सकती। वास्तव में सच्चा शास्त्रज्ञ कहे जाने का अधिकारी वही है जो स्याद्वाद का अवलम्बन लेकर सम्पूर्ण दर्शनों में समभाव रखता है। वास्तव में माध्यस्थ भाव ही शास्त्रों का गूढ़ रहस्य है, यही धर्मवाद है। माध्यस्थ भाव रहने पर शास्त्रों के एक पद का ज्ञान भी सफल है, अन्यथा करोड़ों शास्त्रों के पढ़ जाने से भी कोई लाभ नहीं।[2]" "निःसन्देह सच्चा स्याद्वादी सहिष्णु होता है, वह राग-द्वेषरूप आत्मा के विकारों पर विजय प्राप्त करने का सतत् प्रयत्न करता है। वह दूसरों के सिद्धान्तों को आदर की दृष्टि से देखता है और मध्यस्थ भाव से संपूर्ण विरोधों का समन्वय करता है।[3]"

इस प्रकार, जैनदर्शन की दृष्टि समन्वयात्मक एवं [illegible] है। जैन परम्परानुसार आनन्दघन ने भी छहों दर्शनों को निष्पक्षतापूर्वक समय-पुरुष के षड् अंग के रूप में कल्पित किया है। उनके अनुसार मुख्यरूप से षट्दर्शन निम्नलिखित हैं:—(१) सांख्य, (२) योग, (३) मीमांसक, (४) बौद्ध, (५) लोकायतिक (चार्वाक) और (६) जैन। ऐसा प्रतीत होता है कि न्यायवैशेषिक दर्शन को उन्होंने सांख्य और योग में अथवा योगदर्शन को सांख्य दर्शन में गिनकर यौग अर्थात् नैयायिक ऐसा भी अर्थ टब्बा में किया है।[4] भारतीय विचारधारा में सुप्रसिद्ध षट्दर्शनों की अवधारणा इस प्रकार है:

१. आनन्दघन ग्रन्थावली, नमिजिन स्तवन।
२. अध्यात्मसार, ६१-७०-७३, उद्धृत स्याद्वाद मंजरी, पृ० ३१-३२।
३. स्याद्वाद मंजरी, पृ० ३२ से उद्धृत।
४. श्रीआनन्दघन चौबीसी-प्रमोदायुक्त-सम्पा० प्रभुदास बेचरदास पारेख, पृ० ३५९।

(१) सांख्य-योग, (२) न्याय-वैशेषिक (३) पूर्वोत्तर-मीमांसा। ये तीन वैदिक और (४) जैन, (५) बौद्ध तथा (६) चार्वाक, ये तीन अवैदिक दर्शन। षट्दर्शन तो एक उपलक्षण मात्र ही है वस्तुतः विश्वावलोकन की अनेक दृष्टियाँ हैं, वे सब जैनशासन में समाहित हैं। उपाध्याय यशोविजय के शब्दों में "........सर्वदर्शन तणु मूल तुझ शासन, तिणें ते एक सुविवेक थुणिए।"[1]

तात्पर्य यह कि जिनेश्वर प्रभु का शासन सर्वदर्शनों का मूल है। यद्यपि प्रत्येक दर्शन की विचारधारा पृथक्-पृथक् है, तथापि प्रत्येक दर्शन के विचार अमुक दृष्टि से (किसी अपेक्षा से) जैन दर्शन के विचारों में मान्य हैं, इसीलिए जैनदर्शन में सभी दर्शनों का समावेश हो जाता है।

दार्शनिक क्षेत्र में प्रमुख सिद्धान्त आत्म-सत्तावाद है। इस सिद्धान्त पर ही भारतीय दर्शन के सभी तात्त्विक सिद्धान्त टिके हुए हैं। इसीलिए आनन्दघन ने आत्मवाद को लक्ष्य में रखकर षट्दर्शनों की चर्चा की है। सांख्य-योग दर्शन मुख्य-रूप से आत्म-सत्ता की विचारणा करता है, अतः आनन्दघन ने इन दोनों को जिनतत्त्व-ज्ञान रूपी कल्पवृक्ष के दो पैर माना है।[2] इसी तरह बौद्ध और मीमांसा दर्शन क्रमशः आत्मा के भेद और अभेद की चर्चा करते हैं अर्थात् बौद्धदर्शन आत्मा को अनेक, भेदरूप, क्षणिक एवं परिवर्तनशील मानता है और मीमांसा दर्शन आत्मा को अभेद (एक रूप रहनेवाली नित्य) रूप मानता है। इसीलिए ये दोनों जिन-तत्त्वज्ञान रूप कल्पवृक्ष के दो हाथ हैं,[3] और चार्वाक दर्शन आत्मा की सत्ता केवल इन्द्रिय-प्रत्यक्ष तक ही मानता है। इस दृष्टि से उसे कुक्षि (उदर) के रूप में स्थापित किया।[4] अन्त में जैनदर्शन को जिन-परमात्मा

---

१. साडा त्रण सो गाथा नु स्तवन, ढाल १७।

२. जिनसुर पादप पाय बखाणु, सांख्य जोग दुय भेदे रे।
आतम सत्ता विवरण करता, लहो दुग अंग अखेदे रे॥ २॥
—आनन्दघन ग्रन्थावली, नमिजिन स्तवन।

३. भेद अभेद सुगत मीमांसक, जिनवर दुय कर भारी रे।
लोकालोक अवलम्बन भजियै, गुरुगमथी अवधारी रे॥ ३॥
वही।

४. लोकायतिक कूख जिनवरनी, अंस बिचार जो कीजै रे।
तत्त्वविचार सुधारसधारा, गुरुगम विण किम पीजै रे॥ ४॥
वही।

का श्रेष्ठ उत्तमांग मस्तिष्क के रूप में[1] स्थान देकर आनन्दघन ने बुद्धिमत्ता का सुन्दर परिचय दिया है।

तात्पर्य यह कि जैनदर्शन में ये सब दर्शन समा जाते हैं। भिन्न-भिन्न दृष्टि से सभी दर्शन सत्यांश हैं। सन्त आनन्दघन की विशिष्टता यह है कि उन्होंने किसी भी दर्शन की निन्दा नहीं की और न किसी दर्शन की उपेक्षा की। किन्तु उन्होंने सभी दर्शनों में निहित सत्यांश को गहराई से पहचाना है और पहचानने के पश्चात् ही अपनी सूझ-बूझ के साथ सबको यथायोग्य स्थान दिया है।

अपरोक्षानुभूति

आनन्दघन का रहस्यवाद अनुभूतिजन्य है। इसलिए उसमें अपरोक्षानुभूति या आत्मानुभूति की प्रधानता को सर्वाधिक महत्त्व दिया गया है। रहस्यानुभूति या आत्मानुभूति को अभिव्यक्त करने हेतु जो विविध विवेचन-पद्धतियाँ अपनायी जाती हैं वे सीमित हैं, क्योंकि भाषा ससीम है और अपरोक्षानुभूति असीम। ये पद्धतियाँ अपरोक्षानुभूति के सम्बन्ध में कुछ इंगित कर सकती हैं, किन्तु उस अपरोक्ष तत्त्व की अनुभूति नहीं करा सकती।

उक्त विवेचन-पद्धतियों के अतिरिक्त दार्शनिक वाद-विवाद अथवा तर्क-वितर्क की प्रणाली के द्वारा भी रहस्यमय परमतत्त्व की व्याख्या करने का प्रयास प्राचीनकाल से दार्शनिकों द्वारा होता रहा है। किन्तु आनन्दघन ने आत्मानुभव के क्षेत्र में दार्शनिक विवादों तथा तर्क-विचार को अनुपयुक्त माना है। वे षट्दर्शन के वाग्जाल में उलझने की अपेक्षा आत्मानुभव को अधिक महत्त्व देते हैं। यही कारण है कि उनके अधिकांश पदों में 'आत्मानुभव' की हृदयस्पर्शी विवेचना है। 'आत्मानुभव-रस-कथा' की महत्ता पर प्रकाश डालते हुए वे कहते हैं :

आतम अनुभव रस कथा, प्याला पिया न जाइ।
मतवाला तो ढहि परै, निमता परै पचाइ॥[2]

---

१. जैन जिणेसर वर उत्तम अंग, अंतरंग बहिरंगे रे।
अक्षर न्यास धरी आराधक, आराधै गुरु संगे रे॥ ५॥
आनन्दघन ग्रन्थावली, पद ३५।

२. वही।

यह आत्मानुभव रूप रस का प्याला अति सरस है, किन्तु इसका पान करना अत्यन्त दुर्लभ है। प्रत्येक व्यक्ति इस अनुभव-रस का आस्वादन नहीं कर सकता। इस रसामृत का पान मताग्रही व्यक्ति तो कर ही नहीं सकता, क्योंकि जो सत्य को न पकड़ कर केवल स्वमत का दुराग्रह रखते हैं अथवा जो मोह-माया में डूबे हुए हैं, वे इस रस का पान करने और उसे पचाने की क्षमता नहीं रखते। इसका आस्वादन तो वे ही कर सकते हैं जो मताग्रह से रहित और मोह-माया से मुक्त हैं। ऐसे व्यक्ति इस रस को पीकर आत्मानन्द में निमग्न हो जाते हैं। इस सम्बन्ध में उनकी ये पंक्तियाँ मननीय हैं :

आतम अनुभौ रस कथा, प्याला अजब विचार।
अमली चाखत ही मरै, घूमै सब संसार ॥[1]

आत्मानुभव रूप रस के प्याले का विचार अद्भुत है, आश्चर्यकारक है। यह एक ऐसा विलक्षण रस का प्याला है, जिसका आस्वादन करते ही व्यक्ति आत्मानुभव में लीन हो जाता है। जिसने इस रस का पान नहीं किया, वह इस संसार में ही भटकता रहता है। वास्तव में, आत्मानुभूति के अभाव में समस्त प्राणी संसारचक्र में परिभ्रमण कर रहे हैं। सन्त कबीर ने भी आत्मानुभव के सम्बन्ध में कहा है कि

आतम अनुभव ज्ञान की, जो कोई पूछे बात।
सो गूंगा गुड़ खाइ कै कहै कौन मुख स्वाद ॥[2]

इस आत्मानुभव रूप ज्ञान का वर्णन सम्भव नहीं, जो इसे प्राप्त करता है वही इसका स्वाद जानता है। सन्त रैदास ने भी कहा है कि यह लिखने-पढ़ने ज्ञान-विज्ञान की बातें नहीं है, यहां तो अनुभव है, मात्र आत्मानुभव।[3] आत्मानुभव की महत्ता के सम्बन्ध में उपाध्याय यशोविजय का कथन भी द्रष्टव्य है। ज्ञान सार में उन्होंने कहा है कि समग्र शास्त्रों का अभ्यास मात्र दिशा-निर्देश कर सकता है, किन्तु एक ही आत्मानुभव

१. आनन्दघन ग्रन्थावली, पद ५३।

२. कबीर ग्रंथावली, पृ० १००।

३. पढे गुनै कछ काम न आवै,
जौ लों भाव न दर से।
—रैदास की बानी, १३, पृ० १३।

संसार-समुद्र से पार पहुँचाने का कार्य करता है।[1] अध्यात्मोपनिषद् में भी कहा गया है कि विशुद्ध आत्मानुभव के बिना अतीन्द्रिय परम ब्रह्म को शास्त्रों की सैकड़ों युक्तियों से भी कदापि नहीं जाना जा सकता।[2] वस्तुतः शास्त्र तो मात्र आत्मा का संकेत कर सकता है, लेकिन आत्मानुभूति नहीं करा सकता।[3] कविवर बनारसीदास ने भी कहा है—

अनुभव चिंतामणि रतन, अनुभव है रसकूप।
अनुभव मारग मोख को, अनुभव मोख सरूप॥

अनुभव परम से प्रीति जोड़ने वाला रसायन है, अमृत का कौर है और इसके समान और कोई धर्म नहीं है, ऐसा बनारसीदास जी एक सवैया में कहते हैं—

अनुभौ के रस कौं रसायन कहत जग,
अनुभौ कौ अभ्यास यहु तीरथ की ठौर है।
अनुभौ की जो रसा कहावै सोई पोरसा सु,
अनुभौ अघोरसा सौं ऊरध की दौर है॥
अनुभौ की केलि यहै कामधेनु चित्रावेलि,
अनुभौ को स्वाद पंच अमृत कौ कौर है।
अनुभौ करम तोरै परम सौं प्रीति जोरै,
अनुभौ समान न धरम कोऊ और है॥[4]

अनुभव की ऐसी महत्ता के आधार पर यह कहा जा सकता है कि सन्त आनन्दघन के रहस्यवादी दर्शन में एक ही प्रमाण पर अत्यधिक बल दिया गया है और वह है 'प्रत्यक्ष अनुभव' जिसे आनन्दघन के शब्दों में, आत्मानुभव अथवा अपरोक्षानुभूति कहा गया है। जैनदर्शन में भी आत्मा-साक्षात्कार के लिए आत्म-प्रत्यक्ष प्रमाण को ही माना गया है, इन्द्रिय-प्रत्यक्ष को नहीं। इसीलिए जैन दर्शन में प्रत्यक्ष के दो भेद किए गए हैं:

१. ज्ञानसार २६।
२. अतीन्द्रियं परं ब्रह्म विशुद्धानुभवं विना।
शास्त्र युक्ति शतेनापि नैव गम्यं कदाचन्॥
—अध्यात्मोपनिषद्, द्वितीय अधिकार २१।
३. अध्यात्मोपनिषद्, द्वितीय अधिकार २।
४. समयसार नाटक, उत्थानिका।

(१) आत्म-प्रत्यक्ष, और

(२) इन्द्रिय-प्रत्यक्ष ।

मूल प्रश्न यह है कि आत्मा का अनुभव अथवा आत्म-अनुभव-ज्ञान कैसे प्राप्त हो ? इस सम्बन्ध में आनन्दघन[1] का स्पष्ट कथन है कि आत्मानुभव न तर्क से होता है, न दार्शनिक विवादों (षड्दर्शन के वाग्विलास) में उलझने से और न ऐन्द्रिक अनुभव से होता है। इस आत्म-तत्त्व का अनुभव केवल अनुभव-ज्ञान से ही हो सकता है।[2] आत्मानुभव के क्षेत्र में षड्दर्शन के वाग्-विलास अथवा षड्दर्शन के तर्क-वितर्क के भिन्न-भिन्न कथनों की गहनता की थाह पाना बड़ा कठिन है। एक श्वास रूपी चोले पर (शरीर पर) आधारित व्यक्ति षड्दर्शन रूपी पत्थरों का भार कैसे उठा सकता है ? वस्तुतः आत्मानुभव के क्षेत्र में षड्दर्शनों का तर्क-वितर्क बाधक ही है। इतना ही नहीं, प्रत्युत आत्मानुभव-ज्ञान और षड्दर्शनों के ज्ञान की तुलना करते हुए आनन्दघन कहते हैं कि कहां भ्रमर के पैरों के समान षड्दर्शन का ज्ञान और कहां गजपद (हाथी के पैरों) के समान आत्मानुभव का ज्ञान। आत्मानुभव ज्ञानरूप हाथी से षड्दर्शन रूप भ्रमर की तुलना कैसे की जा सकती है ?[3] उनके कहने का मूल मन्तव्य यह है कि षड्दर्शन का ज्ञान अथवा षड्दर्शन का वाग्विलास तो भ्रमर के लघु पैरों की भांति ससीम है और आत्मानुभव का ज्ञान विशालकाय हाथी की भाँति असीम है। अतः असीम की ससीम से जानकारी होना असम्भव है। षड्दर्शनों का विशाल-गहन ज्ञान हो जाने पर भी आत्मानुभूति नहीं हो सकती। इसी तरह आनन्दघन ने तर्क-विचार (वाद-प्रतिवाद की परम्परा) द्वारा भी शुद्धात्म-तत्त्व (परमात्म-तत्त्व) के पथ को प्राप्त करना असम्भव बताया है। उनका कथन है :

---

१. अनुभव गोचर वस्तु कोरे, जाणिए इह इलाज ।
—आनन्दघन ग्रन्थावली, पद ६१ ।

२. वही, पद ६१ ।

३. वागवाद षटवाद सहु मैं, किसके किस के बोला ।
पाहण को भार कहा उठावत, इक तारे का चोला ।।
षटपद पद के जोग सिरीष सहैं वयु करि गजपद तोला ।
आनन्दघन प्रभु आइ मिलो तुम्ह, मिटि जाइ मन का झोला ।।
—वही, पद ५५ ।

तर्क बिचारे वाद परम्परा रे, पार न पहुँचे कोय।
अभिमत वस्तु वस्तु गते कहै रे, ते बिरला जग जोय ॥[1]

तर्क द्वारा यदि परमात्मा के पथ को खोजने का प्रयास किया जाय तो वादों की परम्परा ही दृष्टिगत होती है। वाद-विवाद का कहीं अन्त ही नहीं दिखाई देता। दूसरी ओर, परमात्मा के मार्ग का यथातथ्य रूप में कथन करने वाले इस संसार में विरले ही महापुरुष दिखाई देते हैं। तात्पर्य यह कि जिन्होंने आत्मानुभूति की है, वे ही सम्यक् पथ-प्रदर्शन कर सकते हैं। वाद-विवाद द्वारा परमात्मा के मार्ग को प्राप्त नहीं किया जा सकता। यद्यपि यह उक्ति प्रसिद्ध है कि 'वादे वादे जायते तत्त्वबोधः 'वाद-प्रतिवाद से तत्त्व का बोध होता है, किन्तु प्रायः यह देखा जाता है कि वाद-विवाद में तत्त्वबोध के स्थान पर कलह का वातावरण खड़ा हो जाता है और तत्त्वबोध कहीं रह जाता है। यह सत्य भी है कि वाद-प्रतिवाद द्वारा तत्त्व के मर्म को नहीं जाना जा सकता। हरिभद्र सूरि ने यथार्थ ही कहा है कि तिल पिलने वाले बैल की गति की भांति वाद और प्रतिवाद द्वारा तत्त्व के रहस्य तक नहीं पहुँचा जा सकता।[2] आचारांग चूर्णि में भी कहा गया है कि 'राग-दोस करो वादो'।[3] प्रत्येक 'वाद' राग-द्वेष की वृद्धिकरनेवाला है। मुनिराम सिंह ने भी सिद्धान्तों की व्याख्या मात्र करते घूमनेवाले तर्कपटु पण्डितों के विषय में कहा है कि ऐसे लोग बुद्धिमान् कहलाते हुए भी मानो अन्न के कणों से रहित पुआल का संग्रह करते हैं और कण का परित्याग कर उसकी भूसी मात्र कूटा करते हैं।[4] बहुत पढ़ने से क्या लाभ ? षड्-दर्शनों के झमेले में पड़कर भ्रान्ति नहीं मिट सकती, एक देव के छह भेद कर दिए, किन्तु उससे मोक्ष के निकट नहीं पहुँच सके।[5]

---

१. आनन्दघन ग्रन्थावली, अजित जिन स्तवन।

२. वादांश्च प्रतिवादांश्च वदन्तो, निश्चितांस्तथा।
तत्त्वान्तं नैव गच्छन्ति तीलपीलकवद् गतौ ॥
—योगबिन्दु, श्लो० ६७।

३. आचारांग चूर्णि, १।७।१

४. पाहुड़ दोहा, ८४-८५-८७।

५. छह दंसण धंधइपडिय, मणंहण फिट्टिय भंति।
एक्कु देउ छह भेउ किउ, तेण ण मोक्ख जन्ति ॥
—वही, ११६।

कबीर ने भी कहा है कि षड्दर्शन तथा ९६वें पाखंडों (बौद्धमतों) में से किसी ने भी इस तत्त्व (रहस्य) को पूर्णतः नहीं समझा है।[1] इसी तरह कवि अखा ने भी षड्दर्शन की खटपट को व्यर्थ बताया है।[2] चीनी और बौद्ध साहित्य में भी लाओत्से ने इस बात को निम्नलिखित रूप में व्यक्त किया है कि "वाद-विवाद करनेवालों को ताओ[3] का अनुभव नहीं। जो उसके विषय में वाद-विवाद करता है उसे उसका ज्ञान ही नहीं रहता। जो पण्डित होते हैं वे 'ताओ' को नहीं जानते....।" "ताओ की एक प्रसिद्ध उक्ति यह भी है कि 'जो मुखर है वह नहीं जानता और जो ज्ञानी है वह नहीं बोलता। 'वस्तुतः' यह ताओ अनायास (सहज) कर्म करने वाले ज्ञानी पुरुष को ही अनुभवगम्य हुआ करता है।"[4] उपनिषदों में भी ब्रह्मानुभूति में तर्क की अप्रतिष्ठा मानी गई है। 'नैषा मतिस्तर्केणापनेया:'[5] तथा 'तर्काप्रतिष्ठानात्' (उस परमात्मा का ज्ञान तर्क से नहीं होता)—जैसी उक्तियाँ उपनिषदों में भी पायी जाती हैं। न केवल भारतीय दार्शनिकों ने अनुभव की महत्ता स्वीकार की, प्रत्युत पाश्चात्य दार्शनिकों ने भी अनुभव को महत्त्व दिया है। प्रो० जे० एस० मेकेंजी ने 'आउट लाइन्स आफ मेटाफिजिक्स' में अध्यात्म-विद्या के लक्षण में 'अनुभव' शब्द का प्रयोग किया है। उनके मतानुसार "अध्यात्मविद्या उस विद्या को कहते हैं जिसमें अनुभव का सार-रूप से विचार होता है।"[6]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि आत्मानुभव के क्षेत्र में पौर्वात्य एवं पाश्चात्य सभी दार्शनिकों ने दार्शनिक वाद-विवाद और तर्क को अनुपयुक्त माना है, अतः दार्शनिक विवाद बौद्धिक उपज है। अनुभूति का सम्बन्ध

१. छह-दरसन-छयानवें-पाषंड आकुल किन हूं न जाना।
—कबीर ग्रन्थावली, पदावली २४।

२. खटदर्शन खटपट करे, तर्कवाद तकरीर।
अदबद की औरे 'अखा', ज्यूं लावा लवत कुटीर॥
—कवि अखा।

३. विश्व का मूल अथवा परब्रह्म। 'तत्त्व' और 'बोध' का वाचक।

४. ताओ तेह'—लाओत्जे, उद्धृत रहस्यवाद—आचार्य परशुराम चतुर्वेदी, पृ० १७२।

५. कठोपनिषद्, १।२।९

६. कबीर और जायसी का रहस्यवाद और तुलनात्मक विवेचन, पृ० ६५-६६।

प्रधानतः हृदय से होता है और तर्क या वाद-प्रतिवाद का सम्बन्ध बौद्धिकता से। इसलिए आत्मानुभूति के सम्बन्ध में बुद्धि द्वारा जो भी वाद-विवाद या तर्क-वितर्क किया जाता है, वह अनुभूत्यात्मक नहीं हो सकता। बुद्धि तर्क कर सकती है, वह किसी भी वस्तु-तत्त्व का विश्लेषण कर सकती है, किन्तु वह 'अनुभव' ('जान') नहीं कर सकती। यह उन वादों और मतों का विशाल भवन भी खड़ा कर देती है, जिनमें मन उसी प्रकार बँध जाता है जिस प्रकार 'बन्दर-पिंजरे में बँध जाता है।' बुद्धि से बौद्धिक समस्याओं का समाधान हो सकता है, किन्तु बुद्धि जितनी समस्याओं का समाधान नहीं करती, उतनी समस्याएँ उपस्थित कर देती है और इस प्रकार हृदय उद्विग्न हो उठता है, चित्त असमाधिस्थ हो जाता है। इन्हीं सब कारणों को दृष्टिगत रखते हुए आनन्दघन ने दार्शनिक विवादों से ऊपर आत्मानुभव की प्रधानता को सर्वोपरि स्थान दिया है।

वास्तव में, आनन्दघन जिस आत्मानुभव की चर्चा करते हैं, वह षड्दर्शनों का सत्य नहीं है, प्रत्युत अनुभूतिजन्य सत्य है। उनके अनुसार वादों की चर्चा तो केवल वाग्जाल है अर्थात् बोलने की चतुराई किंवा कला है। इससे आत्मतत्त्व का ज्ञान नहीं हो सकता। ऐसा नहीं है कि आनन्दघन ने दार्शनिक वादों का अध्ययन-मनन किए बिना ही दार्शनिक वादों की चर्चा को वाग्जाल कह दिया। भारतीय विचारधारा में प्रचलित आत्म-तत्त्व सम्बन्धी सभी मान्यताओं का भली-भाँति परिशीलन करने के बाद ही वे कहते हैं कि भिन्न-भिन्न दर्शनों में आत्म-तत्त्व की जो मीमांसा की गई है, उससे आत्म-तत्त्व का ज्ञान होने के बजाय बुद्धि भ्रमित हो जाती है। ऐसी स्थिति में साधक के समक्ष कठिनाई होना स्वाभाविक है कि वस्तुतः आत्मतत्त्व क्या है ? इस प्रकार अनेक दर्शनों की मान्यताओं के विभ्रम में बुद्धि संकट में पड़ जाती है और इस संकट के कारण मुझे (साधक को) आत्म-तत्त्व की प्राप्ति नहीं होती।[1] उक्त समस्या के समाधान के लिए आनन्दघन का स्पष्ट कथन है कि मत-मतान्तरों के सभी ऐकान्तिक पक्षपात को छोड़कर और राग-द्वेष तथा मोह का परित्याग कर जो साधक आत्मा का ध्यान करता है, स्थिर चित्त से उसका चिन्तन करता है, वह

१. इम अनेक वादी मत विभ्रम, संकट पडियो न लहै।
चित्त समाधि ते माटे पूछूं, तुमविण तत कोण कहै॥
—आनन्दघन ग्रन्थावली, मुनि सुव्रत जिन स्तवन।

फिर इन व्यर्थ के वाद-विवादों के चक्कर में नहीं पड़ता। यह सत्य है कि आत्मानुभव होने पर सारे वाद-विवाद समाप्त हो जाते हैं और चित्त समाधिस्थ हो जाता है। वास्तव में आनन्दघन के अनुसार आत्मानुभव के अतिरिक्त अन्य सब तो वाग्जाल ही है अर्थात् वाणी व्यापार या बकवास है।[१]

यहां प्रश्न उठ सकता है कि यदि आनन्दघन ने दार्शनिक विवादों से ऊपर आत्मानुभव की प्रधानता को सर्वोपरि महत्त्व दिया है, तो फिर उन्होंने अपनी रचनाओं में दार्शनिक वादों पर विचार क्यों किया ? यद्यपि आनन्दघन की कृतियों में षड्दर्शन, नयवाद, स्याद्वाद, सप्तभंगी आदि दार्शनिक विचार पाये जाते हैं, फिर भी इतना सुनिश्चित है कि उन्होंने जैन तत्त्व-ज्ञान के प्रत्येक पहलू पर अनेकान्त-दृष्टि से सापेक्ष विवेचना की है। उनकी कृतियों का सम्यक् अवलोकन करने पर स्पष्ट हो जाता है कि उनमें खण्डन-मण्डन करनेवाली दुरूह तार्किकता या व्यर्थ के वाद-विवादों का स्थान नहीं है। दार्शनिक चर्चा में भी उनका मूलभूत ध्येय, जन साधारण को बहिर्मुखी वृत्ति से विमुख कर आत्मोन्मुखी करना है। उनके दर्शन में प्रयुक्त तत्त्वमीमांसा, ज्ञानमीमांसा और आचारमीमांसा सभी में आत्मानुभूति की ही प्रधानता दृष्टिगोचर होती है।

वस्तुतः आनन्दघन उच्चकोटि के पहुंचे हुए आत्मानुभवी सन्त थे। आत्मानुभव द्वारा वे आत्मा के अमरत्व का अनुभव करते हैं। यह उनकी सर्वोच्च अवस्था है। इस सम्बन्ध में उनका निम्नांकित पद अत्यन्त प्रसिद्ध है :

अब हम अमर भए, न मरेंगे।[२]

१. वलतूं जग गुरु इण परि भाखै, पक्षपात सहु छंडी।
राग द्वेष मोहे पख वरजित, आतम सूं रढ मंडी॥
आतम ध्यान करे जो कोऊ, सो फिर इण में नावै।
वाग जाल बीजूं सहु जाणै, एह तत्त्व चित्त चावै॥
—आनन्दघन ग्रन्थावली, मुनि सुव्रत जिन स्तवन।

२. वही, पद १००।

आनन्दघन के रहस्यवाद के दार्शनिक आधार

आत्म-ज्ञान की जिज्ञासा

आत्मतत्त्व की जिज्ञासा अध्यात्मवादी और रहस्यवादी दर्शन की आधार भूमि है। रहस्यवाद का विशाल प्रासाद आत्मानुभूति की अभीप्सा पर ही खड़ा हुआ है। आत्मानुभूति की यह अभीप्सा या आत्मतत्त्व की उत्कट जिज्ञासा आध्यात्मिक सन्त आनन्दघन की इन पंक्तियों में अभिव्यक्त हुई है :

आतम तत क्यूं जाणूं जगतगुरु, एह विचार मुझ कहियै ।
आतम तत जाण्या विण निरमल, चित्त समाधि नवि लहियै ॥[1]

आनन्दघन आत्मज्ञान की तीव्र अभीप्सा लिए हुए कहते हैं कि प्रभु! मुझे आत्मतत्त्व का ज्ञान किस प्रकार प्राप्त हो, यह उपाय बतलाइए, क्योंकि जब तक आत्मतत्त्व का ज्ञान नहीं होगा, तब तक चित्त में निराकुलता नही आएगी, मन निर्मल और निर्विकार नहीं होगा और समाधि की उपलब्धि सम्भव नहीं होगी। इसी तरह अरजिन स्तवन में भी उन्होंने स्व-स्वरूप की जिज्ञासा प्रकट की है। आत्म के निज स्वरूप को जानने-समझने की दृष्टि से वे कहते हैं :

धरम परम अरहनाथ नो, किम जाणुं भगवंत रे ।
स्व पर समय समझाविए, महिमावंत महन्त रे ॥[2]

सामान्यतः संसार में अनेकविध धर्म प्रचलित हैं, लेकिन प्रश्न यह है कि यथार्थ धर्म कौन-सा है? ऐसा कौन-सा धर्म है जो संसार-चक्र से मुक्ति दिलानेवाला हो, स्व-स्वरूप की उपलब्धि करानेवाला हो। इस दृष्टि से आनन्दघन उक्त पंक्तियों में परमात्मा के समक्ष यह जिज्ञासा व्यक्त करते हैं कि मुझे यह बताना कि आत्मधर्म को कैसे पहचाना जा सकता है, आत्मा का अपना धर्म या स्व-स्वभाव क्या है और उसका परधर्म अर्थात् विभाव दशा क्या है?

---

१. आनन्दघन ग्रन्थावली, अरजिन स्तवन ।
२. वही ।

आत्म-ज्ञान की यह जिज्ञासा जैन एवं वैदिक वाङ्मय में भी अभिव्यक्त हुई है। प्राचीनतम जैनागम आचारांग का प्रारम्भ ही आत्म-जिज्ञासा से होता है जो कि दर्शनशास्त्र का मूल बीज माना गया है। उसमें कहा गया है—'मैं कौन हूँ, कहाँ से आया हूँ ? कहाँ जाऊँगा ? क्या मेरा पुनर्जन्म होगा ? मेरा स्वरूप क्या है ?' आदि।[1] इसी की प्रतिध्वनि वैदिक-परम्परा में भी देखी जा सकती है। यथा—'कोऽहं कीदृक् कुतः आयातः'[2]—अर्थात् 'मैं कौन हूँ और कहां से आया हूँ।' यही बात मुण्डकोपनिषद्[3] एवं कठोपनिषद्[4] में भी है।

यहां सहज प्रश्न उठ सकता है कि आनन्दघन ने आत्मतत्त्व के सम्बन्ध में ही जिज्ञासा प्रकट क्यों की ? इसके अनेक कारण हैं। जब तक साधक को आत्मतत्त्व का ज्ञान नहीं होगा, तब तक वह अपने साध्य को नहीं प्राप्त कर सकता। यह सत्य है कि परमतत्त्व रूप साध्य को पाने के लिए जब तक हृदय में आत्म-तत्त्व को जानने की छटपटाहट नहीं होगी, तब तक वह साध्य तक पहुंचने में असमर्थ रहेगा। आत्मतत्त्व की जिज्ञासा का कारण उन्होंने स्वयं बताया है :

आतम तत्त जाण्या विण निरमल चित्त समाधि नवि लहियौ[5]

उनकी स्पष्ट मान्यता है कि आत्मतत्त्व को जाने बिना चित्त की निर्मल,

---

१. पुरत्थिमातो वा दिसातो आगतो अहमंसि, दाहिणाओ वा दिसाओ आगतो अहमंसि, पच्चत्थिमातोवा दिसातो आगतो अहमंसि, उत्तरातो वा दिसातो आगतो अहमंसि, उड्ढातो वा दिसातो आगतो अहमंसि, अधे दिसातो वा आगतो अहमंसि, अन्नतरीतोदिसातो वा अणुदिसातो वा आगतो अहमंसि, एवमेगेसिं णो णातं भवति। अत्थि मे आया उववाइए, णत्थि मे आया उववाइए, के अहं आसी, के वा इओ चुए पेच्चा-भविस्यामि।
—आचारांग, १।१।१

२. चर्पट पंजरिका, आचार्य शंकर।

३. कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवतीति।
—मुण्डकोपनिषद्, १।१३

४. येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्ये,
अस्तीत्येके नायमस्तीति चैके।
—कठोपनिषद् १।२०

५. आनन्दघन ग्रन्थावली

निरुपाधिक समाधि अथवा एकाग्रता-स्थिरता नहीं प्राप्त हो सकती। इससे स्पष्ट होता है कि मन की शान्ति (समाधि) के लिए या निरुपाधिक चित्त-दशा प्राप्त करने के लिए ही उन्होंने आत्म-जिज्ञासा की।

आत्मतत्त्व की जिज्ञासा का एक कारण यह भी है कि आत्मवाद की मूल भित्ति पर ही बन्ध-मोक्ष, पाप-पुण्य, लोक-परलोक आदि की भव्य इमारत खड़ी हुई है। इसके अभाव में व्यक्ति न तो लोकवादी हो सकता है, न कर्मवादी और न क्रियावादी। यदि आत्मतत्त्व को ही न माना जाय तो लोक-परलोक, कर्म-क्रिया आदि किस पर घटित होंगे? इसीलिए आचारांग में कहा गया है "से आयावादी लोगावादी कम्मावादी किरिया-वादी[1]"—अर्थात् जिसे आत्मा का सम्यक् परिज्ञान हो गया है वही आत्म-वादी, लोकवादी, कर्मवादी और क्रियावादी है। इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि आनन्दघन द्वारा सर्वप्रथम आत्मतत्त्व की जिज्ञासा प्रस्तुत करना स्वाभाविक है।

आनन्दघन की आत्म-जिज्ञासा का दूसरा कारण यह भी है कि आत्म-बोध के अभाव में व्रत-नियम, साधनाएँ, धर्मक्रियाएँ निष्फल सिद्ध होती हैं, क्योंकि आत्म-बोध के बिना क्रियाएँ गतानुगतिक या लकीर की फकीर बनकर अथवा अंधविश्वासपूर्वक की जाती हैं। अतः ऐसी क्रियाएँ मात्र भव-भ्रमण करानेवाली ही होती हैं न कि मुक्तिदायिनी। इस सम्बन्ध में आनन्दघन का कथन है कि आत्म-ज्ञान सहित की गई क्रियाएँ ही मुक्ति-दायिनी होती हैं। यद्यपि व्यक्ति अनेकविध क्रियाओं द्वारा परमात्मा की सेवा-भक्ति करना चाहता है, किन्तु जिन क्रियाओं के करने से मोक्ष नहीं मिलता, ऐसी क्रियाओं के करने से चतुर्गतिरूप संसार में ही परिभ्रमण करना पड़ता है।[2] आत्मस्वरूपानुलक्षी क्रिया ही भवभ्रमण का अन्त कर सकती है। इसीलिए उनकी यह धारणा है कि कोई भी साधना आत्म-स्वरूप का बोध हो जाने के बाद ही सार्थक होती है। किसी भी साधना का सार्थक प्रतिफल मोक्ष है। इस दृष्टि से उनके द्वारा आत्म-तत्त्व की जिज्ञासा प्रस्तुत करना तर्कसंगत है।

१. आचारांग, १।१।१

२. एक कहे सेवियै विविध करिया करी, फल अनेकांत लोचन देखे।
फल अनेकान्त किरिया करी बापड़ा रड़बड़े चारगति मांहि लेखे॥
—आनन्दघन ग्रन्थावली, अनन्तजिन स्तवन।

आनन्दघन की आत्मस्वरूप की जिज्ञासा का एक अन्य कारण यह भी है कि आत्मा के सम्बन्ध में विभिन्न मत प्रचलित हैं। कोई आत्मा को कूटस्थ नित्य मानता है तो कोई क्षणिक। ऐसी स्थिति में आत्मा का मूल-स्वरूप क्या है? इसकी सही जानकारी आत्म-जिज्ञासुओं को नहीं मिल पाती है। इसलिए उन्होंने वेदान्त, सांख्य, बौद्ध, चार्वाक आदि दर्शनों की आत्मा सम्बन्धी मान्यताओं को तर्क की कसौटी पर कसना चाहा, किन्तु सभी दर्शन उन्हें ऐकान्तिक ही प्रतीत हुए। इसलिए उनकी आत्मज्ञान की जिज्ञासा अधिक तीव्र और प्रबल हो उठी। वे पुनः वीतराग परमात्मा के समक्ष दुहराते हैं:

एक अनेक वादी मत, विभ्रम संकट पडियो न लहे।
चित्त समाधि ते माटे पूछूँ, तुम विण तत कोई न कहे ॥[1]

यहां उन्होंने चित्त-समाधि पर बल दिया है। इससे प्रतीत होता है कि वे योगीन्दु मुनि, मुनि रामसिंह, कबीर आदि के साहित्य से प्रभावित हैं। योगीन्दु मुनि, मुनिरामसिंह और कबीर ने चित्त-शुद्धि और चित्त-समाधि पर विशेष बल दिया है। योग-दर्शन में भी चित्त की पांच भूमिकाएँ प्रतिपादित हैं—मूढ़, क्षिप्त, विक्षिप्त, एकाग्र और निरुद्ध[2]।

जिज्ञासा एक मनोवृत्ति है और इसकी तृप्ति, ज्ञान के माध्यम से ही सम्भव है। मनोविज्ञान में भी जिज्ञासा को मानव की मूल प्रवृत्ति माना गया है। यद्यपि मनोविज्ञान के अनुसार प्राणी में सामान्यतः चौदह मूल प्रवृत्तियाँ मानी गई हैं, तथापि जिज्ञासा की मूल प्रवृत्ति मानवेतर प्राणियों में नहीं मानी गई है।

प्रकृति के विभिन्न उपकरणों और क्रिया-कलापों को देखकर उसके मन में सहज ही प्रश्न उठते रहते हैं। मैं कौन हूँ, मेरा स्वरूप क्या है? विश्व का सारतत्त्व क्या है? उस परमतत्त्व से हमारा क्या सम्बन्ध है? आदि। वस्तुतः रहस्यवादी साधक के लिए, शुद्धात्म-तत्त्व को पाने के लिए

१. आनन्दघन ग्रन्थावली, मुनिसुव्रत जिन स्तवन।

२. ताश्च क्षिप्तं मूढं विक्षिप्त एकाग्रं निरुद्धमितिचित्तस्य भूमयः चित्तस्यावस्था विशेषाः ॥

—पातंजल योगदर्शन, सूत्र २।
—भोजवृत्ति।

अन्तर्मानस में तीव्र जिज्ञासा का होना नितान्त अनिवार्य है। जिस साधक में जिज्ञासा का तत्त्व नहीं है, वह कदापि रहस्यवादी नहीं हो सकता। इस प्रकार कहा जा सकता है कि आत्मतत्त्व के ज्ञान के लिए जिज्ञासा की पद्धति अपना कर आनन्दघन ने मनोवैज्ञानिक एवं रहस्यवादी दृष्टि का परिचय दिया है।

भगवतीसूत्र में निर्देश है कि गणधर गौतम ने भगवान् महावीर से छत्तीस हजार प्रश्न किये थे। अतः यह सत्य है कि बिना जिज्ञासा के तत्त्वबोध नहीं हो सकता। वास्तव में, सन्त आनन्दघन ने तत्त्वबोध के लिए जिज्ञासा को आवश्यक मानकर एक मनोवैज्ञानिक सत्य को उद्घाटित किया है।

संक्षेप में, आत्मतत्त्व बोध के लिए प्रश्न-प्रति-प्रश्न एवं शंका-समाधान की जो शैली आनन्दघन के रहस्यवादी दर्शन में दृष्टिगत होती है, वह पूर्णतः उनकी आगमिक दृष्टि की परिचायक है।

आत्मा का स्वरूप

आत्म-ज्ञान के लिए आत्म-जिज्ञासा का होना ही पर्याप्त नहीं है, अपितु आत्मा का लक्षण एवं उसके स्वरूप का सम्यक् बोध होना भी आवश्यक है। उपाध्याय यशोविजय ने भी कहा है कि जब तक आत्मा का लक्षण क्या है, इसका परिज्ञान न हो, तब तक गुणस्थानारोहण या आध्यात्मिक-विकास कैसे सम्भव हैं ?[1]

जैनदर्शन में आत्म-स्वरूप का विश्लेषण विधि, निषेध एवं अवाच्य तीनों रूपों में उपलब्ध होता है। आनन्दघन ने भी आत्मा के स्वरूप का विवेचन विधि और निषेध दोनों प्रकार से किया है। यहाँ तक कि उन्होंने उपनिषदों की भाँति 'नेति-नेति' कह कर आत्मा के स्वरूप को अनिर्वचनीय भी बताया है।

वस्तुतः प्रत्येक जिज्ञासु साधक के अन्तर्मन में यह प्रश्न सहज उठता है कि आत्मा का स्वरूप क्या है ? उसका लक्षण क्या है और उसे कैसे जाना जा सकता है ? आत्म-ज्ञान की जिज्ञासा मानव की सहज एवं

---

१. जिहां लगे आतम द्रव्य नुं, लक्षण नवि जाण्युं।
तिहां लगे गुण ठाणुं भलुं, केम आवे ताण्युं ॥
—सवासो गाथा नुं स्तवन, ढाल ३, २२।

स्वाभाविक वृत्ति है। वह जानना चाहता है कि आत्मा क्या है? सभी भारतीय दार्शनिकों, साधकों एवं सन्तों ने अपने-अपने ढंग से इस प्रश्न का उत्तर देने का प्रयास किया है। इसी कारण विभिन्न दर्शनों में आत्मा के स्वरूप के सम्बन्ध में अनेक मत-मतान्तर दृष्टिगत होते हैं। किसी ने आत्मा के विधायक स्वरूप पर बल दिया है तो किसी ने उसके निषेधात्मक पहलू पर। लेकिन कोई भी दार्शनिक आत्मा के स्वरूप के सम्बन्ध में 'इदमित्थं' कहने का दावा नहीं कर सका। हां, यह बात दूसरी है कि जिसने जितने अंश में उसके स्वरूप का अनुभव किया, उसने उतने अंश में उसे व्यक्त करने का प्रयास किया।

अन्य दर्शनों की तुलना में जैनदर्शन में आत्मा के स्वरूप की चर्चा काफी विस्तार एवं गहराई से हुई है। जैनदर्शन में पदार्थ को आंकने की दो प्रमुख दृष्टियां हैं—निश्चय और व्यवहार। आत्म-स्वरूप की विवेचना भी इन दोनों दृष्टियों से की गई है। यही पद्धति हमें सन्त आनन्दघन के रहस्यवाद में भी सर्वत्र परिलक्षित होती है। जहां एक ओर, वे निश्चय-नय की दृष्टि से आत्मा को 'चैतन्य-मूरति' अर्थात् ज्ञाता-द्रष्टा कहते हैं वहीं दूसरी ओर व्यवहार नय की दृष्टि से आत्मा को कर्ता-भोक्ता भी कहते हैं। इसके अतिरिक्त उन्होंने आत्मा के निषेधात्मक एवं अनिर्वचनीय स्वरूप की भी चर्चा की है।

आत्मा

जैनदर्शन के अनुसार निरन्तर ज्ञानादि पर्यायों को जो प्राप्त होता है, वह आत्मा है। आचारांग में कहा है: "जे आया से विण्णाया, जे विण्णाया से आया।[1]" अर्थात् जो विज्ञाता है वही आत्मा है और जो आत्मा है वही विज्ञाता है। "आत्मा" शब्द की व्युत्पत्ति पर विचार करने से इसके स्वरूप का यथार्थ परिचय प्राप्त होता है। अभिधान राजेन्द्र कोश के अनुसार 'अतति इति आत्मा[2]'—अर्थात् जो गमन करता है वह आत्मा है। तात्पर्य यह कि जो ज्ञान-दर्शन, सुख-दुःख आदि पर्यायों में सतत रमण करता है वह आत्मा है।[3] दूसरे शब्दों में, जो जानता है, अनुभव करता

१. आचारांग १।५।५

२. अभिधान राजेन्द्र कोश, भाग २, पृ० १८८।

३. अतधातोर्गमनार्थत्वेन ज्ञानाऽर्थत्वादतति-सततमवगच्छति उपयोग लक्षणत्वाद् इति आत्मा।

—अभिधान राजेन्द्र कोश, भाग २, पृ० १८८।

है और संकल्प करता है वही आत्मा है।

आत्मा का लक्षण प्रतिपादित करने के पहले यहां इस बात का भी उल्लेख कर देना अप्रासंगिक नहीं होगा कि जैन शास्त्रों में आत्मा, जीव, चेतन, प्राणी, सत्त्व आदि शब्द पर्यायवाची हैं। जैनागमों में 'आत्मा' शब्द के स्थान पर अधिकांशतः 'जीव' शब्द का प्रयोग हुआ है। जैन-दर्शन में आत्मा और जीव शब्द एक ही अर्थ में स्वीकृत हैं। आनन्दघन ने भी आत्मा शब्द के स्थान पर चेतन, अवधू आदि शब्दों का प्रयोग बहुलता से किया है।

आत्मा का लक्षण

जैन-परम्परा में आत्मा का लक्षण उपयोग या चेतना सर्वमान्य रहा है। भगवती,[१] स्थानांग,[२] उत्तराध्ययन[३] आदि जैनागमों के अनुसार आत्मा का लक्षण उपयोग है। परवर्ती जैनाचार्यों[४] एवं सन्तों-साधकों[५]

---

१. उवओग लक्खणेणं जीवे।
—भगवती, १३।४।४८०

२. गुणओ उवओग गुणो।
—ठाणांग, ५।३।५३०

३. जीवो उवओग लक्खणो।
—उत्तराध्ययन, २८।१०

४. उपयोगो लक्षणम्।
—तत्त्वार्थसूत्र, २।८

(ख) सामान्यं खलु लक्षणमुपयोगो भवति सर्व जीवानां
साकारोऽनाकारश्च सोऽष्ट भेदश्चतुर्धा तु।
—प्रशमरति प्रकरण, कारिक १९४।

(ग) सव्वण्हुणाण दिट्ठो जीवो उवओग लक्खणो णिच्चं।
—समयसार, २४ एवं उवओग एव अहमिक्को-
—समयसार, ३७।

(घ) चेदण भावो जीओ चेदण गुण वज्जिया सेसा
—नियमसार, ३७।

(ङ) उवओगो खलु दुविहो णाणेणय दंसणेण संयुत्तो।
जीवस्स सव्वकालं अणण्ण भूदं वियाणिहि॥
—पंचास्तिकाय, ४०।

ने भी आत्मा के लक्षण के रूप में उपयोग अथवा चेतना माना है। निशीथ चूर्णि में तो स्पष्ट कहा गया है कि 'जहां आत्मा है, वहां उपयोग (चेतना) है, और जहां उपयोग है, वहां आत्मा है।'[1]

इसी विचारसरणि का अनुसरण करते हुए सन्त आनन्दघन ने भी सर्वप्रथम 'आनन्दघन चेतनमय मूरति' के कथन द्वारा आत्मा का लक्षण चैतन्यमय प्रतिपादित किया है। वे इस धारणा की पुष्टि शान्तिजिन स्तवन में करते हैं :

आपणो आतम भाव जे, एक चेतना धार रे।
अवर सवि संयोग थी, एह निज परिकर सार रे॥[2]

आत्मा का स्व-स्वभाव चेतन है और आत्मसत्ता का आधार चेतना है। चेतना के अतिरिक्त अन्य सभी अनात्म पदार्थ आत्मा के साथ संयोग-

---

(च) उपयोगी विनिर्दिष्ट स्तत्र लक्षणमात्मनः।
द्वि-विधो दर्शन-ज्ञान-प्रभेदेन जिनाधिपैः॥
—योगसार-प्राभृत, श्लो० ६।

(छ) चैतन्य लक्षणो जीवो, यश्चैतद्विपरीतवान्।
अजीवः स मताख्यातः पुण्यं सत्कर्म पुद्गलाः॥
—षड्दर्शन समुच्चय, ४९।

(ज) चैतन्य स्वरूपः परिणामी कर्ता साक्षाद् भोक्तास्वदेह परिमाणः
प्रतिक्षेत्रं भिन्नः पौद्गलिका दृष्टांश्चायम्॥
—प्रमाण नय तत्त्वालोक, ७।५५।५६

५. (अ) चेतन लक्षण आतमा, आतम सत्ता मांहि।
सत्ता परिमित वस्तु है, भेद तिहूं मैं नांहि॥
—समयसार-नाटक, मोक्षद्वार, ११।

(ब) चेतना लक्षणो जीवः चेतना च ज्ञानदर्शनोपयोगी।
अनन्तपर्याय परिणामिक कर्तृत्व भोक्तृत्वादि लक्षणो जीवास्तिकायः॥
—देवचन्द्र जी म० कृत नयचक्रसार

१. यत्रात्मा तत्रोपयोगः, यत्रोपयोगस्तत्रात्मा।
—निशीथचूर्णि, ३३३२।

२. शान्तिजिनस्तवन, आनन्दघन ग्रन्थावली।

सम्बन्ध से जुड़े हुए हैं। वस्तुतः आत्मा ज्ञान-दर्शनमय है। यही बात संथारापोरिसी सूत्र[1] एवं नियमसार[2] में इस प्रकार कही गई है कि ज्ञान-दर्शन से युक्त एक मेरा आत्मा ही शाश्वत है। अन्य सभी बाह्य-भाव तो संयोगवश है।

आत्मा के चैतन्य-स्वरूप को और अधिक स्पष्ट करते हुए आनन्दघन वासुपूज्य जिनस्तवन में कहते हैं :

'चेतनता परिणाम न चूके, चेतन कहे जिन चंदो रे।'[3]

जिनेश्वर देव का कथन है कि चेतन (आत्मा) किसी भी अवस्था में अपने चैतन्य-स्वभाव को नहीं छोड़ता। जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश में कहा गया है कि 'जीव स्वभावश्चेतना। यत संन्निधानादात्मा ज्ञाता द्रष्टा कर्ता भोक्ता च भवति तल्लक्षणो जीव'[4]—अर्थात् जिस शक्ति के सान्निध्य से आत्मा ज्ञाता, द्रष्टा अथवा कर्त्ता-भोक्ता होता है, वह चेतना है और वही जीव का स्वभाव होने से उसका लक्षण है। इस प्रकार, आत्मा के लक्षण का विचार करने से सहज ही ज्ञात हो जाता है कि आत्मा का मुख्य लक्षण चेतना है। आत्मा के उक्त लक्षण में जो यह कहा गया है कि आत्मा अपने चैतन्य स्वभाव का परित्याग नहीं करता, वह द्रव्यार्थिक नय को लक्ष्य करके कहा गया है। मुनि ज्ञानसार ने यही बात इस रूप में कही है :

धर्मी अपने धर्म को, तने न तीनों काल।
आत्मा न तजै ज्ञान गुण, जड़ किरिया को चाल॥[5]

यहां यह प्रश्न उठ सकता है कि चेतना से आनन्दघन का क्या अभिप्राय है? और वह कितने प्रकार की है? चेतना के विविध पहलुओं का

---

१. एगो मे सासओ अप्पा, नाणदंसण संजुओ।
सेसा मे बाहिरा भावा, सव्वे संजोग लक्खणा।
—संथारापोरिसीसूत्र।

२. एगो मे सासदो अप्पा, णाणदंसण लक्खणो।
सेसा में बहिरा भावा, सव्वे संजोग लक्खणा॥
—नियमसार, १०२ एवं भाव-प्राभृत, ५९।

३. आनन्दघन ग्रन्थावली, वासुपूज्य जिन स्तवन।

४. जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, भाग २, पृ० २९६-९७।

५. मुनि ज्ञानसार, उद्धृत-आनन्दघन ग्रन्थावली, पृ० २९६।

सुन्दर चित्रण उन्होंने वासुपूज्य जिन स्तवन में किया है। वस्तुतः आनन्दघन का 'चेतना' से तात्पर्य न तो चार्वाक-दर्शन की तरह पृथ्वी आदि चार भूतों से उत्पन्न गुण है और न न्याय-वैशेषिक के समान आत्मा का गुण-विशेष है, प्रत्युत उनके अनुसार चेतना जानने-देखने रूप अर्थात् ज्ञान एवं अनुभूति रूप स्वभाव है। मुख्यतः चेतना दो प्रकार की है—ज्ञान चेतना और दर्शन-चेतना। आत्मा ज्ञान-दर्शनोपयोगमयी है। इसे ही आनन्दघन ने 'चेतना' कहा है। उपयोग ज्ञान-दर्शन रूप चेतना का परिणमन है। इसीलिए उपयोग को आत्मा का लक्षण माना गया है। आत्मा का जो भाव वस्तु को (ज्ञेय को) ग्रहण करने के लिए प्रवृत्त होता है, उसको उपयोग कहते हैं।[1] यहां 'उपयोग' शब्द का अर्थ है—वस्तु के बोध के प्रति आत्मा की प्रवृत्ति अथवा विषय की ओर अभिमुखता। इसके दो भेद हैं—एक साकार उपयोग (सविकल्प) और दूसरा निराकार उपयोग (निर्विकल्प)[2]। साकार उपयोग वस्तु के विशेष स्वरूप को ग्रहण करता है और निराकार उपयोग वस्तु के सामान्य स्वरूप को। आनन्दघन ने निराकार उपयोग को दर्शन-चेतना और साकार उपयोग को ज्ञान-चेतना कहा है। 'दर्शन' सामान्य की चेतना है और 'ज्ञान' विशेष की चेतना है। इस चैतन्य-व्यापार से ही आत्मा की सत्ता का बोध होता है। आनन्दघन इस सम्बन्ध में कहते हैं कि—

निराकार अभेद संग्राहक, भेद ग्राहक साकारो रे।
दर्शन ज्ञान दु भेद चेतना, वस्तु ग्रहण व्यापारो रे॥[3]

उनके अनुसार चेतना वस्तु (ज्ञेय) को जानने-देखने के रूप में व्यापार है, जिसके ज्ञान और दर्शन दो भेद हैं। दर्शन-चेतना निराकार है और

---

१. उपयुज्यते वस्तु परिच्छेदं व्यापार्यते जीवोऽने नेत्युपयोगः।

२. स द्विविधोऽष्ट चतुर्भेदः।
—तत्त्वार्थसूत्र, २।९

३. आनन्दघन ग्रन्थावली, वासुपूज्य जिन स्तवन।
तुलनीय—निराकार चेतना कहावै दरसन गुन,
साकार चेतना सुद्ध ग्यान गुनसार है।
चेतना अद्वैत दोऊ चेतन दख मांहि,
सामान विशेष सत्ता ही कौ बिसतार है॥
—समयसार-नाटक, मोक्षद्वार, १०।

ज्ञान-चेतना साकार। दर्शन (निराकार चेतना) अभेद अर्थात् वस्तु के सामान्य-स्वरूप को ग्रहण करता है, जबकि ज्ञान (साकार चेतना) भेद अर्थात् वस्तु के विशेष स्वरूप को ग्रहण करता है।

यही चेतना परिणमन की अपेक्षा से तीन प्रकार की है। यद्यपि चेतना अपने आप में एक और अखण्ड तत्त्व है, तथापि विभिन्न अवस्थाओं अथवा अपेक्षाओं से उसके ये तीन रूप बन जाते हैं। आनन्दघन त्रिविध चेतना का वर्गीकरण करते हुए कहते हैं :

> परिणामी चेतन परिणामो, ज्ञान-करम-फल भावि रे।
> ज्ञान-करम-फल चेतन कहिए, ले जो तेह मनावीरे ॥[1]

आत्मा परिणामी स्वभाव वाला है। आनन्दघन ने जैन-दर्शन के अनुसार आत्मा को 'नित्य-परिणामी' माना है। अर्थात् आत्मा नित्य होते हुए भी परिवर्तनशील है। ज्ञान, कर्म (संकल्प) और कर्मफल (सुख-दुःख रूप अनुभूति) ये तीन आत्मा के परिणाम कहे गये हैं। इस प्रकार चेतना तीन प्रकार की है—ज्ञान चेतना, कर्म चेतना और कर्म-फल चेतना। उक्त त्रिविध चेतना का प्रतिपादन प्रवचनसार[2] एवं अध्यात्मसार[3] में भी है। वस्तुतः उपर्युक्त पंक्तियां प्रवचनसार की १२५ वीं गाथा की अक्षरशः अनुवाद रूप प्रतीत होती हैं।

---

१. आनन्दघन ग्रन्थावली।

२. परिणमदि चेयणाए आदा पुण चेतणातिधाऽभिमदा।
सा पुण णाणे कम्मे फलम्मिवा कम्मणो भणिदा ॥
णाणं अट्ठवियप्पो कम्मं जीवेण जं समारद्धं।
तमणेगविधं भणिदं फलं ति सोक्खं व दुक्खं वा ॥
अप्पा परिणामप्पा परिणामो णाण-कम्म-फल भावि।
तम्हा णाणं कम्मं फलं च, आदा मुणेदव्वो ॥
—प्रवचनसार, गाथा १२३-२५।

३. ज्ञानाऽख्या चेतना बोधः, कर्माऽख्याद्विष्ट-रक्तता।
जन्तोः कर्मफलाऽऽख्या, सा वेदना व्यपदिश्यते ॥
—उपाध्याय यशोविजय विरचित-अध्यात्मसार, १८, ४५
आत्मनिश्चयाधिकार।

ज्ञान चेतना शुद्धज्ञान स्वभाव रूप परिणमन करती है, कर्म चेतना रागादि कार्यरूप में परिणमन करती है और कर्मफल चेतना सुख-दु:खादि भोगने रूप परिणमन करती है। इनमें ज्ञान-चेतना शुद्ध और भूतार्थ है, क्योंकि वह अपने ज्ञानादि गुणों में परिणमन करती है। ज्ञान के अतिरिक्त अन्य भाव में रमण करना—'इसे मैं करता हूँ' —कर्म चेतना है और ज्ञान के सिवाय अन्य में यह चिन्तन करना— 'मैं भोगता हूँ' —यह कर्मफल चेतना है। ये दोनों चेतनाएँ 'पर' के निमित्त होती हैं। इनमें आत्मा रागादि परिणामवाली हो जाती है। अत: ये दोनों देहाश्रित बद्धात्मा से सम्बद्ध हैं। इसी कारण इन्हें अभूतार्थ, अशुद्ध और अज्ञान चेतनाएँ कहा गया है।

आधुनिक मनोविज्ञान में भी चेतना के तीन रूप माने गये हैं—

१. Knowing (जानना),
२. Feeling (अनुभव करना) और
३. Willing (इच्छा करना)।

दूसरे शब्दों में, ज्ञान, अनुभव तथा संकल्प ये तीनों चेतना के तीन पहलू हैं।

आनन्दघन द्वारा कथित उक्त त्रिविध चेतना की तुलना आधुनिक मनोविज्ञान के इन तीन रूपों से की जा सकती है। ज्ञान-चेतना, कर्म चेतना और कर्मफल चेतना को क्रमश: मनोविज्ञान की भाषा में ज्ञान, संकल्प और अनुभव कहा जा सकता है। ज्ञान चेतना ज्ञाता भाव है, कर्म चेतना कर्ता भाव और कर्मफल चेतना भोक्ता भाव है। इनमें से ज्ञान चेतना और कर्मफल चेतना बन्धनकारक नहीं है। बन्धनकारक है केवल कर्म चेतना अर्थात् बन्धन कर्म चेतना को ही होता है, जैसा कि समयसार नाटक में बनारसीदास ने भी कहा है।[1] ज्ञान चेतना मुक्ति बीज है और कर्म-चेतना संसार का बीज।

---

१. ज्ञान जीव की सजगता, कर्म जीव कूं भूल।
ज्ञान मोक्ष को अंकुर है, कर्म जगत् को मूल॥
ज्ञान चेतना के जगे, प्रगटे आतम राम।
कर्म चेतना में बसे, कर्म-बन्ध परिणाम॥
—समयसार-नाटक, अ० १०, ८५-८६।

पाश्चात्य विचारकों ने ज्ञान के तीन स्तर माने हैं—

१. इम्पेरिकल नालेज (ऐन्द्रिक अनुभवात्मक-ज्ञान),
२. रेशनल नालेज (बौद्धिक ज्ञान) और
३. इन्ट्युशनल नालेज (अन्तर आत्म-ज्ञान)।

आचारांग[१], भगवती[२], दशवैकालिक[३], समयसार[४] आदि में आत्मा के ज्ञान लक्षण पर बल दिया गया है, जबकि आनन्दघन ने आत्मा को निश्चय नय से ज्ञान लक्षण युक्त और व्यवहार नय से उसे कर्मों का कर्ता एवं सुख-दुःखादि कर्मफलों का भोक्ता भी माना है।

कर्तृत्व

आत्मा के कर्तृत्व पक्ष पर प्रकाश डालते हुए आनन्दघन ने कहा है :

कर्ता परिणामी परिणामो, करम जे जीवै करिये रे।
एक अनेक रूप नयवादे, नियते नर अनुसरिये रे॥[५]

"आत्मा कर्ता है' इस बात को सिद्ध करते हुए वे कहते हैं कि परिणामी (परिवर्तनशील) आत्माकर्ता है, इसलिए कर्म रूप उसका परिणाम भी होना चाहिए, क्योंकि आत्मारूप कर्ता कर्म रूप क्रिया करता है। इसी कारण उन्होंने इस बात पर बल दिया है कि 'करम जे जोवै करिये रे' —आत्मा (जीव) द्वारा किया गया कर्म ही कर्मरूप परिणाम है। परिणामों में कर्म, कर्मफल आदि समाहित हैं। आत्मा जो क्रिया करता है वही कर्म है अथवा 'क्रियते अनेन इति कर्म' जिसके द्वारा किया जाय वह कर्म है। आनन्दघन ने इसी दृष्टि से कहा है कि नयवाद की अपेक्षा से इस कर्तृत्व के एक नहीं, अनेक रूप हैं। यथा-निश्चय नय से आत्मा अपने ज्ञान-स्वभाव का कर्ता है। अशुद्ध निश्चय नय से वह रागादि भावों का कर्ता है। व्यवहार नय से ज्ञानावरणादि पौद्गलिक कर्मों का एवं शारीरिक क्रियाओं का कर्ता है और उपचार से घर, नगर आदि का भी कर्ता है।

---

१. आचारांग, १।५।५
२. राणे पुण नियमं आया। —भगवती, १२।१०
३. वियाणिया अप्पगमप्पएणं। —दशवैकालिक सूत्र, ९।३।११
४. ववहारेणु व दिस्सइ, णाणिस्स चरित्त दंसणं णाणं।
णवि णाणं ण चरित्तं दसंणं जाणगो सुद्धो॥
—समयसार, गाथा ७।
५. आनन्दघन ग्रन्थावली, वासुपूज्य जिन स्तवन।

भोक्तृत्व

आत्मा के भोक्तृत्व स्वरूप को स्पष्ट करते हुए आनन्दघन कहते हैं :

सुख-दुःख रूप करम फल जानो, निश्चय एक आनन्दो रे।
चेतनता परिणाम न चूके, चेतन कहे जिनचन्दो रे॥[1]

उपर्युक्त पंक्तियों में आत्मा के भोक्ता पक्ष को उजागर करते हुए वे कहते हैं कि जहां आत्मा कर्मों का कर्ता है, वहां वह कर्मफलों का भोक्ता भी है। कर्मफल के दो रूप हैं—सुख रूप और दुःख रूप। आत्मा के अनुकूल संवेदनाएँ (अनुभव) होना सुख-रूप कर्मफल है और आत्मा के प्रतिकूल संवेदनाएँ होना दुःख रूप कर्मफल। वास्तव में निश्चय नय की दृष्टि से तो शुभाशुभ कर्मों का सुख-दुःख-रूप प्रतिफल का संवेदन आत्मा के स्व-स्वभाव से भिन्न है, क्योंकि सुख और दुःख पुद्गल पर्याय की अवस्थाएँ हैं। आत्मा तो केवल उनका साक्षी है, वह तो मात्र दर्शक है। यद्यपि निश्चय नय की अपेक्षा से आत्मा कर्म का कर्ता एवं भोक्ता नहीं है, तथापि व्यवहार नय की अपेक्षा से वह शुभाशुभ कर्मों का कर्ता और उनके सुख-दुःख-रूप फल का भोक्ता भी है। लेकिन कर्तृत्व और भोक्तृत्व दोनों ही देहधारी बद्धात्मा में घटित होते हैं, न कि मुक्तात्मा में। उत्तराध्ययनसूत्र में कहा गया है कि आत्मा ही सुख और दुःख का कर्ता एवं भोक्ता है।[2]

आचार्य कुन्दकुन्द ने भी व्यवहार नय की अपेक्षा से आत्मा को पुद्गल, कर्मों का कर्ता[3] और अशुद्ध निश्चय नय की अपेक्षा से चैतसिक भावों का

---

१. आनन्दघन ग्रन्थावली, वासुपूज्य जिन स्तवन।

२. अप्पा कत्ता विकत्ता य, दुहाणं य सुहाणं य।
अप्पा मित्तममित्तं च, दुप्पट्ठिय-सुपट्ठिओ॥
—उत्तराध्ययन, २०।३७।

३. ववहारस्स दु आदो पुग्गल कम्मं करे दि णेय विहं।
तं चवे पुणो वेयइ पुग्गल कम्मं अणेय विहं॥
—समयसार, कर्तृकर्माधिकार, गाथा ८४।

कर्ता कहा है।[१] नियमसार[२] एवं पंचास्तिकाय[३] में भी उन्होंने आत्मा के कर्तृत्व और भोक्तृत्व पक्ष पर प्रकाश डाला है। किन्तु इसके साथ ही उन्होंने शुद्ध निश्चय नय (द्रव्यार्थिक दृष्टि) की अपेक्षा से आत्मा को अकर्ता कहा है।[४] इसके अतिरिक्त बृहद्द्रव्यसंग्रह,[५] प्रमाणनय तत्त्वालोक[६] आदि ग्रन्थों में आत्मा के कर्तृत्व एवं भोक्तृत्व पर विचार किया गया है।

निषेधात्मक रूप से आत्मा के स्वरूप पर विचार

जैन-धर्म में आत्मा के स्वरूप का निषेधात्मक वर्णन सर्वप्रथम आचारांग में दृष्टिगोचर होता है। उसमें स्पष्ट रूप से कहा गया है कि (आत्मा) न दीर्घ है, न ह्रस्व है, न वृत्त है, न त्रिकोण है, न चतुष्कोण है और न परिमण्डल है। वह न कृष्ण है, न नीला है, न लाल है, न पीला है और न शुक्ल आदि।[७] आचारांग के अतिरिक्त समयसार[८], [illegible][९] आदि में भी आत्मा के निषेधात्मक स्वरूप पर प्रकाश डाला गया है।

---

१. णवि कुव्वइ कम्मगुणे जीवो कम्मं तहेव जीवगुणे।
अण्णोण्णणिमित्तेण दु परिणामं जाण दोह्णंपि॥
एएण कारणेन दुकत्ता आदा सएण भावेण।
पुग्गल कम्म कयाणं ण दुकत्ता सव्व भावाणं॥
—समयसार, कृतकर्माधिकार, गाथा ८१-८२।

२. कत्ता भोत्ता आदा पोग्गल कम्मस्स होदि ववहारो।
कम्मज भावेणादा कत्ता भोत्ता दुणिच्छयदो॥
—नियमसार, गाथा १८।

३. पंचास्तिकाय, द्रव्याधिकार, गाथा ५७।

४. णिच्छयणस्स एवं आदा अप्पाणमेव हि करेदि।
वेदयदि पुणोतं चैव जाण अत्ता दु अत्ताणं॥
—समयसार, गाथा ८३।

५. बृहद् द्रव्य संग्रह, २।८।९

६. प्रमाणनय तत्त्वालोक, ७।५६

७. आचारांग, १।५।६ एवं स्थानांग, ५।३।५३०

८. समयसार, गाथा ४९-५५ एवं नियमसार, १७८-१७९।

९. परमात्म-प्रकाश, गाथा ८६-९३।

ऐसा ही वर्णन केनोपनिषद्[1], कठोपनिषद्[2], बृहदारण्यक[3], माण्डूक्योपनिषद्[4], तैत्तिरीय उपनिषद्[5] और ब्रह्मविद्योपनिषद् में[6] भी है।

आचारांग में आत्मा को अछेद्य, अभेद्य, अदाह्य भी कहा गया है।[7] यही बात सुबालोपनिषद्[8] और गीता[9] में भी कही गई है। आचारांग के समान आनन्दघन ने भी आत्मा के निषेधात्मक स्वरूप का चित्रण किया है। वे कहते हैं कि जो साधक आत्मा के वास्तविक स्वरूप को जानेगा वही उस परमतत्त्व का आस्वादन कर सकेगा। वस्तुतः आत्मा न पुरुष है और न स्त्री। आत्मा का न कोई वर्ण है न जाति। आत्मा न ब्राह्मण है न क्षत्रिय, न वैश्य है और न शुद्र। न वह एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय आदि है, क्योंकि ये भेद शरीर आश्रित हैं। न आत्मा साधु है न साधक, न लघु है न भारी, न गर्म है न ठण्डा। न वह दीर्घ है न छोटा। वह न किसी का भाई है, न भगिनी, न पिता है और न पुत्र।

यह आत्मा न मन है न शब्द है। यह न तो वेश है न भेष है। न यह कर्ता है और न कर्म है। इसे न देखा जा सकता है, न स्पर्श किया जा सकता है और न इसका स्वाद लिया जा सकता है अर्थात् आत्मा रूप, रस, गन्ध-वर्ण-विहीन है; अतएव उसके दर्शन एवं स्पर्शन का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। अन्त में, आनन्दघन कहते हैं कि आत्मा (मेरा) का

---

१. केनोपनिषद्, खण्ड १, श्लोक ३।

२. कठोपनिषद्, अ० १, श्लोक १५।

३. बृहदारण्यक ८, श्लोक ८।

४. माण्डूक्योपनिषद्, श्लोक ७।

५. तैत्तिरीयोपनिषद्, ब्रह्मानन्दवल्ली २, अनुवाक् ४।

६. ब्रह्मविद्योपनिषद्, श्लो० ८१-९१।

७. स न छिज्जइ न भिज्जइ न इज्झइ न हम्मइ, कं च णं सव्वलोए।
—आचारांग, १।३।३

८. न जायते न म्रियते न मुह्यति न भिद्यते न दह्यते।
न छिद्यते न कम्पते न कुप्यते सर्वदहनोऽयमात्मा॥
—सुबालोपनिषद्, ९ खण्ड ईशाद्यष्टोत्तर शतोपनिषद्,

९. अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः॥
—भगवद्गीता, अ० २, श्लो० २३।

स्वरूप चेतनमय है, आनन्दमय है। सच्चा साधक इस आत्म-स्वरूप पर अपना सर्वस्व न्योछावर कर देता है।[1] आनन्दघन के उक्त विचारों की तुलना कबीर के विचारों से भी की जा सकती है, क्योंकि कबीर ने भी कहा है कि आत्म-तत्त्व अनुपम है। इसकी कोई पहचान नहीं होती। इसका मर्म कोई नहीं जान सकता।[2]

आत्मा का अनिर्वचनीय स्वरूप

जहां एक ओर आनन्दघन ने विधि एवं निषेध रूप से आत्मा के स्वरूप को प्रतिपादित किया है, वहीं उन्होंने आत्मा के अनिर्वचनीय रूप को भी प्रस्तुत किया है। आत्मा के अनिर्वचनीय स्वरूप को प्रस्तुत करते हुए वे कहते हैं कि आत्मा की पहचान कैसे बताऊं, इसका स्वरूप तो वचनातीत है। वाणी द्वारा इसका कथन किया नहीं जा सकता। यदि आत्मा को रूपी कहता हूँ तो वह आँखों द्वारा दिखलाई नहीं पड़ता और यदि उसे अरूपी कहता हूँ तो अरूपी तत्त्व को रूप (शरीर) की सीमा में कैसे बांधा

---

१. अवधू नाम हमारा राखै, सोइ परम महारस चाखै।
ना हम पुरुष ना हम नारी, बरन न भांति हमारी।
जाति न पांति न साधु न साधक, ना हम लघु नहि भारी॥
ना हम ताते ना हम सीरे, ना हम दीरघ ना छोटा।
ना हम भाई न हम भगनी, ना हम बाप न घोटा।
ना हम मनसा ना हम सबदा, ना हम तन की धरणी।
न हम भेष भेषधर नाहीं, ना हम करता करणी॥
न हम दरसन ना हम फरसन, रस न गंध कछु नाहीं।
आनन्दघन चेतन मय मूरति, सेवक जब बलि जाहीं॥
—आनन्दघन ग्रन्थावली, पद ११।

२. राम कै नाई बीसांन बाबा, ताका मरम न जानै कोई।
भूख त्रिषा गुण वाके नाहीं, घट घट अंतरि सोई॥ टेक।
वेद बिबर्जित भेद बिबर्जित पाप रु पुण्यं।
ग्यान बिबर्जित ध्यान बिबर्जित, बिबर्जित अस्थूल सून्यं॥
भेष बिबर्जित भीख बिबर्जित, बिबर्जितऽयंमेक रूपं।
कहै कबीर तिहूं लोक बिबर्जित, ऐसा तत्त अनूपं॥
—कबीर ग्रन्थावली, पृ० १६२, २२०।

जा सकता है? अर्थात् अरूपी आत्मा कर्म से कैसे बंध सकता है? यदि आत्मा को रूपी और अरूपी उभय रूप कहता हूँ तो अनुपम ऐसे सिद्ध परमात्मा के लक्षण से मेल नहीं बैठता, क्योंकि सिद्ध परमात्मा का कोई रूप नहीं है। इसी प्रकार, यदि आत्मा को सिद्ध-स्वरूप कहता हूँ तो बंध और मोक्ष की कल्पना घटित नहीं होती, क्योंकि जो सदा शुद्ध है वह बंधन में कैसे पड़ सकता है अर्थात् आत्मा को अनादिकाल से शुद्ध मानने पर बन्धन और मोक्ष की कल्पना सिद्ध नहीं होती। मात्र यही नहीं, आत्मा को सिद्ध-स्वरूपी कहने से सांसारिक दशा घटित नहीं होगी और सांसारिक दशा के अभाव में पुण्य-पाप, पुनर्जन्म आदि की कल्पना भी निरस्त हो जाएगी। यदि आत्मा को सनातन तत्त्व कहता हूँ तो प्रश्न उठता है कि उत्पन्न होने वाला और मरने वाला कौन है? और यदि उत्पन्न होने वाला तथा मरने वाला मानता हूँ तो प्रश्न उठता है कि नित्य और शाश्वत कौन है? अतः आत्मा का स्वरूप तो पक्षातिक्रान्त है। उसके सम्पूर्ण स्वरूप को किसी एक नय द्वारा सिद्ध नहीं किया जा सकता। लेकिन नयवादी विचारक एक ही दृष्टिकोण से आत्मा के स्वरूप को अपना कर विवाद करते रहते हैं और विवाद में उलझने से आत्मा के वास्तविक स्वरूप से अनभिज्ञ रह जाते हैं। आत्मा का स्वरूप तो अनुभव ज्ञान से ही समझा जा सकता है। अन्त में आनन्दघन इसी निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि आत्मा अनुभव का विषय है तथा वह कथन और श्रवण की सीमा के परे की वस्तु है। उन्हें भी अन्ततः उपनिषद्कारों की भांति यही कहना पड़ा कि 'कहन सुनन को कछु नहीं प्यारे आनन्दघन महाराज' —आत्मा का स्वरूप वास्तव में कहने सुनने जैसा नहीं है, क्योंकि यह तो आनन्दपुंज से युक्त है।[1] इसका ज्ञान इन्द्रियों द्वारा नहीं हो सकता।

---

१. निसाणी कहा बताऊं रे, वचन अगोचर रूप।
रूपी कहुँ तो कछु नहीं रे, बंधइ कइ सइ अरूप।
रूपारूपी जो कहुँ प्यारे, ऐसे न सिद्ध अनूप॥
सिद्ध सरूपी जो कहूं रे, बंध न मोख विचार।
न घटै संसारी दसा प्यारे, पाप पुण्य अवतार॥
सिद्ध सनातन जो कहूं रे, उपजइ विणसइ कौन।
उपजइ विणसइ जो कहूं प्यारे, नित्य अबाधित गौन॥

यह आत्मा तो आत्मा द्वारा ही जाना जा सकता है। योगशास्त्र में भी कहा गया है—'आत्मानमात्मना वेत्ति'।[1]

आनन्दघन के इस आत्म-अनिर्वचनीय स्वरूप की तुलना कबीर से की जा सकती है। कबीर ने भी उसे 'गूंगे का गुड़' कहा है, क्योंकि उसका वर्णन कैसे किया जाय? जो परिलक्षित होता है, वह ब्रह्म है नहीं और वह जैसा है उसका वर्णन सम्भव नहीं है। इसका कारण यह है कि वह न दृष्टि में आ सकता है और न मुष्टि में।[2]

नित्यवाद और अनित्यवाद

भारतीय-दार्शनिक-जगत् में यह प्रश्न सदैव विवादास्पद रहा है कि आत्मा नित्य है या अनित्य अथवा नित्यानित्य? इस सम्बन्ध में हमें मुख्य रूप से ये मत दृष्टिगत होते हैं—

(१) आत्मा नित्य है—उपनिषद्, वेदान्त तथा सांख्य-योग,
(२) आत्मा अनित्य है—चार्वाक और बौद्ध-दर्शन,
(३) आत्मा नित्यानित्य है—जैनदर्शन,

इस प्रसंग में 'नित्य' और 'अनित्य' शब्द के अभिप्राय को जान लेना आवश्यक है। भारतीय-दार्शनिकों ने इसे अनेक अर्थों में प्रयुक्त किया है। नित्य शब्द के दो प्रमुख अर्थ रहे हैं—(१) शाश्वत और (२) अपरिवर्तनीय।

सरवंगी सब नइ धणी रे, मानै सब परवान।
नयवादी पल्लो गहै प्यारे, करइ लराइ ठान॥
अनुभव गोचर वस्तु को रे, जाणि वो इह इलाज।
कहण सुणण को कुं कछु नहीं प्यारे, आनन्दघन महाराज॥
—आनन्दघन ग्रन्थावली, पद ६१।

२. योगशास्त्र, चतुर्थ प्रकाश, २।

३. बाबा अगम अगोचर कैसा, ताते कहि समुझावौं ऐसा।
जो दीसै सो तो है वो नाहीं, है सो कहा न जाई।
सैना बैना कहि समुझावों, गूंगे का गुड़ भाई।
दृष्टि न दीसै मुष्टि न आवै, विनसै नाहि नियारा।
ऐसा ग्यान कथा गुरु मेरे, पण्डित करो बिचारा॥
—कबीर ग्रन्थावली, पद पृ० १२६।

जहां वेदान्त एवं सांख्य-दर्शन आत्मा को इन दोनों अर्थों में नित्य मानते हैं, वहाँ न्याय-वैशेषिक और मीमांसक उसे केवल प्रथम अर्थ में ही नित्य मानते हैं। इसी प्रकार, अनित्य के भी दो अर्थ हैं—(१) विनाशशील और (२) परिवर्तनशील। जहां चार्वाक प्रथम अर्थ में आत्मा को अनित्य मानता है वहाँ बौद्धदर्शन दूसरे अर्थ में आत्मा को अनित्य मानता है।

नित्य आत्मवाद

चार्वाक और बौद्ध-दर्शन को छोड़कर प्रायः सभी भारतीय विचारक आत्मा की नित्यता का प्रतिपादन करते हैं। विशेषतः वेदान्त और सांख्य-दर्शन आत्मा को कूटस्थ नित्य मानते हैं। नित्य आत्मवाद के सम्बन्ध में आनन्दघन का कथन है कि इस मत के अनुसार आत्मा कूटस्थ नित्य है।[1] आत्मा को कूटस्थ नित्य मानने का तात्पर्य यह है कि उसमें कहीं कोई विकार, परिवर्तन या स्थित्यन्तर नहीं होता।

यद्यपि नित्य आत्मवाद द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा से उपयुक्त अवश्य है और इस दृष्टि से इसका मूल्य भी है, किन्तु आत्मा की ऐकान्तिक नित्यता का यह सिद्धान्त तर्क की कसौटी पर दोषपूर्ण सिद्ध होता है। आनन्दघन ने एकान्त नित्य आत्मवाद की समीक्षा करते हुए निम्नलिखित आक्षेप प्रस्तुत किया है।[2]

(१) यदि आत्मा को कूटस्थ नित्य माना जाय तो उसमें कृतविनाश दोष उपस्थित होता है, क्योंकि कूटस्थ-नित्य आत्मा तो अकर्ता है, अबद्ध है। किन्तु व्यवहार में व्यक्ति शुभाशुभ क्रियाएँ करता हुआ दृष्टिगोचर होता है। प्रायः सभी धर्मों में बन्धन से मुक्त होने के लिए व्रत, तप, जप आदि साधनाएँ बतायी गयी हैं। लेकिन कूटस्थ-आत्मवाद की दृष्टि से आत्मा के अकर्ता होने के कारण मुक्ति-प्राप्ति के लिए की गई समस्त साधना विफल होगी, क्योंकि कूटस्थ आत्मवाद के अनुसार आत्मा परिवर्तनों से परे है, जबकि कर्तापन और भोक्तापन आत्मा की विभाव-दशाएँ हैं।

---

१. एक कहै नित्यज आतमतत, आतम दरसण लीनो।
—आनन्दघन ग्रन्थावली, मुनि सुव्रत जिन स्तवन।

२. कृत विनास अकृतागम दूषण, नवि देखै मति हीनो।
—वही।

वास्तव में, इस सिद्धान्त के अनुसार यही सिद्ध होता है कि व्यवहार में मनुष्य जो साधनाएँ या शुभाशुभ कर्म करता हुआ दिखाई देता है, वह निरर्थक है। जीवन भर की गई साधनाओं—क्रियाओं का कोई अर्थ नहीं रह जाता। मात्र इतना ही नहीं, अपितु अनन्त जन्म तक कर्म करने पर भी सब कृत कर्म निष्फल होंगे। किन्तु इससे बन्धन और मोक्ष की प्रक्रिया असम्भव होगी। सामान्यतया हम देखते हैं कि जीव बन्धनयुक्त है और बन्धन से मुक्त होने के लिए वह शुभ कर्म करता है, किन्तु नित्यात्मवाद के मानने पर बन्धन से मुक्त होने के लिए साधक के कृत कर्मों का क्या प्रयोजन रह जाएगा? यह निर्विवाद सत्य है कि बन्धन से मुक्त हुए बिना आत्म-दर्शन या आत्म-स्वरूप की उपलब्धि नहीं हो सकती। इसके लिए साधना की आवश्यकता रहती है। साधना के अभाव में जीव कभी मुक्त नहीं हो सकता और जब व्यक्ति मुक्त नहीं होगा तो नित्यात्मवाद में 'मोक्ष' प्रत्यय की क्या उपयोगिता रहेगी?

कहने का तात्पर्य यह है कि एकान्त रूप से आत्मा को अपरिवर्तनशील मानने पर 'कृतविनाश' (किए हुए कर्मों का नाश) नामक दूषण होता है। आत्मा के नित्य एवं अकर्ता होने से व्यक्ति के द्वारा कृत शुभाशुभ कर्मों का कोई अर्थ नहीं रह जाता।

(२) यदि आत्मा को कूटस्थ नित्य माना जाए तो व्यक्ति को सुख-दुःख रूप कर्मफल का अनुभव नहीं होना चाहिए। लेकिन हम यह भी देखते हैं कि मानव को शुभाशुभ कर्म के कारण मधुर या कटु अनुभव होते हैं जबकि नित्यात्मवादियों के अनुसार स्व-स्वरूप में लीन कूटस्थ नित्य आत्मा तो कुछ भी कर्म करता नहीं है। फिर भी, वह नहीं किए हुए कर्मों का फल भोगते हुए देखा जाता है इससे ऐसा प्रतीत होता है कि नित्य आत्मवाद में नहीं किए हुए कर्मों का फल भी मनुष्य को मिलता है। अतः इस सिद्धान्त के मानने पर दूसरा 'अकृतागम' नामक दोष अर्थात् जो शुभाशुभ कर्म अभी तक आत्मा द्वारा किया नहीं गया है, उसकी फल-प्राप्ति होती है।

अनित्य आत्मवाद

नित्य आत्मवाद का विरोधी सिद्धान्त अनित्य आत्मवाद है। अनित्य आत्मवाद के समर्थक-चार्वाक और बौद्ध-दर्शन हैं। दार्शनिक-जगत् में

बौद्ध-दर्शन का अनात्मवाद-क्षणिकवाद का सिद्धान्त ही बहुचर्चित रहा है। इसके सम्बन्ध में आनन्दघन का कथन है कि बौद्ध-दर्शन के अनुसार आत्मा क्षणिक है।[1] वह प्रतिक्षण उत्पन्न और विनष्ट होता रहता है।

वस्तुतः बौद्धमत में विज्ञान-स्कन्धन या अविच्छिन्न परिवर्तनशील चेतना के प्रवाह को ही आत्मा के रूप में माना गया है। पाश्चात्य-दार्शनिक प्रो० विलियम जेम्स ने भी विज्ञान (चेतना) को चेतन अनुभूतियों का प्रवाह मानते हुए नित्य आत्मा के स्थान पर चित-सन्तति (स्ट्रीम आव् थाट्) को स्वीकार किया है।[2] पाश्चात्य-दार्शनिक ह्यूम भी आत्मा की अनित्यता का समर्थक है। इसी तरह पाश्चात्य दार्शनिक हैरेविलट्स भी क्षणिकवाद के पोषक हैं। क्षणिकवाद या अनित्यवाद के सम्बन्ध में बौद्धदर्शन का प्रमुख सिद्धान्त है—'यत सत् तत् क्षणिकम्'—जो सत् पदार्थ है, वह क्षणिक है। आत्मा भी एक सत्पदार्थ है, अतः वह भी क्षणिक है।

संक्षेप में, कहा जा सकता है कि यह दर्शन एकान्तरूप से आत्मा के परिवर्तनशील पक्ष पर ही अधिक बल देता है। बौद्धदर्शन आत्मा की नश्वरता (उच्छेदवाद) को नहीं, प्रत्युत आत्मा की सतत परिवर्तनशीलता के अर्थ को ही द्योतित करता है। इस दृष्टि से इसे परिवर्तनशील आत्मा का सिद्धान्त भी कह सकते हैं।

सामान्यतया चार्वाक को भी अनित्य आत्मवादी कहा जाता है। किन्तु चार्वाक दर्शन के और बौद्धदर्शन के अनित्य-आत्मवाद में कुछ भिन्नता है। चार्वाक के अनित्य आत्मवाद के अनुसार चैतन्य विशिष्ट देह को ही आत्मा माना गया है। देह के नष्ट होते ही चैतन्य भी सदा के लिए नष्ट हो जाता है। इस प्रकार चार्वाक चेतनायुक्त शरीर को ही आत्मा मानकर उसकी अनित्यता प्रतिपादित करता है। बौद्धों की परम्परागत भाषा में वह उच्छेदवादी है। इस सम्बन्ध में उसकी प्रसिद्ध उक्ति है—

भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः।

---

१. सुगत मत रागी कहै वादी, क्षणिक ए आतम जाणो।
—आनन्दघन ग्रन्थावली, मुनि सुव्रत जिन स्तवन।

२. स्याद्वादमंजरी, पृ० ३१६।

चार्वाक के आत्मवाद के सम्बन्ध में आनन्दघन का कथन है कि चार भूतों के अतिरिक्त आत्मतत्त्व नामक कोई पृथक् सत्ता नहीं है।[1] कहा जा सकता है कि चार्वाक-दर्शन में आत्मा की अनित्यता से अभिप्राय केवल विनाशशीलता है और विनाश में आत्मा का सर्वथा अभाव हो जाता है। इस मत में आत्मा के विनष्ट होने के पश्चात् उनकी पुनरोत्पत्ति को स्वीकार नहीं किया गया है। इसी कारण इसमें पुनर्जन्म, पुण्य-पाप, स्वर्ग नर्क, बन्धन-मोक्ष आदि की अवधारणा नहीं पाई जाती।

भगवान् बुद्ध ने आत्मा के सम्बन्ध में जो सिद्धान्त दिया है वह 'अनुच्छेद-अशाश्वतवाद' है अर्थात् उनके अनुसार न तो आत्मा एकान्त रूप से विनाशशील है और न एकान्त रूप से नित्य है। अन्य शब्दों में बौद्धदर्शन में आत्मा की अनित्यता का अभिप्राय केवल विनाशशीलता से न होकर उत्पत्ति से भी है। बौद्ध-मत में आत्मा को उत्पाद-व्यय धर्मी अर्थात् सतत परिवर्तनशील माना गया है और चार्वाक-मत में आत्मा को केवल व्ययधर्मी (विनाशशील)। इसी तरह, बौद्ध-मत में विज्ञान-स्कन्ध, या चेतनाप्रवाह को आत्मा कहा गया है और चार्वाक-मत में चार भूतों के समूह से चैतन्य-तत्त्व (आत्मा) की उत्पत्ति बतायी गयी है। इस प्रकार दोनों के अनुसार चेतना प्रवाह और चार भूतों के अतिरिक्त आत्मा नामक कोई नित्य एवं स्वतन्त्र तत्त्व नहीं है।

अनित्य आत्मवाद का सिद्धान्त भी पर्यायार्थिन-नय की अपेक्षा से आंशिक रूप से सत्य अवश्य है, किन्तु ऐकान्तिक रूप से इसे मानने पर बन्ध-मोक्ष, सुख-दुःख आदि को सिद्ध करने की नैतिक कठिनाई आती है। आनन्दघन ने मुख्य रूप से अनित्य आत्मवाद के प्रति निम्नांकित दोष प्रस्तुत किए हैं।[2]

(१) यदि आत्मा को अनित्य या क्षणिक माना जाय तो बन्ध-मोक्ष की व्यवस्था घटित नहीं होती। अनित्य-आत्मवाद के अनुसार आत्मा प्रति-

---

१. भूत चतुष्क वरजी आतम तत, सत्ता अलगी न घटै।
अंध सकट जो नजर न देखै, तो स्यूं कीजै सकटै।।
—आनन्दघन ग्रन्थावली, मुनि सुव्रत जिन स्तवन।

२. बंध मोख सुख दुख नवि घटै, एह विचार मन आणो।
—वही।

क्षण बदलता रहता है तो फिर बन्धन और मोक्ष किसका होगा ? बन्धन और मोक्ष के बीच तो किसी स्थायी सत्ता का होना अनिवार्य है। अन्यथा स्थायी सत्ता के अभाव में बन्ध-मोक्ष की कल्पना ही नहीं की जा सकती। जहां एक ओर बौद्ध-दर्शन आत्मा की स्थायी सत्ता को अस्वीकार करता है वहीं दूसरी ओर वह बन्ध-मोक्ष, पुनर्जन्म आदि की अवधारणा को स्वीकार करता है। किन्तु यह तो वदतोव्याघात जैसी परस्पर विरुद्ध बात है।

प्रश्न यह है कि यदि आत्मा क्षण-क्षण में बदलता है तो उसे बन्धन कैसे होगा ? और जब बन्धन नहीं होगा तो मोक्ष किसका होगा ? यह सर्वमान्य सिद्धान्त है कि जो बन्धन में होता है वही मुक्त होता है। लेकिन अनित्य-आत्मवाद की दृष्टि से तो बन्धन में पड़नेवाला आत्मा अन्य होगा और मुक्त होने वाला आत्मा अन्य। यद्यपि बुद्ध ने बन्धन (दुःख) से मुक्त होने के लिए चार आर्य सत्य, अष्टांग मार्ग आदि का उपदेश दिया, किन्तु इस मान्यता के अनुसार जगत् के समस्त पदार्थ क्षणिक हैं, अनित्य है, अतः आत्मा भी क्षणिक है। जब आत्मा क्षणिक है तो चार आर्य सत्य तथा मोक्ष-मार्ग की साधना के रूप में प्रतिपादित अष्टांग मार्ग भी क्षणिक होंगे और जब मोक्ष के साधन और संसार के बन्धन क्षणिक होंगे तो मोक्ष की कल्पना भी स्वतः ही क्षणिक सिद्ध होगी।

इस सिद्धान्त के अनुसार बन्धन से मुक्त होने के लिए अष्टांग मार्ग की साधना प्रथम क्षण में उत्पन्न होने वाला आत्मा करेगा और उसके प्रतिफल के रूप में मुक्ति या निर्वाण मिलेगा अगले क्षण में उत्पन्न होने वाले आत्मा को, क्योंकि प्रथम क्षण में साधना करनेवाला आत्मा तो विनष्ट हो चुका और उसके स्थान पर अन्य आत्मा का प्रादुर्भाव हो गया। कहने का तात्पर्य यह कि पहले क्षण में जो आत्मा था वह दूसरे क्षण नहीं रहता। यदि प्रथम क्षण में उत्पन्न होनेवाला आत्मा ही बन्धन से मुक्त होता है ऐसा मान लें, तब तो आत्मा की अनित्यता का कोई अर्थ नहीं रह जायेगा। वस्तुतः एक ही क्षण में समस्त साधनाएँ करके पूर्णता को प्राप्त नहीं किया जा सकता। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि एक जन्म नहीं, अपितु अनेक जन्म पर्यन्त साधना करने के पश्चात् पूर्णता-मुक्ति प्राप्त होती है। किन्तु आत्मा के क्षणिक होने पर साधना और पूर्णता प्राप्त करने वाला आत्मा पृथक्-पृथक् होगा।

सच यह है कि बौद्ध-मत में आत्मा की नित्यता एक क्षण की मानी गई है और क्षण इतना सूक्ष्म होता है कि जिसका विभाजन नहीं किया जा सकता। सर्वदर्शन-संग्रह में, क्षण से मतलब "ऐसा कालांश जिससे सूक्ष्मतम कालांश है। निमेष तक तो हम अनुभव कर सकते हैं किन्तु क्षण का नहीं।"[1] ऐसी स्थिति में एक क्षण में बन्ध-मोक्ष, पुण्य-पाप, सुख-दुःख, जन्म-मरण आदि की प्रक्रियाएँ आत्मा में घटित नहीं हो सकतीं।

(२) यदि आत्मा को क्षण-क्षण में बदलता हुआ माना जाय तब तो व्यक्ति को सुख-दुःख का अनुभव नहीं होना चाहिए। लेकिन वास्तविकता यह है कि वह सुख-दुःख का अनुभव करता है। स्वयं बुद्ध ने अनेक वर्षों तक साधना की और उसमें होनेवाले सुख-दुःख का अनुभव किया। यदि बुद्ध को सुख-दुःख की अनुभूति हुई ऐसा मान लिया जाय तब तो अनित्य आत्मवाद या क्षणिकवाद की नींव डगमगा जाएगी।

जब आत्मा एक ही क्षण स्थिर रहती है तो शुभाशुभ अध्यवसाय पूर्वक की गई क्रियायों का कोई अर्थ नहीं रह जाएगा। फिर भी, बौद्ध-दर्शन में चार आर्य सत्य, अष्टांगमार्ग आदि मोक्ष-मार्ग के साधन के रूप में प्रतिपादित हैं। किन्तु प्रश्न यह है कि कर्म बाँधनेवाला आत्मा तो क्षण भर में नष्ट हो गया और कर्म से छुटकारा पाने के लिए जो प्रयत्न अगले क्षण में उत्पन्न होनेवाले आत्मा ने किया वह प्रयत्न करनेवाला आत्मा भी नष्ट हो गया, तब कर्मों से मुक्ति किस आत्मा की होगी? पुण्य या पाप कर्म करनेवाला आत्मा जब क्षण भर में नष्ट हो गया तब फिर शुभाशुभ सुख-दुःख रूप कर्मफल कौन भोगेगा? ऐसा कहा जाता है कि बुद्ध ने ४९ दिन तक समाधि-सुख का आनन्द लिया किन्तु आत्मा के क्षणिक मानने पर यह बात असंगत प्रतीत होती है, क्योंकि ४९ दिनों में तो कई आत्माएँ बदल चुकी होंगी। इसी तरह भगवान् बुद्ध ने एक बार पैर में काँटा बिंध जाने पर अपने शिष्यों से कहा—'भिक्षुओं! इस जन्म से एकानवे जन्म पूर्व मेरी शक्ति (शस्त्र विशेष) से एक पुरुष की हत्या हुई थी। उसी कर्म के कारण मेरा पैर काँटे से बिंध गया है।'[2] उत्तराध्ययन

---

१. सर्वदर्शन-संग्रह, पृ० १०८।

२. इत एक नवते कल्पे शक्त्या मे पुरुषोहतः।
तेन कर्म विपाकेन, पादे विद्धोस्मि भिक्षवः॥
—षड्दर्शन समुच्चय, टीका।

सूत्र में कहा गया है कि 'कडाण कम्पाण न मोक्ख अत्थि[1]'—कृत कर्मों का फल भोगे बिना आत्मा का छुटकारा नहीं हो सकता। किन्तु कर्मवाद का यह सिद्धान्त अनित्य-आत्मवाद पर लागू नहीं हो सकता।

अनित्य आत्मवाद का खण्डन न केवल आनन्दघन ने प्रत्युत कुमारिल, शंकराचार्य, जयन्त भट्ट तथा मल्लिषेण आदि ने भी किया है। इनके अतिरिक्त आप्त मीमांसा[2] एवं युक्त्यानुशासन[3] में भी अनित्यवाद पर कई आक्षेप किए गए हैं।

ध्यान देने योग्य बात यह है कि सन्त आनन्दघन ने नित्य-आत्मवाद और अनित्य आत्मवाद के सम्बन्ध में जो आक्षेप या दोष दर्शाएँ हैं, वे स्याद्वाद मंजरी में वर्णित दोषों के विपरीत प्रतीत होते हैं। स्याद्वाद मंजरी में जैनदार्शनिक कल्लिषेण ने नित्य आत्मवाद का खण्डन सुख-दुःख, बन्ध-मोक्ष आदि के आधार पर किया है,[4] लेकिन आनन्दघन ने कृत विनाश और अकृतागम इन दो दोषों के आधार पर खण्डन किया है। इसी तरह, मल्लिषेण ने अनित्य आत्मवाद का खण्डन कृत प्राणाश, अकृत भोग भवभंग, प्रमोक्ष भंग तथा स्मृति भंग दोषों के आधार पर किया है,[5] और आनन्दघन ने बन्ध-मोक्ष और सुख-दुःख भोग आदि की असम्भावना के आधार पर खण्डन किया है। वस्तुतः दोनों का नित्य आत्मवाद और अनित्य आत्मवाद का खण्डन सर्वथा तर्क विपरीत प्रतीत नहीं है, क्योंकि जो दोष एकान्त नित्य आत्मवाद के मानने पर होते हैं वे ही दोष एकान्त अनित्य आत्मवाद पर भी लागू होते हैं।[6] इसी भांति अनित्य आत्मवाद

१. उत्तराध्ययन, ४।३

२. आप्त मीमांसा, ४०-४१।

३. युक्त्यानुशासन, १५।१६

४. नैकान्तवादे सुखदुःख भोगौ न पुण्य पापे न च बन्धमोक्षौ।
दुर्नीतिवादव्यसनासिनैवं परैर्विलुप्तं जगदप्यशेषम्॥
—स्याद्वादमंजरी, श्लोक २७।

५. कृतप्रणाशाकृत कर्मभोग भव प्रमोक्ष स्मृति भंगदोषान्।
उपेक्ष्य साक्षाद् क्षणभंगमिच्छन्नहो महासाहसिकः परस्ते॥
—वही, श्लोक १८।

६. य एव दोषाः किल नित्यवादे विनाशवादेऽपि समास्त एवं।
परस्पर ध्वंसिषु कण्टकेषु जयत्थ धृष्यं जिनशासनं ते॥
—वही, श्लोक २६।

पर जो आक्षेप या दोष घटित होते हैं, वे नित्यात्मवाद पर भी लागू हो सकते हैं।

वास्तविकता यह है कि एकान्त रूप से चाहे नित्य आत्मवाद माना जाए या अनित्य आत्मवाद, दोनों ही सदोष हैं। ऐकान्तिक नित्य आत्मवाद और ऐकान्तिक अनित्य आत्मवाद दोनों धर्म साधना की दृष्टि से अनुपयुक्त हैं।

यद्यपि आत्मवाद के सम्बन्ध में नित्य और अनित्यता के दोनों ही दृष्टिकोण सापेक्षरूप से अवश्य सत्य हैं, किन्तु वे ऐकान्तिक रूप से अर्थात् आत्मा को केवल नित्य या अनित्य मानने पर समीचीन प्रतीत नहीं होते।

उपर्युक्त आधार पर यह निष्कर्ष निकलता है कि एकान्त नित्य और एकान्त अनित्य आत्मवाद के सिद्धान्त आत्मतत्त्व की समुचित व्याख्या प्रस्तुत नहीं करते। अतः जैनदर्शन ने अनैकान्तिक समन्वयवादी विचारों के आधार पर आत्मा को नित्यानित्य या परिणामी-नित्य सिद्ध किया है। आत्मवाद के विषय में जैनदर्शन का दृष्टिकोण मध्यस्थ, समन्वयात्मक एवं अनैकान्तिक है। जहां एक ओर, बौद्धदर्शन आत्मा को केवल परिणामी (प्रतिक्षण परिवर्तनशील) मानता है, वहीं दूसरी ओर गीता, सांख्य, वेदान्त आदि उसे कूटस्थ नित्य घोषित करते हैं। किन्तु इन दोनों भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों में समन्वय स्थापित कर जैन दार्शनिकों ने आत्मा को परिणामी नित्य (नित्यानित्य) प्रतिपादित किया है। इसी विचारसरणी का अनुसरण सन्त आनन्दघन ने भी किया है।

जैनदर्शन के अनुसार आत्मा नित्य भी है और अनित्य भी। भगवती सूत्र में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि आत्मा नित्यानित्य है। भगवान् महावीर और गौतम के मध्य हुए संवाद में ऐकान्तिक नित्य आत्मवाद और अनित्य आत्मवाद सम्बन्धी समस्या का हल खोजा गया है। भगवती सूत्र में आत्मा के सम्बन्ध में ऐकान्तिक मान्यता का समाधान बड़े ही सुन्दर ढंग से किया गया है। भगवान् महावीर ने जीव (आत्मा) को द्रव्य की अपेक्षा से शाश्वत (नित्य) और भाव अर्थात् पर्याय की अपेक्षा से अशाश्वत् (अनित्य) कहा है।[1]

---

१. जीवाणं भन्ते किं सासया असासया ? गोयमा जीवा सिय सासया सिय असासया। गोयमा, दव्वट्ठयाए सासया भावट्ठयाए असासया।
—भगवती, ७।२।२७३

सन्त आनन्दघन ने उत्पाद व्यय और ध्रौव्य (त्रिपदी) के आधार पर आत्मा को नित्यानित्य प्रतिपादित किया है, जो भगवान् महावीर के शब्दों में 'उपन्नेइ वा, विगमेइ वा, धुवेइवा' है। ये तीन सिद्धान्त ही जैनदर्शन की नींव हैं। आत्मा की नित्यानित्य सम्बन्धी धारणा को स्पष्ट करते हुए आनन्दघन कहते हैं कि आत्म-स्वरूप का खेल बड़ा विचित्र है। इसके रहस्य को जान पाना बड़ा कठिन है। यह आत्मा एक ही समय में उत्पन्न होता है, पुनः उसी समय विनष्ट हो जाता है तथा उसी समय में अपनी ध्रौव्य-नित्य सत्ता में स्थिर रहता है। आत्मा में उत्पाद-व्यय रूप परिवर्तनशीलता सतत होती रहती है, फिर भी यह आत्मा अपनी ध्रुव सत्ता अर्थात् नित्यता को कभी नहीं छोड़ता है। जैसे—स्वर्ण के मुकुट, कुण्डल आदि अनेक रूप बनते हैं, तब भी वह स्वर्ण ही रहता है। इसी प्रकार, देव, नारक, मनुष्य एवं तिर्यञ्च गतियों में परिभ्रमण करते हुए जीव की विविध पर्यायें बदलती हैं—रूप और नाम बदलते हैं। लेकिन इन विविध पर्यायों में भी आत्म-द्रव्य सदा (त्रिकाल में) एक-सा रहता है। आत्मा पर्यायों के कारण सदैव अन्यान्य-रूप बदलता रहता है। इन पर्यायों में परिवर्तित होने के बाद भी आत्मा आत्मा ही रहता है। इसी बात को आनन्दघन और अधिक स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि जलतरंग में भी जैसे पूर्वतरंग का व्यय होता है और नवीन का उत्पाद होता है किन्तु जलत्व तो दोनों में ध्रुव रूप से लक्षित होता है। मिट्टी के घड़े के आकार के रूप में उत्पाद होता है, टूटने पर टुकड़े के रूप में व्यय (नाश), लेकिन इन दोनों अवस्थाओं में मिट्टी का रूप एक ही है। इसी तरह आनन्दघन के अनुसार आत्मा भी द्रव्य की अपेक्षा से ध्रौव्य-नित्य है और पर्याय की अपेक्षा से उत्पाद-व्ययशील-अनित्य है। सन्त आनन्दघन कहते हैं—

अवधू नटनागर की बाजी, जाणै न बांभण काजी।
थिरता एक समय में ठानै, उपजै विनसै तब ही।
उलट पुलट ध्रुव सत्ता राखै, या हम सुनी नहीं कबही ॥
एक अनेक अनेक एक फुनि, कुंडल कनक सुभावैं।
तलतरंग घट माटी रविकर, अगिनत ताइ समावैं ॥[1]

आत्मा की विभिन्न अवस्थाएँ

जैन-दर्शन में मुख्य रूप से आत्मा की अवस्थाओं पर तीन तरह से विचार किया गया है।

१. आनन्दघन ग्रन्थावली, ५९।

१. स्वाभाविक एवं वैभाविक अवस्था के रूप में,

२. बहिरात्म, अन्तरात्म तथा परमात्म-अवस्था के रूप में,

३. निद्रा, स्वप्न, जाग्रत एवं तुरीयावस्था के रूप में।

न केवल जैनदर्शन में प्रत्युत जैनेतर दर्शनों में भी आत्मा की विभिन्न अवस्थाओं पर पर्याप्त विचार किया गया है।

आत्मा की स्वाभाविक एवं वैभाविक अवस्थाएँ

मानव-जीवन संघर्षमय है। संघर्ष आन्तरिक और बाह्य दोनों स्तर पर होता है। आन्तरिक संघर्ष के लिए आत्मा की वैभाविक अवस्थाएँ ही उत्तरदायी हैं। निश्चय-नय की दृष्टि से तो आत्मा आनन्द-स्वरूप है। उसमें किसी प्रकार का द्वन्द्व या संघर्ष नहीं है। यद्यपि व्यवहार-नय की दृष्टि से स्वाभाविक एवं वैभाविक अवस्थाओं का संघर्ष अनादिकाल से चल रहा है और यह तब तक चलता रहेगा, जब तक कि विभाव का क्षय नहीं हो जाता। विभाव-दशा के नष्ट होने पर ही स्वभाव-दशा प्रकट होती है। इस सम्बन्ध में आनन्दघन का कथन है कि विभावरूपी रात्रि के विलीन होने पर ही स्वभावरूपी सूर्य उदित होगा और तब मानों आनन्दपुंज आत्मा सम्यक् प्रकार से समता से मिल जाएगी।[२]

जैन-धर्म में आत्मा की मुख्यतः दो अवस्थाएँ मानी गई हैं—स्वभाव और विभाव। यह बात अलग है कि किसी आत्मा में विभाव (मलिनता) का अंश अधिक है तो किसी में कम। बहिरात्मा विभाव-दशा में घिरा रहता है तो अन्तरात्मा स्वभाव-दशा में रमण करता है। मुक्तात्मा या परमात्मा तो सदैव निज स्वभाव में स्थित रहता है। इस प्रकार, स्वभाव और विभाव दोनों का जीवन में संघर्ष अनवरत चल रहा है और इस संघर्ष को समाप्त करना ही मानव-जीवन का चरम लक्ष्य है।

भगवद्गीता में भी इसकी कुछ झलक मिलती है। गीताकार ने स्वाभाविक एवं वैभाविक अवस्था को क्रमशः स्वधर्म और परधर्म के रूप में

---

२. रात विभाव विलात ही, उदित सुभाव सुभानु।
समता साच मतइ मिलै, आनन्दघन मानु॥

—आनन्दघन ग्रन्थावली, पद ३४।

परिभाषित किया है।[1] सन्त आनन्दघन ने भी आत्मा की उक्त अवस्थाओं का विश्लेषण किया है किन्तु वे एक रहस्यदर्शी सन्त हैं, अतः अपनी बात को रहस्य एवं रूपक में ही प्रस्तुत करते हैं। उनके अनुसार आत्मा की स्वभाव-दशा समता है और विभाव-दशा ममता। उन्होंने समता को आत्मा (चेतन) की सह-धर्मिणी बड़ी पत्नी के रूप में और ममता को आत्मा की विधर्मिणी छोटी पत्नी के रूप में कल्पित किया है। इसके साथ ही समता को आत्मा का निजघर और ममता को आत्मा का परघर कहा है। इस प्रकार, उन्होंने समता और ममता रूप दोनों सौत-पत्नियों के संघर्ष का रूपक अलंकार द्वारा अतीव सुन्दर और सजीव चित्रण किया है।

आत्मा की स्वभाव एवं विभाव-दशा का वर्णन करते हुए आनन्दघन ने अरजिन स्तवन के प्रारम्भ में ही कहा है कि जहाँ शुद्धात्म-स्वरूप की अनवरत अनुभूति होती हो, वही आत्मा की स्व-स्वभाव-दशा है, किन्तु कभी-कभी आत्मा पर-पदार्थों के आकर्षण के कारण अपने शुद्धात्म-स्वरूप से च्युत होकर पौद्गलिक पर-भावों में भटकने लगता है तब वह आत्मा की विभाव-दशा या पर-समय कहलाता है।

समयसार टीका में आत्म-द्रव्य की पर्याय दो रूपों में विभक्त की गई है—स्वभाव और विभाव।[2] वस्तुतः 'पर्याय' शब्द जैनदर्शन का पारिभाषिक शब्द है। यह अवस्था या दशा का सूचक है। 'पर' (पुद्गल) के निमित्त से होनेवाली पर्याय (अवस्था) अर्थात् पराश्रित-दशा को विभाव-दशा कहा गया है। यही विभाव-दशा बन्धन की परिचायक है, जब कि स्वाश्रित या स्वभाव-दशा मुक्ति की द्योतक है। इस सम्बन्ध में डा० सागरमल जैन ने अपने शोध-प्रबन्ध में प्रकाश डाला है। वे कहते हैं— "नैतिक जीवन का अर्थ विभाव पर्याय से स्वभाव-पर्याय में आना है"[3]

---

१. श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः, पर धर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्व धर्मे निधनं श्रेयः, परधर्मो भयावहः ॥
—भगवद्गीता, अध्याय ३, श्लो० ३५।

२. समयसार टीका, २-३।

३. बौद्ध एवं गीता के आचार-दर्शन के सन्दर्भ में जैन आचार-दर्शन का तुलनात्मक अध्ययन, पृ० २२२।

तात्पर्य यह है कि आत्मा का 'स्व' में रमण करना ही स्वभाव-दशा है और 'पर' में विचरण करना ही विभाव-दशा है। यह स्वाश्रित और पराश्रित दशाएँ ही आनन्दघन के रहस्यवादी दर्शन में आत्मा की स्वाभाविक एवं वैभाविक अवस्था है[1] और यही क्रमशः समता और ममता है।

यद्यपि जैन-परम्परा में 'स्वभाव' और 'विभाव' अति प्रचलित शब्द हैं, तथापि सामान्यतः स्वभाव से अभिप्राय है—स्व-स्वरूप में अवस्थित निर्मल, निर्विकार, निष्कलुष, निरुपाधिक स्वाश्रित दशा और विभाव से तात्पर्य है विकृत-दशा में रहने वाली मलिन, विकारी, औपाधिक-सांयोगिक पराश्रित दशा। सरल शब्दों में कहें तो स्वभाव-दशा आत्मा की सात्त्विक वृत्ति की प्रतीक है और विभाव-दशा आत्मा की तामसिक वृत्ति की। आत्मा की तामसिक और सात्त्विक वृत्तियों के विषय में आनन्दघन का कथन है कि साधक समस्त सांसारिक प्रपंचों को छोड़ कर शुद्धात्म-स्वरूप का अवलम्बन लेकर सभी तमोगुणवाली (कषायादि राग-द्वेष रूप पर भावों) वृत्तियों का परित्याग कर सत्त्वगुण प्रधान समता, दया, क्षमा, सन्तोषादि सात्त्विक वृत्तियों को अपनाए।[2]

यद्यपि स्वभाव और विभाव-दशाएँ परस्पर विरुद्ध हैं, तथापि दोनों आत्माश्रित हैं। यहां प्रश्न उठता है कि ये दोनों विरोधी दशाएँ आत्मा में कैसे रहती हैं? इसका सीधा-सा उत्तर है। जब आत्मा ज्ञाता-द्रष्टा भाव में स्थिर रहता है, उस समय उसमें राग-द्वेषादि पर-भाव नहीं रहते और राग-द्वेष का अभाव ही आत्मा की समत्व-दशा है, क्योंकि जैनागम आचारांग[3] एवं भगवती सूत्र[4] में समत्व या समता को आत्मा का धर्म

---

१. शुद्धातम अनुभव सदा, स्व समय एह विलास रे।
पर बड़ी छांहड़ी जे पड़े, ते पर समय निवास रे॥
—आनन्दघन ग्रन्थावली, अरजिन स्तवन।
तुलनीय—प्रवचनसार, गाथा २, ज्ञेयतत्त्वाधिकार।

२. शुद्ध आलम्बन आदरै, तजि अवर जंजाल रे।
तामसी वृत्ति सवि परिहरि, भजे सात्त्विक साल रे॥
—आनन्दघन ग्रन्थावली, शान्ति जिन स्तवन।

३. समियाए धम्मे आरियेहिं पवेइए। —आचारांग, १।८।३

४. आयाए सामाइए, आया सामाइस्स अट्ठे। —भगवती, १।९।२२८

(स्वभाव) कहा गया है। अतः स्पष्ट है कि जब आत्मा समत्व भाव में स्थिर रहता है तब उसमें विभाव-दशा नहीं रहती। किन्तु जब आत्मा निज से भिन्न विजातीय पर-भावों या राग-द्वेष में रमण करने लगता है तब उसमें स्वभाव-दशा या समता नहीं रहती। इसी सन्दर्भ में आनन्दघन ने कहा है : "एक ठामे किम रहै, दूध कांजी थोक"[1]—जैसे दूध और कांजी का समूह एक स्थान पर नहीं रह सकता, वैसे ही स्वभाव और विभाव रूप विपरीत अवस्थाएँ एक साथ आत्मा में नहीं रह सकतीं। जहां समता है वहां ममता का निवास नहीं और जहां ममता है वहां समता का आवास नहीं। उन्होंने दोनों के अन्तर को भी स्पष्ट किया है :

मोहि और बिन अन्तर एतों, जेतो रूपै रांग ।[2]

समता और ममता अर्थात् स्वभाव और विभाव के मध्य इतना अन्तर है जितना चांदी और रांगा में।

आत्मा यद्यपि कर्म-परमाणुओं से सम्पृक्त होने के कारण वैभाविक पौद्गलिक पदार्थों के प्रति आकर्षित हो रागादि भाव करता है, फिर भी यह विभाव दशा उसका स्व स्वभाव नहीं है। उसका स्वभाव तो समता ही है।

समता के विषय में आनन्दघन का कथन है कि चेतन विभाव-दशा में रस ले रहा है, यह बात उसकी उन्मत दशा स्वतः ही बता रही है, किन्तु आत्मा की स्वाभाविक परिणति तो समता ही है। समता के अतिरिक्त आनन्दघन रूप आत्मा का अपना अन्य कोई नहीं हो सकता।[3] इसका कारण यह है कि माया-ममता आदि विभाव तो सांयोगिक, औपाधिक एवं पराश्रित हैं जबकि समता-भाव सहज, निरुपाधिक एवं स्वाश्रित हैं। इसी लिए आनन्दघन ने कहा है :

आनन्दघन प्रभु को घर समता, अटकलि और लिबासी ।[4]

---

१. आनन्दघन ग्रन्थावली, पद ५० ।

२. वही, पद २१ ।

३. औरन के संग राचे चेतन, माते आप बतावै ।
आनंदघन की समता, आनंदघन वाकै न कहावै ॥
—वही, पद २८ ।

४. वही, पद ४३ ।

वस्तुतः आनन्द-कन्द प्रभु का निज घर तो समता ही है, अन्य वैभाविक परिणाम तो आनुमानिक. काल्पनिक अथवा छद्मवेशी हैं।

एक ओर, जहां उन्होंने आत्मा की स्वभाविक-दशा समता पर प्रकाश डाला है, वहीं दूसरी ओर आत्मा की वैभाविक-अवस्था ममता का भी सुन्दर चित्र खींचा है।[1] आत्मा के लिए ममता के रस लेना निस्सार है। जैसा कि आनन्दघन ने कहा है—

ममता संग सुचाइ अजागल थन तै दूध दुहावै।[2]

ममता का साथ आत्मा के लिए बकरी के गले के स्तनों से दूध दुहने को भांति है।

तत्त्वतः आत्मा सहज स्वाभाविक गुणों से युक्त है, किन्तु कर्म सम्बद्ध होने से अपने मूल रूप को विस्मृत कर पर-भावों में विचरण करता है और परिणामतः चतुर्गति में भटक रहा है। आनन्दघन ने आत्मा की इसी विकृत-दशा का अत्यन्त सुन्दर वर्णन करते हुए कहा है कि जैसे-सूर्य पूर्व दिशा को छोड़कर पश्चिम दिशा से अनुरक्त होकर अस्त हो जाता है, वैसे ही यह आत्मा जब समतारूपी स्व-घर को छोड़कर ममता रूप पर-घर में अनुरक्त हो जाता है तब उसकी सहज स्वाभाविक-दशा पर अज्ञान का अन्धकार छा जाता है।[3] इतना ही नहीं, आत्मा के पर-घर में प्रवेश करने से क्या हानि होती है, इसका भी यथार्थ चित्र उन्होंने खींचा है। वे कहते हैं कि आत्मा को पर-घर रूप विभाव-दशा में भटकने से किस आनन्द की अनुभूति होती है? वहां कुछ भी तो नहीं मिलता। पर-घर में प्रवेश करने से तो लाभ के बदले हानि ही होती है। मुख्य रूप से धन, यौवन तथा शरीर की क्षति होती है। इसके साथ ही, लौकिक-व्यवहार में भी जीवन भर अपयश मिलता है। वस्तुतः आत्मा अपने वंश रूप निज स्वरूप की मर्यादा का उल्लंघन कर मन रूपी मन्त्री के चक्कर में पड़ गया है और उसके कथानानुसार ही उन्मार्ग में परिभ्रमण कर रहा

१. आनन्दघन ग्रन्थावली, पद ४३, ४५, ४६।
२. वही, पद २८।
३. बालूडी अबला जोर किसौ करै, पीउडो पर घर जाई।
पूरब दिसि तजि पच्छिम रातडौ, रवि अस्तगंत थाई॥
वही, पद ४१।

है। यह कहावत सत्य है कि जिस तरह संसार में एक अंधा दूसरे अंधे को धक्का देकर चलता है उसी तरह ममता में अंधा होकर आत्मा भी मनरूपी मन्त्री के मते ही चल रहा है। ऐसी स्थिति में कौन किसका यथार्थ पथ-प्रदर्शन कर सकता है ?[1] यदि अंधा मनुष्य अंधे का ही सहारा लेकर चले तो कैसे अपने गन्तव्य स्थल पर पहुंच सकता है ? आनन्दघन ने इस प्रसिद्ध लोकोक्ति का प्रयोग कर आत्मा और मन की अंध-दशा का स्पष्टीकरण किया है। संस्कृत में भी एक कहावत है—

अंधेनैव नीयमाना यथान्धाः।

उन्होंने अन्यत्र भी 'अंधों अंध पलाय'[2] कहावत का प्रयोग किया है जिसका संकेत जैनागम सूत्रकृतांग सूत्र में मिलता है।[3] आनन्दघन ने आत्मा की वैभाविक दशा की दयनीयता पर प्रकाश डालते हुए एक मार्मिक अपील की है, जो इस प्रकार है—'समता ममता पर कटाक्ष करती हुई कहती है कि अरे! यह ममता सौत पर-घर में भटक रही है, इसे कोई रोको। इसकी तो राग-द्वेष रूप संसार में भ्रमण करने की आदत ही हो गई है। इसका तो विभावों में भटकने का जन्मजात स्वभाव ही है, किन्तु इसने स्वामी (आत्मा) को भी अपनी ओर आकर्षित कर रखा है। अतः वह इस ममता के साथ रस ले रहा है, किन्तु इसका परिणाम क्या आनेवाला है, इसका विचार इसने कभी नहीं किया। समता ममता के प्रति कहती है कि यह तो पर-घर में घूमने के कारण मिथ्या-भाषण करने वाली हो गई है। इसे सत्यासत्य का कोई विवेक नहीं है। यह आत्मा को बहकाती है, जिससे उसे भी कलंकित होना पड़ता है। इसकी झूठ-कपट आदि प्रवृत्तियों को देखकर लोग व्यभिचारिणी या पुंश्चलि कह देते हैं। इसके साथ आत्मा

१. परघर ममता स्वाद किसौ लहै, तन धन जोबन हाणि।
दिन दिन दीसै अपजस बाधतो, निज मन मानै न काणि ।।
कुलवट लोपी अवट ऊवट पडै, मन महुता नै घाट।
आंधै आंधौ जिम जग ठेलियै, कौण दिखावै वाट ।।
—आनन्दघन ग्रन्थावली, पद ४१।

२. आनन्दघन ग्रन्थावली, अजितजिन स्तवन एवं धर्मजिन स्तवन।

३. अंधो अंधं पहं नितो दूरमद्धाण गच्छति।
आवज्जे उप्पहं जंतू अदूवा पंथाणु गाम्मिए ।।
—सूत्र कृतांग, श्रुतस्कन्ध १, अ० १, उ० २।

रहता है और आत्मा की सहधर्मिणी होने के नाते मुझे (समता को) भी लोगों के उपालम्भ सुनने पड़ते हैं। इससे हृदय अत्यन्त व्यथित हो जाता है।[1] जब आत्मा की अशुद्ध चेतना शुद्ध चेतना को छोड़कर राग-द्वेष रूप पर घर में भटकती है तब बुद्धिमान् इसे व्यभिचारिणी कहे तो कोई अनुचित नहीं है।

आत्मा की वैभाविक अवस्था का चित्र प्रस्तुत करते हुए आनन्दघन कहते हैं कि समता अपने प्रियतम आत्मदेव की विरूपावस्था का वर्णन करती हुई कहती है कि सखी! इस चतुर नटनागर रूप आत्मा की वेशभूषा तो देखो अर्थात् इसके विकृत स्वरूप की ओर तो दृष्टिपात करो। यह अपने-अपने निज स्वरूप को भूलकर ममता के संग में ही खेल रहा है। इससे मेरी सिन्दूर रूप मांग फीकी लगती है। इसे कहां तक उपालम्भ दिया जाय, क्योंकि यह तो अनादिकाल से इसी तरह जीवन यापन कर रहा है। शरीर की सुध-बुध खोकर मन माना ऐसे घूम रहा है जैसे भंग पीकर मतवाला (पागल) बन गया हो।[2] आत्मा ने अनादि काल से मोहरूपी भांग पी रखी है। इसीलिए वह यत्र-तत्र भटक रहा है। इसी तरह अनेक पदों में आनन्दघन ने ममता-माया,[3] आशा[4]-तृष्णा[5] आदि

---

१. वारौ रे कोई पर घर भमवानो ढाल,
नान्ही बुहु नै पर घर भमवानो ढाल।
पर घर ममतां झूठां बोली थई देस्यै धनीजी नै आल।।
अलवै चालो करती देखी, लोकडा कहिस्यै छिनाल।
ओलभंडा जण जण ना आणी, हीयडै उपासै साल।।
—आनन्दघन ग्रन्थावली, पद ४७।

२. देखौ आली नट नागर के सांग।
और ही और रंग खेलत ताते फीकी लागत मांग।।
उरहानौ कहा दीजै बहुत करि, जीवत है इहि ढांग।
मोहि और बिच अंतर एतो जेतो रूपै रांग।।
तन सुधि खोर घूमत मप ऐसे, मानु कछु खांई भांग।
ऐते पर आनन्दघन नावत, कहा और दीजै बांग।।
—वही, पद २१।

३. वही, पद ४६।

४. वही, पद ४३।

५. अनुभौ तू है हितु हमारौ।
आउ उपाउ करो चतुराई, और को संग निवारो।।

वैभाविक दशाओं का चित्रांकन किया है। इसके अतिरिक्त उन्होंने समता-ममता के अन्तर्गत् आत्मा के स्वाभाविक और वैभाविक दशा के पोषक भावों की भी विवेचना की है।[1]

इस प्रकार, हम देखते हैं कि आनन्दघन का रहस्यवादी दर्शन विभाव से स्वभाव की ओर (ममता से समता की ओर) आने पर अत्यधिक बल देता है। इस दृष्टि से उनके दर्शन को स्वभाव या [illegible] कहना समुचित ही होगा। यद्यपि उन्होंने बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा—इन तीन अवस्थाओं पर पृथक् से प्रकाश डाला है जिसमें वहिरात्म-दशा ही आत्मा की विभाव-दशा है, अन्तरात्म-अवस्था आत्मा के विभाव-दशा से, स्वभाव-दशा की ओर प्रयाण की सूचक है और तीसरी परमात्म-अवस्था है जो कि आनन्दस्वरूप है, स्वभाव-दशा में नित्य अवस्थिति की परिचायक है और यही शुद्धात्मा की अवस्था है।

बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा

जैन सिद्धान्त के अनुरूप सन्त आनन्दघन ने आत्मा की तीन अवस्थाएँ भी बतलाई हैं—(१) बहिरात्मा, (२) अन्तरात्मा, और (३) परमात्मा। आत्मा के त्रिविध वर्गीकरण की यह परम्परा अति पुरानी है। आनन्दघन के पूर्ववर्ती अनेक जैनाचार्यों एवं साधकों ने आत्मा की त्रिविध अवस्थाओं पर विचार किया है। उनमें से कुन्दकुन्दाचार्य, स्वामी कार्तिकेय, पूज्यपाद, योगीन्दु मुनि, आचार्य शुभचन्द्र और आचार्य हेमचन्द्र प्रभृति के नाम उल्लेखनीय हैं।

आत्मा की त्रिविध अवस्थाओं का उल्लेख सबसे पहले कुन्दकुन्द के 'मोक्ष-प्राभृत' में मिलता है।[2] स्वामी कार्तिकेय ने भी 'कार्तिकेयानुप्रेक्षा'

तिसना रांड भांड की जाई, कहा घर करै सवारौ।
सठ ठग कपट कुटंबहि पोषत, मन में क्यूं न बिचारौ।
कुलटा कुटिल कुबुद्धि संग खेलि कै, अपनी पत क्यू हारौ।
आनन्दघन समता घर आवै, बाजै जीत नगारौ॥
—आनन्दघन ग्रन्थावली, पद ४०

१. वही, पद ७९ एवं ८०।

२. तिपयारो सो अप्प परमेतर बाहिरो हु देहीणं।
तत्थ परो झाइज्जइ, अंतोवाएण चएहि बहिरप्पा॥
—मोक्ष पाहुड, ४।

में आत्मा के उपर्युक्त तीन भेद प्रतिपादित किए हैं। यद्यपि उनकी विशेषता यह है कि उन्होंने परमात्मा के भी दो वर्ग बताए हैं—एक अरहंत और दूसरा सिद्ध।[1] इसी तरह पूज्यपाद ने 'समाधितन्त्र' में आत्मा की त्रिविध अवस्थाओं की चर्चा की है।[2] योगीन्दु मुनि ने 'परमात्म-प्रकाश' एवं 'योगसार' में आत्मा की इन तीन अवस्थाओं पर प्रकाश डाला है। 'योगसार' में उन्होंने बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा ऐसे तीन नामों का संकेत किया,[3] किन्तु परमात्म-प्रकाश में मूढ़, विचक्षण और पर-ब्रह्म ऐसे तीन नामों का उल्लेख किया है।[4] आचार्य शुभचन्द्र ने 'ज्ञानार्णव' में आत्मा की तीन अवस्थाओं का निर्देश किया है।[5] इसी तरह आचार्य हेमचन्द्र ने 'योग-शास्त्र'[6] में एवं पं० आशाधर ने 'अध्यात्म-रहस्य'[7] में आत्मा की उपर्युक्त अवस्थाओं का विवेचन किया है।

---

१. जीवा हवंति तिविहा बहिरप्पा तह य अंतरप्पा य।
परमप्पा विय दुविहा अरहंता तह य सिद्धाय ॥
—स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा, १९२।

२. बहिरंतः परश्चेति त्रिधात्मा सर्वदेहिषु।
उपेयात्तत्र परमं मध्योपायाद् बहिस्त्य जेत् ॥
—समाधितंत्र, ४।

३. ति-पयारो अप्पा मुणहि परु अंतरु बहिरप्पु।
पर जायहि अंतर-सहिउ बाहिरु चयहि णिभंतु ॥
—योगसार, ६।

४. मूढु वियक्खणु बंभु परु अप्पा ति-विहु हवेइ।
देहु जि अप्पा जो मुणइ सो जणु मूढु हवइ ॥
—परमात्म-प्रकाश, १३।

५. त्रिप्रकारः स भूतेषु सर्वेष्वात्मा व्यवस्थितः।
बहिरन्तः परश्चेति विकल्पैर्वक्ष्यमाणकैः ॥
—ज्ञानार्णव, ५।

६. बाह्यात्मानमपास्य प्रसक्ति भाजान्तरात्मना योगी।
सततं परमात्मानं विचिन्तयेत्तन्मयत्वाय ॥
—योगशास्त्र, द्वादश प्रकाश, ६।

७. अध्यात्म-रहस्य, श्लो० ४-५।

आनन्दघन के समकालीन विचारकों में भैया भगवतीदास ने ब्रह्म-विलास में,[१] धानतराय ने 'धर्म-विलास'[२] में और उपाध्याय यशोविजय ने 'योगावतारद्वात्रिंशिका'[३] में आत्मा की उक्त तीन अवस्थाओं की विवेचना की है। उपाध्याय यशोविजय की विशेषता यह है कि उन्होंने इन तीनों अवस्थाओं को चौदह गुणस्थानों की अवधारणा के साथ घटाया है।

जैनेतर परम्परा में आत्मा की अवस्थाओं का चित्रण

औपनिषदिक-चिन्तन में भी आत्मा की विभिन्न अवस्थाओं की अवधारणा पाई जाती है। यह बात दूसरी है कि आत्मा की विविध अवस्थाओं की अवधारणा के सम्बन्ध में उनकी जैन-परम्परा से किंचित् भिन्नता है, किन्तु इतना निश्चित् है कि आत्मा के विविध भेद उनमें भी मान्य हैं। तैत्तिरीय उपनिषद् में आत्मा की पांच अवस्थाएँ बतलायी गयी हैं: १–अन्नमय, २–प्राणमय, ३–मनोमय, ४–विज्ञानमय और ५–आनन्दमय।[४] कठोपनिषद् में त्रिविध आत्मा का उल्लेख मिलता है: ज्ञानात्मा, महदात्मा और शान्तात्मा।[५] इसी तरह छान्दोग्य उपनिषद् को दृष्टिपथ में रखकर डायसन ने आत्मा के तीन भेदों की चर्चा की है: शरीरात्मा,

१. एक जु चेतन द्रव्य है, तिन में तीन प्रकार।
बहिरातम अन्तर तथा परमातम पद सार॥
—ब्रह्मविलास, परमात्म छत्तीसी, २।

२. तीन भेद व्यवहार सौं, सरब जीव सब ठाम।
बहिरन्तर परमातमा, निहचै चेतनराम॥
—धर्मविलास, अध्यात्म पंचासिका, ४१।

३. बाह्यात्मा चान्तरात्मा च परमात्मेति च त्रयः।
कायाधिष्ठायक ध्येयाः प्रसिद्धा योग वाङ्मये॥
—योगावतार द्वात्रिंशिका, १७।

४. [illegible]। एतं प्राणमयमात्मानमुपसंक्रम्य एतं [illegible]। एतं विज्ञानमयात्मानमुपसंक्रम्य। एतमानन्दमयमात्मानमुपसंक्रम्य।
—तैत्तिरीय उपनिषद्, भृगुवल्ली, ३।१०

५. यच्छेद्वाङ्मनसी प्रज्ञस्तद्यच्छेज्ज्ञान आत्मनि।
ज्ञानमात्मनि महति नियच्छेत्तद्यच्छेच्छान्त आत्मनि॥
—कठोपनिषद्, ३।१३

जीवात्मा और परमात्मा ।[१] माण्डूक्योपनिषद् में आत्मा के चार भेद माने हैं : अन्तः प्रज्ञ, बहिष्प्रज्ञ, उभयप्रज्ञ और अवाच्य ।[२]

सन्त आनन्दघन ने भी आत्मा की त्रिविध अवस्थाओं के स्वरूप का विवेचन किया है। अतः आत्मा की तीनों अवस्थाओं का स्वरूप एवं लक्षण क्या है, बहिरात्म-दशा से अन्तरात्म-दशा तक कैसे पहुँचा जा सकता है और उस अवस्था तक पहुंचने के क्या उपाय हैं आदि प्रश्नों की चर्चा करना आवश्यक है।

सर्वप्रथम आत्मा के त्रिविध वर्गीकरण की चर्चा करते हुए आनन्दघन कहते हैं :

त्रिविध सकल तनुधर गत आतमा, बहिरातम अधरूप सुज्ञानी ।
बीजो अन्तर आतमा, तीसरो परमातम अविच्छेद सुज्ञानी ॥[३]

समस्त देहधारियों में तीन प्रकार की आत्मा होती है— १–बहिरात्मा, २–अन्तरात्मा, और ३–परमात्मा। आत्मा की ये तीन अवस्थाएँ केवल शरीरधारी जीवों की दृष्टि में रखकर प्रतिपादित हैं। सिद्धों में उक्त अवस्थाएँ नहीं होतीं। सामान्यतः जीव के दो भेद माने गये हैं : संसारी और सिद्ध। संसारी जीवों में आत्म-गुणों के विकास की दृष्टि से आत्मा की ये तीन अवस्थाएँ कल्पित की गई हैं। इन तीन अवस्थाओं के लक्षणों के आधार पर साधक यह जान सकता है कि वह किस अवस्था में है। वस्तुतः ये तीनों प्रकार की आत्माएँ उत्तरोत्तर निर्मलतर हैं अर्थात् आत्म-गुणों की विकास की दृष्टि से उत्तरोत्तर आगे बढ़ी हुई हैं। इनमें निम्नतम प्रकार बहिरात्मा का है, द्वितीय प्रकार अन्तरात्मा का है, जो बहिरात्मा से अधिक निर्मल एवं श्रेष्ठ है, किन्तु इन दोनों से भी श्रेष्ठतम तीसरा प्रकार परमात्मा का है जो निर्मलतम है। इस परमात्म-अवस्था को प्राप्त

---

१. छान्दोग्य, ३०८, ७-१२
उद्धृत—परमात्म-प्रकाश, प्रस्तावना, पृ० १०७।

२. नान्तः प्रज्ञं न बहिः प्रज्ञं नोभयतः प्रज्ञं न प्रज्ञान घनं न प्रज्ञंनाप्रज्ञम् ॥
अदृष्टमव्यवहार्यमग्राह्यमलक्षणमचिन्त्यमव्यपदेश्यमेकात्मप्रत्यय सारं प्रपञ्चोपशमं शान्तं शिवं अद्वैतं चतुर्थं मन्यंतेस आत्मा स विज्ञेयः ।।७।।
—माण्डूक्योपनिषद् ।

३. आनन्दघन ग्रन्थावली, सुमतिजिन स्तवन ।

करना ही साधक का मुख्य लक्ष्य है। किन्तु इसके लिए सबसे पहले बहिरात्मा के लक्षण व स्वरूप को समझना आवश्यक है। यह सत्य भी है कि जब तक बहिरात्मा के स्वरूप का परिज्ञान न हो, तब तक साधक अन्तरात्मोन्मुखी नहीं बनता और जब तक वह अन्तरात्मोन्मुखी ही नहीं होगा तो परमात्मोन्मुखी कैसे हो सकेगा ?

यहाँ प्रश्न होता है—आत्मा के प्रथम प्रकार को जानने से क्या लाभ ? लाभ तो है परमात्मा के स्वरूप को जानने में, क्योंकि उससे स्व-स्वरूप का बोध होता है। इसमें सन्देह नहीं कि जब तक संसार के स्वरूप का तथा शरीर और आत्मा की भिन्नता का बोध न हो, तब तक स्व-स्वरूप की उपलब्धि कदापि सम्भव नहीं। अनात्मा को जानने पर ही आत्मा को जाना जा सकता है। यदि साधक को यह बोध ही न हो कि आत्मा की वे कौन-सी स्थितियाँ हैं जो परमात्म-दशा तक पहुंचने में बाधक हैं, वह आत्म-विकास के क्षेत्र में अग्रसर हो नहीं सकता। अतएव स्व-स्वरूप या परमात्म-दशा की प्राप्ति में अवरोधक तत्त्वों का परिज्ञान नितान्त आवश्यक है, क्योंकि रोग को जाने बिना रोग से मुक्ति सम्भव नहीं। परमात्म-दशा की प्राप्ति में बाधक तत्त्व है, आत्मा की बहिर्मुखता अर्थात् विषय भोगों की आकांक्षा। बहिर्मुखी आत्मा परमात्म-दशा से विमुख रहता है।

अब मूल प्रश्न यह है कि बहिरात्म-दशा के लक्षण क्या हैं, बहिर्मुखता की पहचान क्या है ? बहिरात्मा का लक्षण बताते हुए आनन्दघन कहते हैं :

आतम बुद्धे कायादिक ग्रह्यो, बहिरात्म अघरूप सुज्ञानी।[1]

शरीरादि में आत्म-बुद्धि रखना ही बहिरात्मता है। जो मनुष्य देह और आत्मा को एक मानता है, वह बहिरात्मा है और ऐसा बहिरात्मा पाप रूप है।

आचार्य कुन्दकुन्द[2], स्वामी कार्तिकेय,[3] आचार्य पूज्यपाद,[4] योगीन्दु

---

१. आनन्दघन ग्रन्थावली, सुमतिजिन स्तवन।
२. अक्खाणि बहिरप्पा। —मोक्ष-प्राभृत, गाथा ५।
३. मिच्छत्त-परिणदप्पा तिव्व-कसाएण सुट्ठु आविट्ठो।
जीवं देहं एक्कं भण्णंतो होदि बहिरप्पा॥
—स्वामिकार्त्तिकेयानुप्रेक्षा।
४. बहिरात्मा शरीरादौ जातात्मभ्रान्तिः॥
—समाधितंत्र, ५।

मुनि,[१] आचार्य शुभचन्द्र,[२] आचार्य हेमचन्द्र,[३] पण्डित आशाधर,[४] भैया भगवतीदास,[५] और उपाध्याय यशोविजय[६] प्रभृति ने भी बहिरात्मा का यही लक्षण प्रतिपादित किया है।

बहिरात्म-अवस्था में चिन्तन की धारा का प्रथम सूत्र है—'मैं शरीर हूँ,' जब कि अध्यात्म-साधना का समूचा विकास इस विचारसरणी के आधार पर हुआ है कि 'शरीर और आत्मा पृथक् है।[७]' बहिरात्म व्यक्ति शरीर और आत्मा को एक मानता है। फलतः इससे 'मेरे' पन की बुद्धि उत्पन्न हो जाती है। यथा, मेरा शरीर, मेरी पत्नी, मेरा पुत्र, मेरा परिवार, मेरा धन आदि-आदि। कहने का तात्पर्य यह कि ऐसा व्यक्ति समूचे पदार्थ-जगत् को अपने अधिकार में समेट लेना चाहता है। उसकी तृष्णा या ममत्व-बुद्धि सुरसा के मुँह के समान बढ़ती ही जाती है। इस तरह, जहाँ भी 'ममत्व' बुद्धि होती है, वहाँ बहिरात्मदशा होती है। यह भी सत्य है कि जहाँ ममत्व होगा वहाँ अहंकार निश्चित् होगा और जहाँ ये दोनों

---

१. देहादिउ जे परिकहिया ते अप्पाणु मुणेइ।
सो बहिरप्पा जिण भणिउ पुणु संसारू भमेइ॥
—योगसार १०, एवं परमात्मप्रकाश, गाथा १३।

२. आत्म बुद्धिः शरीरादौ यस्य स्यादात्मविभ्रमात्।
बहिरात्मा स विज्ञेयो मोह निद्रास्त चेतनः॥
—ज्ञानार्णव, ६।

३. आत्मधिया समुपात्तः कायादिः कीर्त्यतेऽत्र बहिरात्मा।
—योगशास्त्र, एकादश प्रकाश, ७।

४. स स्वात्मेत्युच्यते शश्वद् भाति हृत्पंकजोदरे।
योऽहमित्यंजसा शब्दात्पशूनां स्वविदा विदाम्॥
—अध्यात्म-रहस्य, ४।

५. बहिरातम ताको कहै, लखै न ब्रह्म स्वरूप।
मग्न रहै पर द्रव्य में, मिथ्यावन्त अनूप॥
—ब्रह्म विलास, परमात्म छत्तीसी।

६. अन्ये तु मिथ्यादर्शनादि भावपरिणतो बाह्यात्मा।
—अध्यात्ममत परीक्षा, १२५।

७. अन्नो जीवो अन्नं सरीरं।
—सूत्रकृतांग, २।१।९।

होंगे वहाँ राग-द्वेष होगा और जहाँ राग-द्वेष होंगे वहाँ बन्धन होगा। स्वयं आनन्दघन ने कहा है 'राग दोष जग बंध करत है'—राग-द्वेष ये दोनों संसार को बंधन में डालते हैं और बन्धन पाप है। आनन्दघन भी यही कहते हैं—'बहिरातम अघरूप।' आत्मा की त्रिविध अवस्थाओं में यह प्रथम अवस्था इसीलिए हेय है। दर्शन की भाषा में बहिरात्मवर्ती को चार्वाक मत का अनुयायी या भौतिकवादी कहा जा सकता है, क्योंकि उसका एकमात्र लक्ष्य शरीर ही है। वह भोग को महत्त्व देता है और शरीर को ही सर्वस्व समझता है। कहा है :

यावज्जीवेत् सुखं जीवेत् ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः॥

वस्तुतः बहिरात्मवर्ती जीव वर्तमान पौद्गलिक सुखों को प्राप्त करने में ही जीवन की इतिश्री मानता है। भौतिकता की चकाचौंध में वह आत्मा और शरीर के भेद को नहीं समझ पाता। उसकी यह धारणा रहती है कि 'यह शरीर मेरा है, मैं इसका हूँ। शरीर और शरीरोपयोगी समस्त पदार्थों पर उसकी 'मैं' और 'मेरे पन' की बुद्धि होती है जिसके कारण राग-द्वेष की जड़ें मजबूत होती जाती हैं। ऐसे व्यक्ति की समग्र चेतना मोह से आवृत्त हो जाती है। इसी दृष्टि से आनन्दघन ने बहिरात्मवर्ती जीव को मूढ़ कहा है :

बहिरातम मूढ़ा जग जेता, माया के फंद रहेता।[1]

बाह्य वस्तुओं में आत्मतत्त्व बुद्धि रखने वाले संसार में जितने भी मूढ़ जन हैं, वे सब माया के चक्कर में फँसे हुए हैं।

अब देखना यह है कि आनन्दघन की दृष्टि में मूढ़ जन के क्या-क्या लक्षण हैं? इस बहिरात्म स्थिति में मूढ़जन की दशा और धन के प्रति उसकी आसक्ति का सुन्दर चित्रण करते हुए आनन्दघन कहते हैं :

धन धरती में गाड़ै बौरा, धूरि आप मुख लावै।
मूषक साँप होइगो आखर, तातै अलछि कहावै॥[2]

---

१. आनन्दघन ग्रन्थावली, पद ९७।

२. वही, पद ४।

मूढ़ मानव धन का संरक्षण करने हेतु धन को जमीन में गाड़ता है और उस पर धूल डालता है, किन्तु वस्तुतः वह धन के ऊपर धूल नहीं डाल रहा है, प्रत्युत अपने पर ही धूल डाल रहा है। इसका कारण यह है कि धन के प्रति अत्यधिक मूर्च्छा होने से, वह मर कर उसी धन की रखवाली करनेवाला सर्प, चूहा आदि बनता है। इसीलिए ऐसी सम्पदा को अलक्ष्मी कहा गया है। एक अन्य पद में बहिरात्मवर्ती मूढ़ मानव की विचित्र दशा का वर्णन करते हुए वे कहते हैं कि मूढ़ मानव गर्भावस्था के समस्त कष्टों को विस्मृत कर पुत्र-पत्नी, धन-यौवन आदि को पाकर फूला नहीं समा रहा है और इसी में मस्त होकर जीवन को सफल समझ रहा है। किन्तु आनन्दघन ऐसे मानव पर तीक्ष्ण प्रहार करते हुए कहते हैं कि—

जीउ जानै मेरी सफल घरी।
सुत बनिता धन यौवन मातो, गरभ तणी वेदन बिसरी॥
अति अचेत कछु चेतत नाही, पकरी टेक हारिल लकरी।
आइ अचानक काल तोपची, गहैगौ ज्यूं नाहर बकरी॥
सुपन राज सांच करि राचत, माचत छांह गगन बदरी।
आनन्दघन हीरो जन छारै, नर मोह्यो माया कंकरी॥[१]

हे मूढ़! तू पुत्र-परिवार, धन-दौलत में आसक्त होकर आत्म-विस्मृत हो चुका है और अपनी चोंच में सदैव लकड़ी का टुकड़ा लिए रहने वाले हारिल पक्षी की भाँति तूने भी मोह-माया में फँसे रहने की प्रवृत्ति अपना ली है, लेकिन तुझे यह ज्ञात नहीं है कि जैसे सिंह अकस्मात् बकरी को पकड़ लेता है, वैसे ही कालरूपी तोपची तुझ पर आक्रमण कर देगा। फिर भी, तू स्वप्नावस्था में प्राप्त राज्य की भाँति और आकाश में छाए हुए बादल की तरह धन-यौवन आदि को सत्य मानकर उसी में मग्न हो रहा है। कितना आश्चर्य है कि मूढ़ मानव अनन्त आनन्दमय आत्म-स्वरूप रूप हीरे को छोड़कर कंकर-पत्थर रूप माया-जाल में मोहित हो रहा है। इसी तरह अन्यत्र भी उन्होंने मूढ़ मानव की भारी मूर्खता को प्रदर्शित करते हुए कहा है—

खगपद मीन पद जल में, जो खोजे सो बोरा।[२]

---

१. आनन्दघन ग्रन्थावली, पद ३।

२. वही, पद ९७।

जैसे आकाश में पक्षी के और जल में मछलियों के पदचिह्नों को खोजनेवाला व्यक्ति वस्तुतः मूर्ख समझा जाता है, वैसे ही जड़ वस्तुओं में या पौद्गलिक पदार्थों में सुख की खोज करनेवाला व्यक्ति भी मूर्ख ही है। दूसरे शब्दों में, जैसे पक्षियों के आकाश में और मीन के सरोवर में पदचिह्नों को खोजना निष्फल है, वैसे ही पर-पदार्थों में जो कि क्षणिक हैं, नश्वर हैं, सुख खोजना वृथा है।

प्रश्न होता है—आखिर आत्मा मोह-माया में कबतक उलझा रहता है, इस मोह-माया से छुटकारा कैसे पाया जा सकता है? बहिरात्म-अवस्था से अन्तरात्म-दशा की ओर उन्मुख करानेवाली ऐसी कौन-सी प्रेरक परिस्थितिश्राँ हैं? यहाँ पर उन परिस्थितियों का विवेचन करना अभीष्ट है जो मूढ़ मानव को अन्तरात्म-दशा की ओर प्रेरित करती हैं। यह सही है कि निमित्त कारण के बिना कार्य नहीं होता। जब तक पर-पदार्थों से या शरीर की नश्वरता के प्रति विरक्ति नहीं होगी, तब तक जीव अन्तरात्मवर्ती नहीं हो सकता।

सर्वप्रथम आनन्दघन बहिरात्मवर्ती मूढ़ मानव को अन्तरात्म-दशा की ओर उन्मुख करने हेतु पुद्गल की अनित्यता का बोध कराते हुए चेतावनी देते हैं:

या पुद्गल का क्या विसवासा, है सुपने का वास रे।
चमत्कार बिजली दे जैसा, पानी बिच पतासा॥
या देही का गर्व न करना, जंगल होयगा वासा॥
जूठे तन धन जूठे जोवन, जूठे हैं घर बासा।
आनन्दघन कहे सब ही जूठे, सांचा शिवपुर वासा॥[1]

इस शरीररूप पुद्गल-द्रव्य पर क्या विश्वास करना? इसका वास तो स्वप्नवत् है। आकाश में जैसे—विद्युत् का क्षणिक प्रकाश होता है और पानी में डाला गया बताशा जिस प्रकार अतिशीघ्र समाप्त हो जाता है, उसी प्रकार यह पुद्गल निर्मित शरीर भी क्षणिक है, नश्वर है। इस पर मिथ्या गर्व करना या इसे अपना मानना वृथा है, क्योंकि अन्ततः एक दिन यह नष्ट होने वाला है। तन, धन, यौवन, घर, परिवार आदि जितने भी पर-पदार्थ हैं, वे सब मिथ्या हैं, क्षणिक हैं। यदि कोई सत्य या अविनाशी

१. आनन्दघन ग्रन्थावली, पद १०७।

तत्त्व है तो वह एकमात्र मोक्ष में (स्व-स्वरूप में) निवास करनेवाली आत्मा है। तन-धन-यौवनादि की क्षण-भंगुरता के सम्बन्ध में अन्यत्र भी उन्होंने कहा है।[1] इसी तरह एक अन्य पद में बहिरात्मवर्ती जीव को अज्ञान-दशा से अन्तरात्मा की ओर प्रेरित करते हुए आनन्दघन का कथन है कि—

> औधू क्या सोवे तन मठ में, जागि बिलोकन घट में।
> तन मठ की परतीत न कीजै, ढहइ परै एक पल में।
> हलचल मेटि खबरि लै घट की, चिन्है रमता जल में॥[2]

अर्थात् हे आत्मन्! इस देहरूपी मठ में क्यों सो रहा है? अज्ञान निद्रा अर्थात् बहिरात्म-अवस्था से विमुख हो और जाग्रत अवस्था (अन्तरात्म-अवस्था) में स्थित होकर अपने भीतर देख। शरीररूपी मठ में तू बड़ी ही निश्चिन्तता से सो रहा है, किन्तु इस पर विश्वास करना उचित नहीं है, क्योंकि यह एक क्षण में ढह जानेवाला है। अतः सम्पूर्ण सांसारिक क्रिया-कलाप रूप हल-चल को छोड़कर अन्तरात्मा में स्थित होकर हृदय में स्व-स्वरूप का अवलोकन कर। इस हृदयरूपी सरोवर में रमण करने वाले आत्माराम को पहचान।

इस नश्वरता को देखकर उन्होंनें मूढ़ मानव को सजग करते हुए फिर कहा है कि अरे भोले मानव! मोह-निद्रा (बहिरात्म-दशा) में क्या सो रहा है? यदि जीवन में कुछ पाना है तो मोह-निद्रा से जागृत हो और देख, आयु अंजलिगत-जल की भांति अबाधगति से क्षीण होती जा रही है। प्रत्येक पहरेदार घण्टा बजाकर यही चेतावनी देता है कि जो घड़ी बीत गई है, वह कभी लौट कर आनेवाली नहीं है। इस संसार से इन्द्र, चन्द्र, धरणेन्द्र यहां तक कि तीर्थंकर को भी विदा होना पड़ा तो फिर राजा, सम्राट् और चक्रवर्ती किस गणना में हैं? ये सब महापुरुष इस दुनिया से चल बसे तो फिर तू किस खेत की मूली है? भव-समुद्र में भटकते-भटकते पुण्योदय से यह मनुष्य-जन्म और परमात्म-भक्तिरूप सहज नौका हाथ लग गई है, तो अब अविलम्ब इस विषय-वासनारूप सागर से पार हो जा

---

१. तन धन जोबन सब ही झूठो, प्राण पलक में जावै।
तन छुटै धन कौन काम को, कायकूं कृपण कहावै॥
—आनन्दघन ग्रन्थावली, पद ८४।

२. वही, पद ५७।

केवल चैतन्य-स्वरूप उस शुद्ध निरंजन परमात्मा का ध्यान कर जिससे तू भी परमात्मा बन जाय।[1]

उपर्युक्त तथ्यों के प्रकाश में, संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि आनन्दघन ने बहिरात्मवर्ती मोह मूढ़ मानव की दशा का मार्मिक चित्र खींचा है तथा बहिरात्मवर्ती जीव को अन्तरात्म-दशा की ओर अभिमुख करने के लिए पुद्गल की अनित्यता, शरीर की नश्वरता, क्षणभंगुरता आदि का सम्यक् बोध कराया है।

यह सत्य है कि जब साधक को शरीर की अनित्यता की प्रतीति हो जाती है, तब अन्तर्दृष्टि जागृत हो जाती है अर्थात् जीव बहिरात्मभाव से हटकर अन्तर्मुखी बन जाता है। जैसे ही भेद-विज्ञान या आत्म-अनात्म का विवेक जागृत होता है, बहिरात्म-अवस्था समाप्त हो जाती है।

अब प्रश्न उठता है कि अन्तरात्मा का लक्षण क्या है? उसे कैसे पहचाना जा सकता है? अन्तरात्मा का लक्षण आनन्दघन ने इस प्रकार प्रकार दिया है :

कायादिक नो साखीधर कह्यो, अन्तर आतम भूप सुज्ञानी।[2]

---

१. क्या सोवै उठि जाग बाउरे।
अंजलि जल ज्यूं आउ घटतु है, देत पहरिया घरी घाउ रे।
इंद्र चंद्र नागिंद मुनिंद चले, कौन राजा पतिसाह राउ रे।
भ्रमत-भ्रमत भव जलधि पाई तैं, भगवंत भगति सुभाव नाउ रे।
कहा विलंब करै अब बोरे, तरि भव-जल-निधि पार पाउ रे।
आनन्दघन चेतनमय मूरति, सुद्ध निरंजन देव ध्याउ रे॥
—आनन्दघन ग्रन्थावली, पद १।

२. आनन्दघन ग्रन्थावली, सुमति जिन स्तवन।
तुलनीय—(क) अंतरप्पा हु अप्प संकप्पो—मोक्ष-प्राभृत, ५।
(ख) [illegible] गाथा १९४-९५-९६-९७-९८।
(ग) चित्त दोषात्म विभ्रान्तिः आन्तरः।—समाधितंत्र, ५।
(घ) योगसार, गाथा ८ एवं परमात्म-प्रकाश।
(ङ) ज्ञानार्णव, श्लो० ७।
(च) कायादेः समधिष्ठायको भवत्यन्तरात्मातु।
—योगशास्त्र, एकादश प्रकाश, ७।
(छ) अध्यात्म-रहस्य, गाथा ५।
(ज) ब्रह्मविलास, परमात्म छत्तीसी, पृ० २२७।
(झ) सम्यग्दर्शनादि परिणतस्त्वन्तरात्मा।
—अध्यात्ममतपरीक्षा, १२५।

अन्तरात्मा का मुख्य लक्षण है—वह, जो शरीर तथा शरीर से सम्बद्ध सर्व पदार्थों एवं समग्र प्रवृत्तियों में, ममत्व-बुद्धि का त्याग कर उन सबका साक्षी-ज्ञाता-द्रष्टा बनकर रहता है। इसीलिए अन्तरात्मा को शरीर का राजा कहा गया है। अन्तरात्मा बहिरात्मा से सर्वथा पृथक् होता है। यद्यपि अन्तरात्मवर्ती जीव शरीर में रहता है, फिर भी वह उससे चिपका नहीं रहता। वह शरीर को परमात्मा की प्राप्ति का एकमात्र साधन मान कर चलता है, साध्य नहीं। इतना ही नहीं, वह शरीर के भीतर रह कर भी शरीर का ज्ञाता-द्रष्टा होकर रहता है। उसके प्रति ममत्व-बुद्धि नहीं रखता। वह संसार की यथोचित प्रवृत्तियाँ करते हुए भी कमलपत्रवत् निर्लिप्त रहता है। इस अवस्था में साधक की चिन्तन-धारा बदल जाती है। उसे यह स्पष्ट बोध हो जाता है कि 'शरीर विनाशी है, मैं अविनाशी हूँ'—जब यह सत्य स्पष्ट अनुभव में आता है कि 'मैं शरीर से भिन्न हूँ' तब साधक की आसक्ति (ममत्व-बुद्धि) पर इतना तीव्र प्रहार होता है कि मोह का किला ढह जाता है, क्योंकि मोह का उद्गम-स्थल शरीर माना गया है। जब शरीर और आत्मा को एक मानने की भ्रान्ति टूट जाती है तो भेद-विज्ञान प्रकट हो जाता है। इस सम्बन्ध में आनन्दघन का यह अनुभव द्रष्टव्य है :

देह विनाशी, हूँ अविनाशी, अपनी गति पकरेंगे।
नासी जासी हम थिरवासी, चोखे ह्वै निखरेंगे ॥[1]

शरीर विनाशशील है और मैं (आत्मा) अविनाशी हूँ। आत्मतत्त्व से भिन्न पुद्गल निर्मित इस शरीर का नाश हो जायगा किन्तु आत्मा स्थिर, अमर रहेगा। वस्तुतः आनन्दघन की यह आत्मानुभूति इस बात की प्रतीक है कि वे भेद-विज्ञानी थे। भेद-ज्ञान होने पर साधक का जीवन के प्रति सारा दृष्टिकोण ही बदल जाता है। शरीरादि की आसक्ति टूटने लगती है और शुद्धात्म-सूर्य का उदय हो जाता है। उसकी दृष्टि सम्यक् हो जाती है अर्थात् उसे सम्यग्दर्शन की प्राप्ति हो जाती है। वास्तव में, अन्तरात्मा को पहचानने का यही एक महत्त्वपूर्ण लक्षण है। इस सम्बन्ध में आनन्दघन कहते हैं कि हे अवधू ! आत्मा और शरीर की पृथक्ता का बोध हो जाने से अब मेरी अनुभव-ज्ञानरूप (सम्यग्दर्शनरूप) कली विकसित हो

१. आनन्दघन ग्रन्थावली, पद १००।

गई है, इससे अन्तरात्म बुद्धि स्व-स्वरूप में रमण करने लगी है। अब आत्म-भाव के अतिरिक्त अन्य किसी पर-पदार्थ में मेरी बुद्धि नहीं जाती। अन्तरात्मा ने वहिरात्मा की विवशताओं के बन्धन को तोड़कर माया-दासी तथा उसके समूचे परिवार को कुछ समय तक अपने अधीन कर लिया है।

यद्यपि संसार के समस्त प्राणी जन्म, जरा और मृत्यु के वशीभूत हैं, फिर भी, मोह मूढ़ मानव क्षुद्र पौद्‌गलिक पदार्थों के प्रति इतनी ममता रखता है। इस बात को एक दृष्टान्त देकर आनन्दघन ने समझाया है—

दे ढव कांई न बाग में मीयां, किस पर ममता ऐसी।

बगीचे में एक मियाँ साहब नीम की निंबौली एकत्र कर रहे थे। इसी अवसर पर संयोग से कोई व्यक्ति मियाँ साहब के घर पहुँचा और उसने उनकी बीबी से पूछा—मियाँ साहब कहां गये हैं? प्रत्युत्तर मिला—बाग में गये हैं। जबकि मियाँ साहब बाग में पहुंच कर भी तुच्छ-वस्तु निंबौली इकट्ठी कर रहे हैं और उसी में आनन्द मान रहे हैं। मियाँ की भाँति सांसारिक जीव भी संसार के निस्सार पदार्थों में सुख मान रहा है। किन्तु पौद्‌गलिक पदार्थों में इसी ममत्व बुद्धि रखना कहां तक उचित है? इसके विपरीत सम्यग्दर्शन को प्राप्त अन्तरात्मवर्ती जीव को यह आत्म-अनुभव-ज्ञान हो जाता है कि आत्मा ज्ञानस्वरूप है, आनन्द स्वरूप है और शरीर रोगों का और मन शोक-सन्ताप का घर है। अतः वह शरीर में रहते हुए भी ज्ञाता-द्रष्टा भाव में स्थित होकर देह और मन का नाटक देखता रहता है और इस प्रकार अपने ज्ञानानन्दस्वरूप में रमण करता है। भेद ज्ञान होने पर अन्तरात्मवर्ती जीव पर निन्दा-स्तुति आदि लोकापवाद का कुछ असर नहीं होता। वह तो केवल अनुभव-ज्ञान में लीन होकर स्व-स्वरूप का साक्षात्कार करता है।[1]

---

१. अवधू! अनुभव कलिका जागी, मति मेरी आतम सुमिरन लागी।
जाइ न कबहु और ढिग नेरी, तोरी बनिता बेरी।
माया चेरी कुटंब करी हाथे, एक डेढ़ दिन घेरी॥
जामन मरन जरा बसि सारी, असरन दुनियां जेती।
दे ढबकांई न बाग में मीयां, किस पर ममता ऐती॥
अनुभव रस में रोग न सोगा, लोकवाद सब मेटा।
केवल अचल अनादि अबाधित, शिवशंकर का भेटा॥
बरसा बूंद समुंद समानै, खबरि न पावै कोई।
आनन्दघन ह्वै जोति समावै, अलख लखावै सोई॥
—आनन्दघन ग्रन्थावली, पद ६०।

इस प्रकार साधक बहिरात्मा के विमुख एवं अन्तरात्मा में स्थित होकर परमात्म-स्वरूप का चिन्तन करता हुआ एक दिन स्वयं परमात्म-अवस्था को प्राप्त कर लेता है।

अन्तरात्म-दशा की ओर अभिमुख होने का सबसे पहला लक्षण है—आत्मा और शरीर का भेद-ज्ञान। आवश्यक निर्युक्ति में कहा गया है कि 'यह शरीर अन्य है, आत्मा अन्य है। साधक इस तत्त्व-बुद्धि के द्वारा दुःख एवं क्लेशजनक शरीर की ममता का त्याग करे।'[1] अन्तरात्मा की ओर उन्मुख होने पर परमात्म-प्राप्ति के लिए एक उर्वर भूमि तैयार हो जाती है। किंतु प्रश्न यह है कि अन्तरात्मा से परमात्म-अवस्था तक पहुँचने का उपाय क्या है? परमात्म-दशा का लक्षण क्या है? इस सम्बन्ध में आनन्दघन ने परमात्म-स्वरूप का वर्णन इस प्रकार किया है :

ज्ञानानंदे हो पूरण पावनों, वर्जित सकल उपाध सुज्ञानी।
अतीन्द्रिय गुण-गण-मणि आगरु, इस परमातम साध सुज्ञानी ॥[2]

---

१. अन्नं इमं सरीरं, अन्नो जीवुत्ति एव कय बुद्धि।
दुक्ख-परिकिलेस करं, छिदं ममत्तं सरीराओ।
—आवश्यक निर्युक्ति, १५४७।

२. आनन्दघन ग्रन्थावली, सुमति जिन स्तवन।
तुलनीय—(क) कम्मकलंक विमुक्को परमप्पा भणणए देवो।
—मोक्ष-प्राभृत, ५।
(ख) स्वामिकार्त्तिकेयानुप्रेक्षा, १९८।
(ग) परमात्माऽति निर्मलः।
—समाधि तंत्र, ५।
(घ) योगसार, ९ एवं परमात्म-प्रकाश, १५।
(ङ) ज्ञानार्णव, ८।
(च) चिद्रूपानंद मयो निःशेषोपाधिवर्जितः शुद्धः।
अत्यक्षोऽनंतगुणः परमात्मा कीर्तितस्तज्ज्ञैः ॥
—योगशास्त्र, एकादश प्रकाश, ८।
(छ) ब्रह्मविलास, परमात्म छत्तीसी, पृ० २२७।
(ज) केवलज्ञानादि परिणतस्तु परमात्मा।
—अध्यात्ममत परीक्षा, १२५।

जो अनन्त ज्ञान के आनन्द से परिपूर्ण और परम पवित्र है, समस्त उपाधियों से मुक्त है, साथ ही जो इन्द्रियातीत और अनन्त गुण रूप मणियों का भण्डार है वह परमात्मा है। अन्त में उन्होंने 'इस परमातम साध सुज्ञानी' कहकर उक्त लक्षण से युक्त परमात्म-अवस्था को प्राप्त करने पर बल दिया है।

इस प्रकार, उपर्युक्त आत्मा की तीनों अवस्थाओं के स्वरूप एवं लक्षणों का निर्देश करने के पश्चात् आनन्दघन परमात्म-दशा की प्राप्ति का उपाय बताते हुए कहते हैं :

बहिरातम तजि अन्तर आतमा, रूप थई थिर भाव सुज्ञानी।
परमातम नुं हो आतम भाव वुं, आतम अरपण दाव सुज्ञानी ॥[1]

यहां आनन्दघन का स्पष्ट कथन है कि आत्म-समर्पण ही वास्तव में परमात्म-प्रप्ति का सबसे सरल उपाय है। इसकी शर्त यही है कि साधक बहिरात्म भाव को छोड़े। बहिरात्म भाव का त्याग कर अन्तरात्म भाव में अर्थात् ज्ञाता-द्रष्टा भाव में स्थित रहकर परमात्म-स्वरूप का चिन्तन करे। इस प्रकार, बहिरात्मा का विसर्जन तथा परमात्मा में अन्तरात्मा का समर्पण कर परमात्म-अवस्था को प्राप्त करे। यही परमात्म-प्राप्ति का सच्चा उपाय है। यहां आनन्दघन ने बहिरात्मा को परमात्म-प्राप्ति में बाधक, अन्तरात्मा को परमात्म-दशातक पहुँचने का साधन तथा परमात्मा को अपना साध्य माना है। यह मनोवैज्ञानिक सत्य है कि मनुष्य अपनी अपूर्णता से छुटकारा पाना चाहता है। वस्तुतः बहिरात्म-दशा हमें अपनी अपूर्णता का बोध कराती है, अन्तरात्म-दशा हमारे अन्तर में निहित पूर्णता की चाह की परिचायक है और तीसरी परमात्म-दशा पूर्णता को द्योतित करती है।

आनन्दघन द्वारा प्रतिपादित आत्मा की त्रिविध अवस्थाएँ साधक के आध्यात्मिक विकास को समझने की पद्धति हैं। आध्यात्मिक विकास की दृष्टि से चौदह गुणस्थानों का विधान जैन-सिद्धान्त की विशेषता है। आत्मा की त्रिविध अवस्थाएँ भी विकास की तीन मंजिलें हैं। इन त्रिविध अवस्थाओं की तुलना जैनदर्शन में वर्णित चौदह गुणस्थानों से की जा सकती है। प्रथम बहिरात्म-अवस्था पहले गुणस्थान से तृतीय गुणस्थान

१. आनन्दघन ग्रन्थावली, सुमति जिन स्तवन।

तक रहती है, दूसरी अन्तरात्म-अवस्था चतुर्थ-गुणस्थान से बारहवें गुणस्थान तक रहती है और तीसरी परमात्म-अवस्था तेरहवें और चौदहवें गुणस्थान में होती है। अभिधान राजेन्द्रकोश में कहा गया है कि जो शरीर को ही आत्मा मानता है एवं सर्व पौद्‌गलिक पदार्थों में ममत्व बुद्धि रखता है, वह बहिरात्मा है। जो संसार में रहकर भी आत्मा में, ज्ञानादि उपयोग लक्षण में जागरूक रहता है वह अन्तरात्मा है और जो केवल-ज्ञान और केवल-दर्शन से युक्त है, वह परमात्मा है।[1]

निद्रा, स्वप्न, जाग्रत् और तुरीय

आत्मा की द्विविध एवं त्रिविध अवस्थाओं के क्रम में जीव की चार अवस्थाओं पर विचार कर लेना भी आवश्यक है, क्योंकि सन्त आनन्दघन ने आत्मा की चार अवस्थाओं पर भी प्रकाश डाला है।

सामान्यतः जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीय-आत्मा की ये चार अवस्थाएँ औपनिषदिक-चिन्तन में बहुचर्चित हैं। माण्डूक्योपनिषद्[2] एवं सर्वसारोपनिषद्[3] में आत्मा की उक्त अवस्थाओं की विशद चर्चा है। योगवासिष्ठ[4] में भी इन अवस्थाओं का वर्णन किया गया है।

१. अभिधान राजेन्द्र कोश, भाग २, पृ० १८८-१८९।

२. माण्डूक्योपनिषद्, २-१२

३. मन आदि चतुर्दशकरणैः पुष्कलैरादित्याद्यनुगृहीतैः शब्दादीन्विषयान्-स्थूलान्यदोपलभते तदात्मनो जागरणं, तद्वासना रहितश्चतुर्भिः करणैः शब्दाद्यभावेऽपि वासनामयाञ्छब्दादीन्यदोपलभते तदात्मनः स्वप्नम्। चतुर्दशकरणोपरमाद्विशेषविज्ञानाभावाद्यदातदात्मनः सुषुप्तम् ॥ १ ॥ अवस्थात्रय भावाद्भावसाक्षि स्वयं भावाभाव रहितं नैरन्तर्यं चैक्यं यदा तदा तत्तुरीयं चैतन्यमित्युच्यतेऽन्न कार्याणं षण्णां कोशानां समूहोऽन्नमयः कोश इत्युच्यते ॥

—सर्वसारोपनिषद् (३५)।

४. जाग्रत्स्वप्न सुषुप्ताख्यं त्रयं रूपं हि चेतसः ॥ (६/१।१२४।३६)
घोरं शान्तं मूढं च आत्मचितमिहास्थितम्।
घोरं जाग्रन्मयं चित्तं शान्तं स्वप्नमयं स्थितम् ॥ (६/२।१२४।३७)
मूढं सुषुप्त भावस्थं त्रिभिर्हीनं मृतं भवेत्।
यच्च चित्तं मृतं तत्र सत्त्वमेकं स्थितं समम् ॥ (६/१।१२४।३८)

यद्यपि प्राचीन जैनागमों में स्पष्टतः जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति एवं तुरीय इन चार अवस्थाओं का निर्देश नहीं मिलता, फिर भी, आचारांग सूत्र में जाग्रत् एवं सुषुप्त (प्रसुप्त) इन दो अवस्थाओं की झलक अवश्य पाई जाती है। उसमें कहा गया है कि जहाँ अज्ञानी जन सुप्त हैं वहां ज्ञानी जन सदैव जाग्रत् हैं।[1] यहाँ प्रमत्त आत्मा को सुषुप्त और अप्रमत्त आत्मा को जाग्रत् कहा गया है। आगे चलकर इसका विकसित रूप परवर्ती साहित्य में देखने को मिलता है। आचारांग की भाँति आचार्य कुन्दकुन्द ने मोक्ष-प्राभृत[2] में, आचार्य पूज्यपाद ने समाधि-शतक[3] में और योगीन्दु मुनि ने परमात्म-प्रकाश[4] में सुषुप्त और जाग्रत् इन दो अवस्थाओं की चर्चा की है। गीताकार ने भी इस तथ्य को अभिव्यक्त किया है।[5]

हमारी जानकारी में जैन-धर्म में आत्मा की चार अवस्थाओं का चित्रण सन्मति के टीकाकार मल्लवादी ने 'द्वादशारनयचक्र' में सर्वप्रथम किया है। उसमें चेतन (आत्मा) की चार अवस्थाएँ बतलायी गयी हैं—

अहं भावानहं भावौ त्यक्त्वा सदसती तथा।
यदसक्तं समं स्वच्छं स्थितं तत्तुर्यमुच्यते ॥ (६/१।१२४।२३)
—योगवासिष्ठ, उद्धृत, योगवासिष्ठ और उसके सिद्धान्त, पृ० २७५-२७८।

१. सुत्ता अमुणी सया, मुणिणो सया जागरन्ति।
—आचारांग, ३।१।१

२. जो सुत्तो ववहारे सो जोई जग्गए सकज्जम्भि।
जो जग्गदि ववहारे सो सुत्तो अप्पणो कज्जे ॥
—मोक्ष-प्राभृत गाथा, ३१।

३. व्यवहारे सुषुप्तो यः स जागर्त्यात्मगोचरे।
जागर्ति व्यवहारेऽस्मिन् सुषुप्तश्चात्मगोचरे ॥
—समाधितंत्र, श्लो० ७८।

४. जा णिसि सयल हं देहि यहं जोग्गिउ तहिं जग्गइ।
जहिं पुणु जग्गइ सयलु जगु सा णिसि मणिवि सुवेइ ॥
—परमात्म-प्रकाश, अ० २, गाथा ४६।

५. या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि, सा निशा पश्यतो मुनेः ॥
—गीता, २।६९

(१) जाग्रत्, (२) स्वप्न (सुप्त), (३) सुषुप्त और (४) तुरीय।[1] प्रकारान्तर से सन्त आनन्दघन ने भी उक्त चारों अवस्थाओं का वर्णन किया है :

निद्रा सुपन जागर उजागरता, तुरीय अवस्था आवी।
निद्रा सुपन दशा रिसाणी, जाणि न नाथ मनावी हो ॥[2]

निद्रावस्था, स्वप्नावस्था, जाग्रतावस्था और उजागर (तुरीय) इन अवस्थाओं में से परमात्मा को उजागर अर्थात् तुरीय-दशा प्राप्त हो गई। जैन-दर्शन में उजागर से अभिप्राय केवल ज्ञान-दर्शनमय अवस्था है। आनन्दघन का कथन है कि परमात्मा में उजागर-दशा प्राप्त होने से पूर्व की निद्रा तथा स्वप्न अवस्थाएँ समाप्त हो गईं। ये कुपित होकर चली गईं किन्तु परमात्मा ने उन्हें कुपित होते हुए देखकर भी आश्रय नहीं दिया।

वीतराग परमात्मा सदैव उजागर-दशा में रहते हैं जबकि संसार के समस्त जीवों में प्रारम्भ की तीन अवस्थायें रहती हैं जिनका अनुभव प्रतिदिन के व्यवहार में होता है। चूंकि, संसारी जीव कर्म-प्रकृतियों से आबद्ध है, अतः दर्शनावरणीय कर्म के उदय के कारण निद्रा, स्वप्न आदि दशा का अनुभव होता है। आनन्दघन ने उक्त पंक्तियों में 'निद्रा' शब्द का प्रयोग कर कर्मवाद के रहस्य को उद्घाटित किया है। यह उनकी अपनी विलक्षणता है। औपनिषदिक ग्रन्थों में 'निद्रा' शब्द के स्थान पर 'सुषुप्त' शब्द का प्रयोग हुआ है। दूसरी अवस्था स्वप्न-दशा है जिसमें जीव को अनेकविध स्वप्न आते हैं। स्वप्न-दशा अर्धनिद्रित और अर्धजाग्रत् अवस्था है जिसमें व्यक्ति का शरीर सोता है किन्तु मन जागता है और वह विविध कल्पनाओं की विविध अनुभूतियाँ करवाता है। निद्रा और स्वप्न इन दो अवस्थाओं के अतिरिक्त तीसरी जाग्रत् अवस्था है। यह आत्म-चेतना की अवस्था है। जब जीव प्रयासपूर्वक ज्ञाता-द्रष्टा भाव में स्थित होता है तो अप्रमत्त या जाग्रत् कहा जाता है। यह जाग्रतावस्था निद्रावस्था की बिल्कुल

१. तस्य चतस्रोऽवस्था जाग्रत्-सुप्त-सुषुप्त-तुरीयान्वर्थाख्याः एताश्च बहुधा व्यवतिष्ठन्ते।
(तस्येति) तस्य-अनन्तर प्रतिपादित चैतन्यतत्त्वस्येमाश्चतस्रोऽवस्थाः जाग्रत्सुप्तसुषुप्ततुरीयान्वर्थाख्याः। जाग्रदवस्था, सुप्तावस्था, सुषुप्तावस्था, तुरीयावस्था एताश्चान्वर्थाः।
—द्वादशारनयचक्र, पृ २१८-२२०। प्रथम विभाग।

२. आनन्दघन ग्रन्थावली, मल्लिजिन स्तवन।

विपरीत है। चौथी तुरीयावस्था है जिसे जैन-मत के सभी सन्तों ने प्रायः उजागर-दशा के नाम से सम्बोधित किया है। जैनदर्शन के अनुसार तुरीयावस्था में सतत जागृति होती है। जाग्रत् और उजागर (तुरीय) दशा में मुख्य अन्तर यह है कि जहाँ जाग्रत् अवस्था अन्तर्मुहूर्त से अधिक एक साथ नहीं रहती, वहाँ उजागर-दशा सदैव बनी रहती है, नष्ट नहीं होती। दूसरे, जाग्रत् अवस्था सप्रयास होती है, जबकि उजागरता सहज होती है।

उपर्युक्त चार अवस्थाओं के सम्बन्ध में विंशतिका में यह बतलाया गया है कि मोह अनादि-निद्रा है, भव्य-बोधि परिणाम स्वप्न-दशा है। तीसरी जाग्रत्-दशा अप्रमत्त मुनियों को होती है, जैसा कि आचारांग में उल्लिखित है और चौथी उजागर-दशा वीतराग-परमात्मा को प्राप्त होती है।[1]

जीव की उक्त अवस्थाओं को गुणस्थानों में घटाते हुए आनन्दघन के समकालीन उपाध्याय यशोविजय ने कहा है कि वस्तुतः चेतना की चार अवस्थाएँ होती हैं। पहली बहुशयन-दशा अर्थात् घोर निद्रा जैसी दशा। दूसरी शयनदशा (स्वप्न दशा)। तीसरी जागरण-दशा (जाग्रत् दशा) अर्थात् कुछ जागने रूप और चौथी बहुजागरण दशा। बहुशयन-दशा पहले गुणस्थान से तीसरे गुणस्थान तक होती है। शयन-दशा चौथे गुणस्थान से छठे गुणस्थान तक होती है। जागरण-दशा सातवें गुणस्थान से बारहवें गुणस्थान तक और बहुजागरण-दशा तेरहवें और चौदहवें गुणस्थान में होती है।[2]

इस प्रकार, संक्षेप में, यह कहा जा सकता है कि जीव की उक्त चारों अवस्थाएँ आध्यात्मिक विकास की परिचायक हैं। जाग्रत् अवस्था में व्यक्ति चर्मचक्षुओं से समूचे पदार्थों को यथावस्थित रूप में देख सकता है, किन्तु सुषुप्त अवस्था में (जिसे आनन्दघन की शब्दावली में निद्रावस्था कहा

१. मोहो अणाइ निद्दा सुवणदसा भव्वबोहि परिणामो।
अपमत्त मुणी जागर, जागर, उजागर वीयराउत्ति ॥
—विंशतिका, उद्धृत-अध्यात्म-दर्शन, पृ० ४०७।

२. चार छे चेतनानी दशा, अवितथा बहुशयन शयन जागरण चौथी तथा।
मिच्छ, अविरत, सुयत तेरमे तेहनी, आदि गुण ठाणे नयचक्र मांहे मुणी ॥
—३५० गाथानुंस्तवन, ढाल १६ वीं, गाथा २।

गया है) व्यक्ति गाढ़ निद्रा का अनुभव करता है, इसमें देखी सुनी हुई किसी भी वस्तु को वह नहीं देख पाता है। स्वप्न-दशा में व्यक्ति जाग्रत् अवस्था में देखे हुए पदार्थों का अवलोकन करता है। तुरीयावस्था में (जिसे जैन-परम्परा में उजागर, बहुजागरण दशा, केवलावस्था या समाधि-अवस्था के नाम से अभिहित किया गया है) समग्र सांसारिक भाव समाप्त होकर स्व स्वरूप की जागृति हो जाती है। कहने का तात्पर्य यह कि तुरीयावस्था केवल तीर्थंकर और सिद्ध जीवों में होती है, क्योंकि उन्होंने ज्ञानावरणीय कर्म के साथ दर्शनावरणीय कर्म की समस्त प्रकृतियों का क्षय कर दिया है। तुरीयावस्था के प्राप्त होने पर निद्रा, स्वप्न तथा जाग्रत् ये तीनों अवस्थाएँ तिरोहित हो जाती हैं। इस अवस्था में आत्मा केवल ज्ञान एवं केवल दर्शन से युक्त होकर स्व-स्वभाव में रमण करता है। वह मात्र ज्ञाता-द्रष्टा (साक्षी) होता है।

बन्धन (दुःख) और उसका कारण

अब तक हमने आत्मा के स्वरूप, आत्मा की विभिन्न अवस्थाएँ आदि आत्मतत्त्व सम्बन्धी विचारधाराओं का अवलोकन किया। उपर्युक्त विवेचन से यह तो स्पष्ट हो गया कि स्वभावतः आत्मा ज्ञान-दर्शन आदि गुणों से युक्त है, किन्तु वर्तमान में कर्मावरण के कारण उसके ये गुण पूर्ण रूप में प्रकट नहीं हैं। वह इस संसार में अनादिकाल से परिभ्रमण कर रहा है और जन्म, जरा और मृत्यु के दुःख भोग रहा है।

सामान्यतया संसार के सभी प्राणियों में स्वाभाविक रूप से दुःखों से बचने की प्रवृत्ति पाई जाती है, जिसे मनोवैज्ञानिक भाषा में मूलप्रवृत्ति कहा गया है। मनुष्य के सारे प्रयत्न इसी दिशा में हो रहे हैं। सामान्यतः जन्म, जरा, रोग और मृत्यु दुःख माने गए हैं और इन्हीं से मानव मुक्त होना चाहता है। उत्तराध्ययन में तो स्पष्टतः कहा गया है :

> जम्म दुक्खं जरा दुक्खं, रोगा य मरणाणि य।
> अहो दुक्खो हु संसारो, जत्थ की सन्ति जंतुणो ॥[1]

अर्थात् जन्म दुःखमय है, जरा दुःखमय है, रोग और मृत्यु दुःखमय है, यह संसार ही दुःखमय है, जिसमें प्राणी निरन्तर कष्ट पाते रहते हैं। इसी

---

१. उत्तराध्ययन सूत्र, १९।१६

तरह बुद्ध की यह उक्ति भी प्रसिद्ध ही है कि 'यदनिच्चं तं दुक्खं'[१]—जो अनित्य है वह दुःख है। वस्तुतः जन्म, जरा और मृत्यु के चक्र में परिभ्रमण करना ही बन्धन या दुःख कहा गया है। आश्चर्य तो यह है कि जीव बन्धन से तो मुक्त होना चाहता है, किन्तु बन्धन क्या है और उसके कारण क्या है इससे सर्वथा अनभिज्ञ है। यदि जीवन में दुःख है तो उसका कारण अवश्य होगा, क्योंकि कारण के बिना कार्य की उत्पत्ति होती ही नहीं। इस कारण-कार्य के सिद्धान्त की पुष्टि में आनन्दघन का कथन है :

कारण जोगे हो कारज नीपजै, एमां कोई न वाद।
विण कारण विण कारज साधिए, ते निज मति उन्माद ॥[१]

किसी योग्य कारण से ही कार्य की उत्पत्ति होती है। इसमें तनिक भी सन्देह नहीं, क्योंकि यह एक न्यायशास्त्रीय सिद्धान्त है। किन्तु बिना कारण के ही यदि कोई व्यक्ति कार्य की सिद्धि मान ले तो यह उसकी बुद्धि का उन्माद है। यही बात आत्मा के बन्धन (दुःख) पर भी लागू होती है। बिना कारण के बन्धन (दुःख) रूप कार्य की उत्पत्ति नहीं हो सकती। यह सर्वविदित है कि आत्मा, अनादिकाल से बद्ध है, लेकिन उस बन्धन से मुक्त होने के लिए सर्वप्रथम यह जानना नितान्त आवश्यक है कि बन्धन क्या है और उसके हेतु क्या हैं?

ऐसा प्रतीत होता है कि भगवान् बुद्ध ने भी उक्त प्रश्नों को दृष्टि में रखते हुए चार आर्य सत्यों का उपदेश किया। उसमें सर्वप्रथम यह बताया कि दुःख क्या है, फिर दुःख-समुदय अर्थात् दुःख के कारण, दुःख-निरोध तथा दुःखनिवृत्ति के उपाय बताए। इसी तरह जैनाचार्यों ने भी कर्म-बन्धन का स्वरूप, कर्म-बन्धन के कारण, कर्म-बन्धन से मुक्ति (निरोध) और कर्म-बन्धन से मुक्ति के उपायों का सूक्ष्म एवं गहन विश्लेषण किया है।

सन्त आनन्दघन ने भी जैनदर्शन सम्मत कर्म मीमांसा का पद्मप्रभ जिन स्तवन में संक्षिप्त किन्तु सारगर्भित विवेचन किया है। एक ओर, जहां उन्होंने आत्म-तत्त्व की गहन मीमांसा की है, वहीं जैनदर्शन के कर्म-सिद्धान्त को भी अपनी दृष्टि से ओझल नहीं किया। जहाँ उन्होंने आत्मा-

---

१. यदनिच्चं तं दुक्खं, यं दुक्खं तदनत्ता।
यदनत्ता तं नेतं मम, ने सो हमस्मि न मेसो अत्ता ॥
—संयुत्त निकाय, ४।३५।१

परमात्मा का सम्यक् विवेचन किया है, वहीं कर्म-सिद्धान्त का रहस्य भी खोल दिया है। यदि आत्मवाद को उनके रहस्यवादी दर्शन की नींव कहें तो कर्मवाद को उनके दर्शन की भित्ति कहना अनुचित नहीं होगा जिस पर उन्होंने मुक्ति महल खड़ा किया है।

सामान्यत: प्रत्येक आत्मा कर्म के संयोग से आबद्ध है। उसका कर्मों से आबद्ध होने का मूल कारण शारीरादि पौद्गलिक पदार्थों के प्रति आसक्ति-तृष्णा है। कर्मवाद को जानने का अर्थ है—बन्धन की प्रक्रिया को समझना। आनन्दघन के समक्ष मूल प्रश्न यह है कि यदि 'आत्मा ही परमात्मा है' तो फिर आत्मा और परमात्मा के बीच पार्थक्य क्यों है? किस कारण से आत्मा अपने परमात्म-स्वरूप से वंचित है? परमात्म-स्वरूप को प्रकट होने से रोकनेवाले कौन-से ऐसे बाधक विजातीय तत्त्व (कारक) हैं जो आत्मा की स्वाभाविक शक्ति पर आवरण डाले हुए हैं। उक्त प्रश्नों के समाधान हेतु वे स्वयं जिज्ञासा वृत्ति से पद्मप्रभ परमात्मा से पूछते हैं:

पद्मप्रभ जिन तुझ मुज आंतरूं रे, किम भांजे भगवंत।
कर्म विपाक कारण जोइनेरे, कोई कहे मतिमंत॥[1]

आत्मा और परमात्मा के बीच दूरी का कारण क्या है और उस दूरी को कैसे मिटाया जा सकता है? इस प्रश्न का उत्तर बुद्धिमान् पुरुषों ने इस प्रकार दिया कि आत्मा और परमात्मा के बीच दूरी का कारण केवल कर्म है। कर्म आत्मा और परमात्मा के बीच अलगाव पैदा करते हैं। कर्म ही आत्मा का बन्धन है। आचारांग निर्युक्ति में भी कहा है: "संसारस्स उ मूलं कम्मं, तस्स वि हुंति य कसाया"[2]—अर्थात् संसार का मूल कर्म है और कर्म का मूल कषाय है। यह कर्म-विपाक दो प्रकार का है—सुख रूप कर्मविपाक और दु:खरूप कर्मविपाक। आचारांग में कहा गया है कि 'कम्मुणा उवाही जायइ'[3]—कर्म से ही समस्त उपाधियाँ (दु:ख) पैदा होते हैं। अत: कर्म-मल का अभाव होने पर ही आत्मा और परमात्मा के बीच का अन्तर समाप्त हो सकता है। कर्ममल के अभाव से आत्मा ही परमात्मा बन जाता है।

---

१. आनन्दघन ग्रन्थावली, पद्मप्रभ जिन स्तवन।

२. आचारांग निर्युक्ति, १८९।

३. आचारांग, १।३।१

अब प्रश्न यह है कि कर्म क्या है ? जैनदर्शन में राग-द्वेषात्मक आत्मा के परिणामों को भावकर्म तथा कार्मण जाति के पुद्गल-विशेष, जो कषाय के निमित्त से आत्मा के साथ चिपके होते हैं, उन्हें द्रव्य-कर्म कहा है। कर्मग्रंथ में 'कर्म' की परिभाषा इस प्रकार दी गई है—'जीव की क्रिया का जो हेतु है वह कर्म है।'[1] पं० सुखलालजी के अनुसार 'मिथ्यात्व, अविरति आदि कारणों से जीव के द्वारा जो किया जाता है वह कर्म कहलाता है।'[2] कर्म का उपर्युक्त लक्षण द्रव्य-कर्म और भाव-कर्म दोनों पर घटित होता है। संत आनन्दघन के अभिमतानुसार 'कर्म' की परिभाषा निम्नांकित रूप में दी जा सकती है—'कर्म जे जीवे करिए रे'[3]—जीव के द्वारा जो किया जाता है, वह कर्म है।

वैसे 'कर्म' शब्द अनेक अर्थों में प्रयुक्त हुआ है, किन्तु जैनदर्शन में 'कर्म' शब्द क्रिया के अर्थ में अधिक प्रचलित है। क्रिया भी तीन तरह की मानी गई है '—मानसिक, वाचिक और कायिक। तत्त्वार्थसूत्र में इन तीन प्रकार की क्रियाओं के व्यापार को ही योग कहा गया है।[4] कषाय-वृत्ति से युक्त जब इन तीन में कोई क्रिया घटित होती है तभी कर्म-बन्ध होता है।

जैन-परम्परा में कर्म से अभिप्राय सामान्यतः उस अशुद्ध विजातीय जड़ तत्त्व से है जो आत्मा की अनन्त शक्ति पर आवरण डाले हुए है, उसके मूल स्वरूप को आवृत किए हुए है। यद्यपि शुद्ध निश्चयनय की दृष्टि से आत्मा पर किसी भी विजातीय शक्ति का प्रभाव नहीं है, वह अनन्त ज्ञानादि चतुष्ट्य गुणों से युक्त है; फिर भी व्यवहार नय की दृष्टि से उसका स्वरूप उसी प्रकार आच्छादित है जैसे बादल सूर्य के प्रकाश को आच्छादित करते हैं। इस सन्बन्ध में आनन्दघन की पंक्तियां द्रष्टव्य हैं :

पूरण शशि सम चेतन जाणिए, चन्द्रातप सम नाण।
बादल भर जिम दल थिति आणिए, प्रकृति अणावृत जाण॥

---

१. कीरइ जिएण हेउहिं, जेणंतो भण्णए कम्मं।
—प्रथम कर्मग्रन्थ, गाथा १।

२. दर्शन और चिन्तन, पं० सुखलालजी, पृ० २२५।

३. आनन्दघन ग्रन्थावली, वासुपूज्य जिन स्तवन।

४. कायवाङ्मनः कर्म योगः।
—तत्त्वार्थ, ६।१

५. आनन्दघन ग्रन्थावली, पद ४१।

आत्मा चेतन को पूर्णिमा के चन्द्रमा की भांति और आत्मा के ज्ञान गुण को चन्द्रमा की चांदनी की तरह समझना चाहिए। किन्तु जिस तरह चन्द्रमा बादलों से ढक जाता है और उसका वास्तविक स्वरूप दिखलाई नहीं पड़ता, उसी प्रकार यह आत्मा कर्म-प्रकृतियों से आच्छादित है।

यहां यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि यदि आत्मा स्वभावत: ज्ञान-दर्शनमय, शुद्ध और निर्विकार है तो फिर, अशुद्ध तत्त्व-कर्म के साथ वह लिप्त क्यों हुआ? आत्मा और कर्म का यह संयोग कब से है? इन प्रश्नों के समाधान हेतु आनन्दघन जैनदर्शन सम्मत शास्त्रोक्त उदाहरण देकर आत्मा और कर्म के अनादि सम्बन्ध की पुष्टि करते हैं। वे कहते हैं:

कनकोपलवत पयडी पुरुष तणी रे, जोडि अनादि सुभाय।
अन्य संजोगी जिहां लगि आतमा, संसारी कहे वाय॥[1]

जिस तरह स्वर्ण और मिट्टी खदान में अनादिकाल से मिश्रित रूप में पाए जाते हैं, उसी तरह प्रकृति (कर्म) और पुरुष (आत्मा) का भी सम्बन्ध अनादि काल से है। जब तक आत्मा कर्म-पुद्गलों के साथ सम्बद्ध है, तब तक वह संसारी कहलाता है। इसी सन्दर्भ में यह प्रश्न भी उठाया जा सकता है कि आत्मा और कर्म दोनों में से कौन प्रथम है? कर्म पहले था या आत्मा? वस्तुत: आत्मा और कर्म में कौन पहले था और कौन बाद में —इसका निर्णय करना अत्यन्त कठिन है। फिर भी, आनन्दघन ने अनेक शास्त्रोक्त उदाहरणों के माध्यम से यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि आत्मा और कर्म दोनों ही अनादि हैं अर्थात् जड़ और चेतन दोनों की सत्ता अनादि है। दोनों में परस्पर बीजांकुरवत् आधार-आधेय सम्बन्ध है।

जैनदर्शन की यह विशेषता है कि उसमें प्रत्येक पदार्थ को आधार-आधेय के सम्बन्ध से (द्रव्य-गुण-पर्याय के माध्यम से) प्रतिपादित किया गया है। जैसे बिना आधार के आधेय वस्तु टिक नहीं सकती, वैसे ही बिना आधेय के आधार भी नहीं होता। अर्थात् द्रव्य रूप आधार के बिना गुण-पर्यायरूप आधेय टिक नहीं सकता और गुण-पर्यायरूप आधेय के बिना आधाररूप द्रव्य नहीं हो सकता।

१. आनन्दघन ग्रन्थावली, पद्मप्रभ जिन स्तवन।

जैनदर्शन में षड्द्रव्य माने गये हैं। ये छह द्रव्य आधार हैं और प्रत्येक द्रव्य में स्थित गुण-पर्याय आधेय हैं। अतः अनादिकाल से आधार और आधेय का सम्बन्ध बना हुआ है। यह कहना उपयुक्त नहीं है कि पहले द्रव्य रूप आधार था और बाद में गुण-पर्याय रूप आधेय था। द्रव्यरूप आधार विना गुण-पर्याय रूप आधेय के कैसे सम्भव है? और गुण-पर्याय रूप आधेय बिना द्रव्यरूप आधार के कैसे सम्भव है? इसकी पुष्टि हेतु आनन्दघन उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। यथा—मुर्गी के बिना अण्डा नहीं होता और अण्डे के बिना मुर्गी नहीं होती और इन दोनों में कौन प्रथम और कौन बाद में यह नहीं बताया जा सकता; ठीक यही बात आत्मा और कर्म पर भी लागू होती है। दूसरा दृष्टान्त बीज-वृक्ष का देकर बताया है कि बीज के बिना वृक्ष नहीं होता और वृक्ष के बिना बीज नहीं होता। इसी तरह रात और दिन, सिद्ध और संसार, जन्म और मरण, दीपक और प्रकाश आदि की सिद्धि आधार-आधेय के सम्बन्ध से ही घटित होती है। अन्त में, वे कहते हैं कि तत्त्व-ज्ञान में रुचि रखने वाले जिज्ञासु साधक आनन्दमय सर्वज्ञ प्रभु के वचनों पर श्रद्धा रख कर जैनागमों में कथित अनादि-प्रवाह प्रचलित शाश्वत् भावों पर विचार करें।[1]

जैनागमानुसार आधार और आधेय दोनों ही शाश्वत् हैं। द्रव्य और पर्याय परस्पराश्रित हैं। कहने का तात्पर्य यह कि जड़ और चेतन अथवा

---

१. विचारी कहा विचारइ रे, तेरो आगम अगम अपार।
बिनु आधार आधेय नहीं रे, बिनु आधेय आधार।
मुरगी बिन इंडा नहीं प्यारे, वा बिनु मुरग की नार॥
भुरट बीज बिना नहीं रे, बीज न भुरटा टार।
निस बिनु द्यौस घटइ नहीं प्यारे, दिन विनु निस निरधार।
सिद्ध संसारी बिनु नहीं रे, सिद्ध न बिनु संसार।
करता बिनु करणी नहीं प्यारे, बिनु करणी करतार॥
जामण मरण बिना नही रे, मरण न जनम विनास।
दीपक बिनु परकास के प्यारे, बिन दीपक परकास॥
आनन्दघन प्रभु वचन की रे, परिणति धरि रुचिवंत।
सास्वत भाव विचारते प्यारे, खेलो अनादि अनंत॥
—आनन्दघन ग्रन्थावली, पद ६२।

कर्म और आत्मा दोनों शाश्वत् और अनादि हैं। इन दोनों का सम्बन्ध अनादिकाल से है और प्रवाह की दृष्टि से यह सम्बन्ध अनन्तकाल तक चलता रहेगा। यद्यपि किसी आत्मा विशेष के सम्बन्ध में इस सम्बन्ध का विच्छेद अर्थात् कर्म से मुक्ति सम्भव है।

इस प्रकार, यह स्पष्ट हो जाता है कि आत्मा के बन्धन का कारण कर्म है, जो राग-द्वेषजन्य है। इस सम्बन्ध में चार्वाक को छोड़कर प्रायः सभी भारतीय दार्शनिकों की यह अवधारणा है कि आत्मा की शुद्धता पर आवरण डालनेवाली कोई विजातीय शक्ति है जिसके कारण आत्मा का निज स्वरूप आवृत हो जाता है। आत्मा के इस शुद्ध स्वरूप को आवृत करने वाली विजातीय शक्ति को जैनदर्शन में 'कर्म' की संज्ञा दी गई है। जैनेतर दर्शनों में 'कर्म' शब्द के पर्यायवाची के रूप में प्रकृति, माया अविद्या, अदृष्ट, अपूर्ण, संस्कार, वासना, आशय, धर्माधर्म, पाश, शैतान, दैव, भाग्य आदि शब्दों का प्रयोग किया गया है, किन्तु सभी का फलितार्थ एक ही है।

मूल प्रश्न यह है कि बन्धन किसे कहते हैं और उसके कारण क्या हैं? साधक की समग्र साधना का प्रयोजन बन्धन से मुक्ति है, क्योंकि बन्धन से मुक्त हुए बिना आत्मोपलब्धि या वीतरागता की प्राप्ति नहीं होती। तत्त्वार्थसूत्र में बन्धन का स्वरूप बताते हुए कहा गया है कि कषाय भाव के कारण (राग-द्वेषादि विभाव परिणतियों के कारण) जीव कर्म-योग्य पुद्गलों को ग्रहण करता है, वही बन्ध है।[1] दूसरे शब्दों में, जैन सिद्धान्त में बन्धन का अभिप्राय कर्म-पुद्गलों से आत्मा का संयोग होना या सम्पृक्त होना है। बन्ध दो प्रकार का है—द्रव्य-बन्ध और भाव-बन्ध। कर्म-पुद्गलों का आत्म-प्रदेशों से सम्बद्ध होना—एक रूप होना द्रव्य-बन्ध है और राग-द्वेषादि विकारी भाव भाव-बन्ध हैं।

जैनदर्शन में यह बन्धन की प्रक्रिया चार भागों में विभक्त की गई है। आनन्दघन ने कर्म-बन्धन सम्बन्धी समग्र विषयों की चर्चा इन पंक्तियों में संक्षेपतः की है—

---

१. सकषायत्वाज्जीवः कर्मणो योग्यान्पुद्गलानादत्ते स बन्धः।

—तत्त्वार्थसूत्र, ८।२-३।

पयइ ठिई अणुभाग प्रदेशथीरे, मूल उत्तर बहुभेद।
घाति-अघाति बंधोदयोदीरणा, सत्ता कर्म-विच्छेद ॥[1]

वस्तुतः इन पंक्तियों में उन्होंने कर्म-सिद्धान्त के मूल तत्त्वों को सूत्ररूप में प्रस्तुतकर गागर में सागर भरने का प्रयत्न किया है। वे जैन-शास्त्र सम्मत बन्धन की चार प्रक्रियाओं को बताते हुए कहते हैं कि बन्ध के चार भेद हैं—

१. प्रकृति-बन्ध,
२. स्थिति-बन्ध,
३. अनुभाग-बन्ध, और
४. प्रदेश-बन्ध।

प्रकृति-बन्ध

प्रकृति अर्थात् स्वभाव-स्वभाव प्रकृतिः प्रोक्तः। किस कर्म का कौन-सा स्वभाव है, यह निर्धारण प्रकृति-बन्ध करता है। जैसे, ज्ञानावरणीय कर्म का स्वभाव आत्मा के ज्ञान गुण को आवरण करना है। इसी तरह प्रत्येक कर्म का स्वभाव प्रकृति-बन्ध निश्चित् करता है। इस प्रकृति-बन्ध को मूल आठ प्रकृतियाँ हैं, जिन्हें अष्टकर्म कहा जाता है। वे हैं—

१–ज्ञानावरणीय, २–दर्शनावरणीय, ३–वेदनीय, ४–मोहनीय, ५–नाम, ६–गोत्र, ७–आयु, और ८–अन्तराय।[2]

इन आठ मूल-प्रकृतियों की भी उत्तर-प्रकृतियाँ १५८ मानी गई हैं,[3] जिनका विशद विवेचन कम्मपयडी, कर्म-ग्रन्थ आदि कर्म-शास्त्र से सम्बद्ध

१. आनन्दघन ग्रन्थावली, पद्मप्रभ जिन स्तवन।
तुलनीय—
प्रकृतिश्च स्थितिर्ज्ञेयः प्रदेशोऽनुभवः परः।
चतुर्धा कर्मणो बन्धो दुःखोदय-निबन्धनम् ॥
—योगसार-प्राभृत, अ० ४, पद २।

२. आद्यो ज्ञान दर्शनावरण वेदनीय मोहनीयायुष्क नामगोत्रान्तरायाः।
—तत्त्वार्थसूत्र, ८।५
एवं प्रथम कर्मग्रन्थ—३।

३. मूल पगइअट्ठ उत्तर पगई अडवन्नसयमेयं।
—प्रथम कर्मग्रन्थ, गाथा २।

ग्रन्थों में मिलता है। आनन्दघन ने इन कर्म-प्रकृतियों के प्रमुख भेदों का उल्लेख इस प्रकार किया है—

> ज्ञानावरणीय ५, दर्शनावरणीय ९, वेदनीय २, मोहनीय २, दर्शन-मोहनीय और चारित्रमोहनीय (दर्शनमोहनीय के ३ भेद और चारित्रमोहनीय के २५—सोलह कषाय और नव उपकषाय इस प्रकार कुल २५ + ३ = २८ भेद), आयुष्य के ४, नामकर्म २—शुभ और अशुभ (शुभ और अशुभ प्रकृति के १०३ भेद), गोत्र २—ऊँच और नीच तथा अन्तराय कर्म के ५ भेद।

कुछ जैनाचार्य नामकर्म की उत्तर प्रकृति ९३ मानकर समस्त उत्तर प्रकृतियों की संख्या १४८ मानते हैं। उक्त सभी मूल-उत्तर प्रकृतियों का क्षय करने पर ही पंचम गति रूप मुक्ति की प्राप्ति हो सकती है।[1]

उपर्युक्त इन आठ कर्मों में ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय—ये चार घाति कर्म कहलाते हैं और नाम, गोत्र, आयुष्य तथा वेदनीय-ये चार अघाति। आनन्दघन ने घाति कर्मों को परमात्मा के यथार्थ दर्शन में पर्वत के समान बाधक कहा है।[2]

वस्तुतः आत्म-गुणघातक ४ कर्म हैं, किन्तु उनकी उत्तर-प्रकृतियाँ अनेक हैं। आत्मा के चार मूल अनुजीवी गुणों—दर्शन, ज्ञान, चारित्र (सुख) और वीर्य (शक्ति) का घात करनेवाली ३७ घाति उत्तर प्रकृतियाँ हैं। इनमें सर्वगुण घाति प्रकृतियाँ २० हैं और देश घाति कर्म प्रकृतियाँ २७ हैं।

'घाति' और 'अघाति' जैनदर्शन के पारिभाषिक शब्द हैं जो आत्मा के मूल गुण-ज्ञान, दर्शन आदि का नाश करता है, उसे घाति कर्म कहते हैं और इसके विपरीत जो आत्मा के मूल गुणों का नाश नहीं करता है उसे अघाति कर्म कहा जाता है।

---

१. ज्ञानावरणी पंच प्रकार नी, दरसण रा नव भेद।
वेदनी मोहनी दोइ दोइ जाणीइ रे, आउखो चार विछेद॥
शुभ अशुभ दोउ नाउं बखाणीयै, ऊंच नोच दोय गोत।
विघन पंचक निवारी आप थी, पंचम गति पति होत॥
—आनन्दघन ग्रन्थावली, पद १३।

२. आनन्दघन ग्रन्थावली, अभिनन्दन जिन स्तवन।

स्थिति-बन्ध

बन्ध का दूसरा भेद है—स्थिति-बन्ध। प्रत्येक का सत्ता में बना रहना स्थिति-बन्ध कहलाता है। दूसरे शब्दों में, विभिन्न कर्मों की काल मर्यादा को स्थिति-बन्ध कहा गया है।[1]

अनुभाग-बन्ध

कर्मों के रसों में तीव्रता-मन्दता होती है। अतः कर्मों के अध्यवसाय के आधार पर रस (अनुभाग) नियत होता है। इसके द्वारा कर्म-फल की तीव्रता-मन्दता का निर्धारण होता है।[2]

प्रदेश-बन्ध

कर्म-वर्गणाओं के समूह को प्रदेश-बन्ध कहते हैं।[3] इसमें कर्मों की वर्गणा (संख्या) नियत होती है कि अमुक कर्म कितनी कर्म-वर्गणा का बना हुआ है।

कर्म की अवस्थाएँ

जैनदर्शन में ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय आदि प्रत्येक कर्म-प्रकृति की प्रमुख रूप से चार अवस्थाएँ मानी गई हैं, जिनका संकेत आनन्दघन ने उपर्युक्त पंक्तियों में किया है। वे हैं—बन्ध, उदय, उदीरणा और सत्ता। जैनदर्शन में ही नहीं, अन्य दर्शनों में भी कर्म की इन अवस्थाओं का उल्लेख मिलता है। अन्यदर्शनों में बन्ध (बध्यमान) को क्रियमाण कर्म, उदय को प्रारब्ध कर्म तथा सत्ता की अवस्था को संचित कर्म कहा गया है। क्रियमाण, प्रारब्ध और संचितकर्म की इन तीन अवस्थाओं का वर्णन तो अन्यत्र उपलब्ध होता है। किन्तु उदीरणा की चर्चा जैनदर्शन के अति-रिक्त अन्यत्र कहीं भी नहीं पाई जाती है।

बन्ध

कर्म-परमाणु के साथ आत्म-प्रदेशों के सम्बद्ध होने की प्रक्रिया बन्ध कहलाती है अर्थात् कर्म और आत्मा का दूध-पानी की तरह (नीरक्षीरवत्) अथवा लौहपिण्डवत् परस्पर एकरूप हो जाना ही बन्ध की अवस्था है।

---

१. स्थितिः कालावधारणम्।—उद्धृत प्रथम कर्मग्रन्थ, पृ० ५।

२. अनुभागो रसो ज्ञेयः।—वही।

३. प्रदेशा दल सञ्चयः।—वही।

उदय

जो कर्म आत्मा के साथ बंध गये हैं, वे कर्म जब अपना फल दिखाना शुरू कर देते हैं, तो उस अवस्था को उदय कहा जाता है।

उदीरणा

समय मर्यादा के पूर्ण होने के पहले ही कर्म के फल को भोग लेना उदीरणा है। दूसरे शब्दों में, नियत-काल के पूर्व ही किसी विशेष प्रयास के कर्मफलों को उदय की अवस्था में लाकर भोग लेना उदीरणा है।

सत्ता

समय की मर्यादा परिपक्व न हो, तब तक कर्मों की आत्मा के साथ लगे रहने की अवस्था सत्ता कही जाती है।

इस प्रकार, हम देखते हैं कि आनन्दघन ने बन्ध के चार भेद, प्रकृति-बन्ध के मूल-उत्तर भेद, उनमें भी घाति-अघाति कर्म तथा कर्म की अवस्थाएँ आदि कर्म-मीमांसा का सुंदर चित्रण किया है।

बन्धन का कारण

कर्म ही बन्ध-रूप बनकर शुभाशुभ फल चखाते हैं। जब तक आत्मा का विजातीय द्रव्य-कर्मों के साथ सम्बन्ध है, तब तक वह बन्धन से मुक्त नहीं हो सकता। किन्तु प्रश्न यह है कि बन्धन का कारण क्या है? कर्म किन कारणों से बँधते हैं और किन कारणों से छूटते हैं? कोई भी कर्म (कार्य) बिना कारण के कभी भी नहीं होता। कर्म-बन्धन रूप कार्य भी किन्हीं कारणों से होता है और कर्म-मोक्ष रूप कार्य भी किन्हीं कारणों से होता है। दशवैकालिक निर्युक्ति भाष्य में कहा गया है कि आत्मा का बन्धन मिथ्यात्व आदि हेतुओं से होता है।[1] आनन्दघन ने भी बन्धन एवं मुक्ति के कारण की चर्चा करते हुए कहा है :

> कारण जोगे बांधे बंधनै, कारण मुगति मुकाय।
> आस्रव संवर नाम अनुक्रमे, हेयोपादेय सुणाय ॥[2]

---

१. हेउप्पमवो बंधो।

—दशवैकालिक निर्युक्ति भाष्य, ४६।

२. आनन्दघन ग्रन्थावली, पद्मप्रभ जिन स्तवन।

तुलनीय—आस्रव संवर भाव है, बंध मोख के मूल।

—समयसार नाटक, ११२।

बन्धन का कारण आस्रव है और मुक्ति का कारण संवर। कारण के उपस्थित होने पर ही आत्मा कर्मों का बन्ध करता है और कर्म-बन्ध के कारणों का परित्याग करने पर ही वह मुक्त होता है। आस्रव कर्म-बन्ध का कारण होने से हेय-छोड़ने योग्य है और संवर मोक्ष का कारण होने से उपादेय है। सर्वदर्शनसंग्रह में आस्रव को संसार का हेतु तथा संवर को मोक्ष का कारण बताया गया है। अन्य सब बातें उसी की प्रपंचभूत-विस्तार रूप मानी गई हैं।[1]

बौद्धदर्शन में भी 'आस्रव' शब्द का प्रयोग संसार के कारण के रूप में मिलता है। इस प्रकार, जैन एवं बौद्ध दोनों परम्पराओं में बन्धन तथा संसार का कारण आस्रव माना गया है। सन्त आनन्दघन ने भी बन्धन के कारण के रूप में मुख्यतः आस्रव का ही निर्देश किया है।

सरल शब्दों में आस्रव का अर्थ है—जीव रूपी (आत्मा रूपी) तालाब में कर्म रूप जल का आना अर्थात् आत्मा में कर्म-पुद्गलों का प्रवेश करना आस्रव है। तत्त्वार्थसूत्र में आस्रव की व्याख्या इस प्रकार की गई है कि मानसिक, वाचिक और कायिक शुभाशुभ क्रिया—प्रवृत्ति योग कहलाती है और वही आस्रव है।[2] इसके दो भेद हैं—भावास्रव और द्रव्यास्रव।[3] बृहद्द्रव्य संग्रह में मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग को भावास्रव के भेद कहा है और ज्ञानावरणीय आदि कर्मों के योग्य कर्म-पुद्गलों के आगमन को द्रव्यास्रव कहा है।[4]

वस्तुतः आत्मा के भीतर कर्म आने का मुख्य स्रोत आस्रव है। जैन-शास्त्रों में आस्रव के बन्ध-हेतुओं की संख्या ४,५ और २ रूपों में मिलती

---

१. आस्रवोभव हेतुः स्यात्संवरो मोक्ष कारणम्।
इतीयमार्हिती सृष्टिरन्यदस्याः प्रपंचनम्॥
—सर्वदर्शनसंग्रह, आर्हत् दर्शन।

२. कायवाङ्मनः कर्मयोगः। स आस्रवः।
—तत्त्वार्थसूत्र, ६।१-२।

३. बृहद्द्रव्यसंग्रह, गाथा २९।

४. वही, गाथा ३०-३१।

है। समयसार,[1] गोम्मटसारकर्मकाण्ड,[2] योगसार-प्राभृत[3] तथा कर्म-ग्रन्थ[4] में बन्धन के चार कारण वर्णित हैं। वे हैं—मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग। समवायांग,[5] इसिभाषित[6] एवं तत्त्वार्थसूत्र[7] में प्रमाद सहित बन्धन के पाँच कारण माने गए हैं। बृहद्द्रव्यसंग्रह,[8] कम्मपयडि आदि में कषाय और योग को ही बन्धन का कारण बताया गया है। इन्हीं बन्ध-हेतुओं को 'आस्रव' की संज्ञा दी गई है। वस्तुतः उक्त सभी बन्धन के हेतु आस्रव हैं और आस्रव के ही ये भेद कहे जा सकते हैं। इसीलिए आनन्दघन ने मिथ्यात्व आदि बन्ध-हेतुओं की चर्चा न कर बन्धन के मूलभूत कारण आस्रव का ही उल्लेख किया है।

लौकिक मान्यता में राग-द्वेष और मोह को संसार (बन्धन) का कारण माना गया है। आनन्दघन के दर्शन में भी इसकी किंचित् झाँकी मिलती

---

१. सामण्ण पच्चया खलु चउरो भण्णंति बंध कत्तारो।
मिच्छत्तं अविरमं कसाय जोग य बोधव्वा॥
—समयसार, १०९।

२. मिच्छत्तं अविरमणं कसाय जोगाय आसवो होंति।
—गोम्मटसार काण्ड, ७८६।

३. मिथ्या दृक्त्वमचारित्रं कषायो योग इत्यमी।
चत्वारः प्रत्ययाः सन्ति विशेषेणाद्य संग्रहे॥
—योगसार-प्राभृत-अधिकार, ३, पद्य २।

४. बंधस्स मिच्छ अविरइ, कसाय जोगति चउ हेउ।
—चतुर्थ कर्मग्रन्थ, गाथा ५०।

५. पंच आसव दारा पण्णता—मिच्छत्तं, अविरई, पमाया, कसाया, जोगा।
—समवायांगसूत्र, पंचम समवाय, १८ एवं स्थानांग, ४१८।

६. इसिभासियाई, ९।५।

७. मिथ्यादर्शनाविरति प्रमाद कषाय योगा बन्धहेतवः।
—तत्त्वार्थसूत्र, ८।१

८. जोगा पयडि पदेसा ठिदि अणुभागा कसायदो होंति।
—बृहद्द्रव्यसंग्रह, गाथा ३३।
एवं, जोगा पयडि पएसंठिइ अणुभागं कसायओ कुणइ।
—पंचम कर्मग्रन्थ, ९६।

है। अतः इस दृष्टि से भी थोड़ा-सा विचार कर लेना उचित होगा।

मिथ्यात्व, अविरति आदि ऊपर कहे गए बन्ध-हेतुओं को संक्षेप में यदि कहा जाय तो कषाय ही एक मात्र बन्धन का मूल कारण प्रतीत होता है।[1] इसीलिए कहा गया है 'कषायमुक्ति किल मुक्तिरेव।'[2]—कषायों से मुक्ति ही वास्तव में मुक्ति है। वैसे तो कषाय के अनेक भेद-प्रभेद हैं, किन्तु संक्षेप में कषाय के दो रूप हैं—राग और द्वेष। जैनागमों में स्थूल रूप से कषाय के चार भेद बताए गए हैं—क्रोध, मान, माया और लोभ।[3] इनमें भी माया और लोभ का समावेश राग (आसक्ति) में और क्रोध तथा मान का समावेश द्वेष में किया गया है।[4] अति संक्षेप में कहना चाहें तो कह सकते हैं कि राग-द्वेष भी मोह के ही भेद हैं। जैसा कि उत्तराध्ययन में कहा गया है कि राग और द्वेष, ये दो कर्म के बीज हैं। कर्म मोह से उत्पन्न होता है।[5] इसिभासियाइं में भी कहा है—'मोह मूलानि

१. सकषायत्वाज्जीवः कर्मणो योग्यान्पुद्गलानादत्ते।
—तत्त्वार्थसूत्र, ८।१।

२. उपदेश तरंगिणी, प्रथम तरंग—तप उपदेश, श्लो० ८।

३. कोहं च माणं च तहेव मायं।
लोभं चउत्थं अज्झत्थ-दोसा॥
—सूत्रकृतांगसूत्र, ६।२६।
(ख) स्थानांग, ४।१।२५१।
(ग) प्रज्ञापना, २३।१।२९०।

४. दोहिं ठाणेहि पाप कम्मा बंधति·······रागेण य दोसेण य।
रागे दुविहे पण्णत्ते ·······माया य लोभेय। दोसे दुविहे·······कोहे य माणे य।
—स्थानांगसूत्र, २।३।
(ख) जीवेणं भंते, णाणावरणिज्जं कम्मं कतिहिं ठाणेहिं बंधति? गोयमा। दोहिं ठाणेहिं, तं जहा—रागेण य दोसेण य। रागे दुविहे पण्णत्ते तं जहा—माया य लोभे य। दोसे दुविहे पण्णत्ते, तं जहा—कोहे य माणे य।
—प्रज्ञापना, २३।

५. रागो य दोसो विय कम्मबीयं।
कम्मं च मोहप्पभवं वयंति॥
—उत्तराध्ययन, ३२।७।

दुक्खाणि'[1] अर्थात् दुःखों का मूल मोह है। आनन्दघन का भी कथन है कि मोह के क्रोध और मान दो पुत्र हैं और ये दोनों ही संसारी जीवों को अप्रिय लगते हैं, एतदर्थ तिरस्कृत होते हैं। इस मोह को माया नामक पुत्री भी है जिसका विवाह लोभ के साथ हुआ है। इस प्रकार, मोहिनी (मोहनीय कर्म) का परिवार चारों ओर व्याप्त है।[2]

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से राग, द्वेष और मोह मानसिक विकार माने गए हैं। अतः यह सत्य है कि कोई भी मानसिक विकार होगा तो वह या तो राग (आसक्ति) रूप होगा या द्वेष रूप। अतएव आनन्दघन ने भी संसार के बन्धन का कारण राग और द्वेष बताया है :

> राग दोस जग बन्ध करत है, इनको नास करेंगे।
> मर्यो अनन्तकाल ते प्राणी, सो हम काज हरेंगे ॥[3]

राग और द्वेष ये दोनों ही संसार का बन्धन करनेवाले हैं, एतदर्थ ये संसार के बन्धन के कारण कहे गए हैं। राग-द्वेष के कारण ही अनन्तकाल से प्राणी जन्म-मरण कर रहा है, किन्तु आनन्दघन यह चुनौती देते हैं कि अब मैं इन राग-द्वेष रूप बन्ध-हेतुओं को नष्ट करके रहूँगा। वास्तव में, राग-द्वेष रूप द्वन्द्व ही समग्र अनर्थों का मूल है। इसीलिए जैनागमों में राग और द्वेष को दोष कहा गया है। आनन्दघन ने भी मल्लिजिन स्तवन में १८ दोषों की चर्चा करते हुए राग-द्वेषादि दोषों का निर्देश किया है : "राग द्वेष अविरतिनी परिणति, ए चरण मोहनां जोधा।"[4] राग, द्वेष और अविरति ये तीनों दोष चारित्र-मोहनीय कर्म के सुभट हैं। एक स्थान पर उन्होंने यह भी स्पष्ट रूप से कहा है कि राग-द्वेष और मोह के कारण ही जीव को चतुर्गति रूप संसार-चक्र में परिभ्रमण करना पड़ता है।

---

१. इसिभासियाइं, २।६।

२. क्रोध मान बेटा भए, देत चपेटा लोक।
लोभ जमाइ माया सुता, एह बढ्यो परमोक ॥
—आनन्दघन ग्रन्थावली, पद ३९।

३. वही, पद १००।

४. आनन्दघन ग्रन्थावली, मल्लिजिन स्तवन।

५. राग दोस मोह के पासे, आप बनाये हितधर।
जैसा दाव परै पासे का, सारि चलावै खिलकर ॥
—आनन्दघन ग्रन्थावली, पद ५६।

उपर्युक्त विवेचन से यह निष्कर्ष निकलता है कि आनन्दघन ने शास्त्रीय दृष्टि से बन्धन के कारण के रूप में आस्रव का उल्लेख किया है, वहीं व्यावहारिक दृष्टि से उन्होंने राग, द्वेष और मोह को संसार का कारण बताया है।

आत्मा का साध्य—मुक्ति, आनन्द

आत्मा का बन्धन कर्म है और कर्म के बन्धन से छुटकारा पाना ही मोक्ष है। प्रश्न यह है कि बन्धन से मुक्ति कैसे मिले? बन्धन से मुक्त होने की प्रक्रिया को जानने के पूर्व यह जानना भी आवश्यक है कि आत्मा का साध्य क्या है और उसे कैसे प्राप्त किया जा सकता है? साधक के लिए साध्य का परिज्ञान होना अतीव आवश्यक है, क्योंकि साध्य का ज्ञान होने पर ही साध्य को पाने की तीव्र जिज्ञासा उत्पन्न होती है। वस्तुतः साधक साधना के द्वारा जिस साध्य को पाना चाहता है उसका स्पष्ट बोध आवश्यक है अन्यथा अनेकविध साधनाएँ करने का कोई प्रयोजन नहीं रह जाएगा।

साध्य के स्वरूप को जानने का एक कारण यह भी है कि साध्य की जानकारी के अभाव में साधक के निरुत्साहित एवं हताश होने की सम्भावना है, क्योंकि उसके सामने यह समस्या है कि वह किसके लिए साधना करे, किस साध्य को सिद्ध करे अथवा किस ध्येय या लक्ष्य को प्राप्त करे? इस दृष्टि से भी साध्य के स्वरूप का स्पष्ट बोध परमावश्यक है।

मनुष्य का जीवन एक यात्रा की भांति है। अतः यह सही है कि जीवनयात्रा निरुद्देश्य नहीं होती। जीवन है तो जीवन की यात्रा का लक्ष्य या साध्य भी होना चाहिए, क्योंकि लक्ष्यहीन यात्रा करने का कोई अर्थ नहीं है। संस्कृत में एक प्रसिद्ध उक्ति है 'प्रयोजनं विना मन्दोऽपि न प्रवर्तते'—अर्थात् बिना प्रयोजन के एक मूर्ख भी किसी कार्य में प्रवृत्त नहीं होता। कवि बनारसीदास ने भी कहा है 'काज बिना न करे जिय उद्यम'[1] —किसी कार्य को लक्ष्य में रखे बिना जीव कोई उद्यम-प्रयत्न नहीं करता। यही बात आध्यात्मिक जगत् में भी घटित होती है। किन्तु आध्यात्मिक दृष्टि से की गई साधनाओं या क्रियाओं का लक्ष्य भौतिक न होकर आध्यात्मिक ही होता है।

१. समयसार—नाटक।

मनुष्य के सामने दो ही लक्ष्य (साध्य) हो सकते हैं—एक भुक्ति (भौतिक पदार्थों को पाना) और दूसरा मुक्ति। दूसरे शब्दों में, भौतिक सुख और आत्मिक सुख। लेकिन प्रश्न यह है कि वह इन दोनों में से आत्मा का साध्य किसे माने ? यदि भौतिक पदार्थों को आत्मा का साध्य माना जाय तो वे नश्वर, क्षणभंगुर और अशाश्वत् हैं। जितने भी भौतिक पदार्थ हैं, वे सब क्षणिक सुख देनेवाले हैं। इसलिए ऐसे पदार्थों में सुख नहीं, सुखाभास है। इस दृष्टि से भौतिक सुख आत्मा का साध्य कदापि नहीं हो सकता। किन्तु मनुष्य आज अपना साध्य भूलकर पर-पदार्थों को पाने की आशा में ही यत्र-तत्र भटक रहा है। आनन्दघन ने कहा है :

आशा औरन की कहा कीजै, ज्ञान सुधारस पीजै।
भटकै द्वारि-द्वारि लोकन कै, कूकर आसाधारी।
आतम अनुभव रस के रसिया, उतरई न कबहु खुमारी ॥[1]

दूसरों की आशा क्या करना ? जो अपने नहीं हैं उनसे क्या आशा रखी जाय ? जो स्वयं पराश्रित हो, वह क्या सुख दे सकती है। संसार के समस्त पौद्गलिक पदार्थ पराश्रित हैं, क्षणिक हैं। इसलिए उन पौद्गलिक पदार्थों से सुख की आशा करना उचित नहीं। परायी आशा पर क्या जीना ? आनन्दघन कहते हैं कि इस आशा-तृष्णा को छोड़कर साधक ज्ञानरूप अमृत का रसास्वादन करें। ज्ञानामृत का पान करने से ही सुख की प्राप्ति हो सकती है। लेकिन जो पौद्गलिक सुखों की आशा-तृष्णा के पीछे दौड़ते रहते हैं वे उस कुत्ते की भांति हैं जो एक रोटी के टुकड़े को पाने की आशा में घर-घर भटकता फिरता है। इसके विपरीत, जो आत्मानुभव के रसिक जन हैं, वे ज्ञानामृत का पान कर मग्न हो जाते हैं और सदैव आत्मानुभव में ही डूबे रहते हैं।

इस प्रकार, आनन्दघन के अनुसार आत्मा का साध्य न तो स्वर्ग का सुख है और न भौतिक सुख ही। उनके अनुसार आत्मा का साध्य ऐसा आध्यात्मिक आनन्द हो सकता है जो पूर्ण एवं शाश्वत् हो। जो अपूर्ण एवं क्षणभंगुर है, वह सुख नहीं हो सकता। छान्दोग्य उपनिषद् में भी कहा गया है कि जो पूर्ण है वही सुख है। अल्प में सुख नहीं है। इसलिए पूर्ण

१. आनन्दघन ग्रन्थावली, पद ५८।

सुख या अनन्त सुख को ही जानना चाहिए।[1] अब यहाँ सहज जिज्ञासा होती है कि वह पूर्ण सुख या अनन्त सुख क्या है? जिसे जैनदर्शन में त्रिकालाबाधित अक्षय सुख, अनन्त सुख या आध्यात्मिक आनन्द कहा गया है।

अध्यात्मवादी भारतीय दार्शनिकों के समक्ष चार मूलभूत प्रश्न रहे हैं—

(१) आत्मा क्या है?
(२) आत्मा का स्वरूप क्या है?
(३) आत्मा का साध्य क्या है? और
(४) उस साध्य को प्राप्त करने का उपाय क्या है?

आत्मा का साध्य क्या है? इस प्रश्न पर जैन दार्शनिकों ने ही नहीं, प्रत्युत चार्वाक को छोड़कर सभी भारतीय दार्शनिकों ने गहरा चिन्तन किया है। आत्मा के साध्य-विषयक मुक्ति की अवधारणा लगभग सभी दर्शनों में समान रूप से पाई जाती है। सामान्यतया जैनधर्म में आत्मा का साध्य-मुक्ति, मोक्ष या वीतराग-दशा है। जैनेतर दर्शनों में भी मोक्ष को आत्मा का साध्य माना गया है। यद्यपि आनन्दघन के रहस्यवादी दर्शन में भी कहीं-कहीं मुक्ति अथवा मोक्ष शब्द का प्रयोग दृष्टिगत होता है, तथापि उन्होंने मुक्ति अथवा मोक्ष शब्द के स्थान पर 'आनन्दघन' शब्द का प्रयोग ही अधिकांशतः किया है। न केवल आनन्दघन ने, अपितु प्रत्येक अध्यात्म-वादी भारतीय दार्शनिक ने इस तथ्य को स्वीकार किया है कि साधक के जीवन का एकमात्र लक्ष्य या साध्य आनन्द है। इसीलिए उपनिषदों में आत्मा की जो पाँच अवस्थाएँ बतायी गयी हैं, उनमें अन्तिम अवस्था आनन्दमय कोष है। दूसरी ओर, वेदान्त दर्शन में आत्मा को सच्चिदा-नन्दमय कहा गया है। इस सम्बन्ध में उपाध्याय अमर मुनि जी का कथन है—"भारतीय दर्शन का आदर्श आत्मा के सम्बन्ध में सच्चिदानन्द रहा है। जहाँ सत् अर्थात् सत्ता, चित् अर्थात् ज्ञान और आनन्द अर्थात् सुख तीनों की स्थिति चरम सीमा पर पहुँच जाती है, उसी अवस्था को यहाँ परमात्म भाव कहा गया है। उसकी प्राप्ति के बाद अन्य कुछ प्राप्तव्य नहीं

१. यो वै भूमा तत्सुखं नाल्पे सुखमस्ति।
भूमैव सुखं भूमा त्वेवविजिज्ञासितव्य इति॥
—छान्दोग्य उपनिषद्, ७।२३।१।

रहता। इसकी साधना कर लेने के बाद अन्य कुछ कर्तव्य शेष नहीं रह जाता। जब अनन्त आनन्द मिल गया, अक्षय सुख मिल गया, फिर अब क्या पाना शेष रह गया ? कुछ भी तो शेष नहीं बचा, जिसे प्राप्त करने के लिए प्रयत्न किया जाए एवं साधना की जाए। भारतीय दर्शन में इसी को मोक्ष कहा गया है, इसी को मुक्ति कहा गया है और इसी को मानव जीवन का अन्तिम लक्ष्य माना गया है।"[1] उपनिषद्कारों ने भी कहा है—

आनन्द ब्रह्मणो रूपं, तच्च मोक्षऽभिव्यज्यते।

आनन्द (सुख) आत्मा का स्वरूप है और वह मोक्ष-अनावरण अवस्था में अपने असली स्वाभाविक रूप में प्रकट होता है। आत्मा के आनन्दमय स्वरूप के लिए सच्चिदानन्द के साथ ही चिदानन्द, परमानन्द, निजानन्द, सहजानन्द आदि शब्दों के प्रयोग भी मिलते हैं।

यहाँ प्रश्न उठाया जा सकता है कि आनन्दघन ने 'सच्चिदानन्द' या 'चिदानन्द' आदि शब्द का प्रयोग न कर 'आनन्दघन' शब्द का प्रयोग ही क्यों किया अथवा आनन्द को ही आत्मा का साध्य क्यों माना ? लगता है कि उन्होंने इस शब्द का प्रयोग किसी विशेष प्रयोजन को लेकर ही किया होगा।

यदि हम 'सच्चिदानन्द' शब्द का सन्धि-विच्छेद करें तो सत् + चित् + आनन्द—इन तीन शब्दों से मिलकर सच्चिदानन्द शब्द बना है। सत् यानी सत्ता, चित् अर्थात् चेतना और आनन्द। इसका शाब्दिक अर्थ होगा जिसमें सत्ता, चेतना और आनन्द ये तीनों पूर्णतया विकसित हों, वह परमतत्त्व या परमात्मा है। अब हम जरा गहराई से विचार करें तो हमें उक्त प्रश्न का समाधान तत्काल मिल जाता है। यहाँ ध्यान में रखने योग्य बात यह है कि जैनदर्शन में आत्मा की सत्ता शाश्वत् एवं अनादि मानी गई है। इसमें कोई विवाद नहीं है। अतः संसारी आत्मा के पास अपनी सत्ता विद्यमान है। इसके अतिरिक्त जैनदर्शन में चित् अर्थात् चेतना को आत्मा (जीव) का लक्षण माना गया है (चेतना लक्षणो जीवः)। इससे यह भी सिद्ध हो गया कि आत्मा चैतन्य-स्वरूप है अर्थात् संसारी आत्मा के पास सत्ता के साथ-साथ चेतना भी है। सत्ता और चेतना संसार

---

१. अध्यात्म प्रवचन, पृ० २६।

के समस्त प्राणियों में न्यूनाधिक मात्रा में विद्यमान रहती है। यहाँ तक कि जैनदर्शन की यह धारणा है कि निगोद के जीव में भी कुछ अंश में चेतना (ज्ञान-दर्शन) रहती है। लेकिन तीसरा आनन्द नामक गुण प्रत्येक व्यक्ति में नहीं पाया जाता। कहने का तात्पर्य यह है कि 'सत्' और 'चित्' तो मानव के पास व्यक्त रूप में है किन्तु आनन्द उसे व्यक्त रूप में दृष्टिगत नहीं होता। निश्चय की दृष्टि से आत्मा आनन्दमय अवश्य है। आनन्दघन ने कहा है—"निश्चै एक आनन्दो रे।"[1] किन्तु वर्तमान में वह अव्यक्त है, उसकी कमी मनुष्य को महसूस होती है; उसके जीवन में तनाव या अशान्ति है। वह अपनी आकुलता-व्याकुलता या विक्षोभ को मिटाकर अनन्त आनन्द पाना चाहता है, शान्ति चाहता है, सुख चाहता है। यह स्वाभाविक भी है, क्योंकि सुख (आनन्द) को मनोविज्ञान में मानव की मूलप्रवृत्ति माना गया है। मनुष्य का एक मात्र लक्ष्य यही है कि उसे आनन्द कैसे प्राप्त हो? इसका कारण यह है कि उसके पास सत्ता व चेतना तो है, मात्र आनन्द नहीं है। इसीलिए वह उसकी खोज में यत्र-तत्र भटकता है। आनन्द कहाँ मिलेगा अथवा आनन्द कहाँ है? उसे कैसे प्राप्त किया जा सकता है? आदि प्रश्नों का उत्तर उपाध्याय यशोविजय बड़े ही सुन्दर एवं मार्मिक ढंग से देते हैं—

आनन्द कोउ हम दिखलाओ,
कहाँ ढूँढ़त तू मूरख पंक्षी, आनन्द हाट न बिकाओ ॥[2]

अरे मूर्ख पक्षी (मूर्ख मानव)! आनन्द को तू बाहर कहाँ ढूँढ़ रहा है? वह तो अन्तरात्मा में ही है। जिस आनन्द को तू पाना चाहता है वह हाट-बाजार में बिकनेवाली वस्तु नहीं है। वस्तुतः यह आनन्द प्रत्येक स्थान पर उपलब्ध नहीं होता, आत्मा का यह आनन्द तो आनन्द-स्वरूप आत्मा में ही समाया हुआ है। इस सम्बन्ध में उपाध्याय यशोविजय का कथन है:

आनन्द ठोर ठोर नहीं पाया, आनन्द आनन्द में समाया।[3]

१. आनन्दघन ग्रन्थावली, वासुपूज्य जिन स्तवन।
२. अष्टपदी—उपाध्याय यशोविजय, पद ५।
उद्धृत, आनन्दघन ग्रन्थावली, पृ० १२।
३. वही, पद ४।

इससे प्रतीत होता है कि उपाध्याय यशोविजय के अनुसार आत्मा का यह आनन्द अनिर्वचनीय, अनन्त तथा अनुभवगम्य है। वास्तव में, आत्मा को आनन्द की उपलब्धि तभी होती है जब वह विकल्पों, विकारों, पौद्गलिक भावों अथवा कषायादि विभावों से रहित होकर निज स्वरूप में स्थित हो। इस प्रकार, आनन्द और सुख में मौलिक अन्तर यही है कि सुख विषयजन्य है और आनन्द आध्यात्मिक। आध्यात्मिक आनन्द नित्य शाश्वत् और 'ध्रुव' है। आत्मा की सर्वोत्तम उपलब्धि आनन्दमय अवस्था है।

जिस आनन्द को परम साध्य माना गया है वह समभाव की साधना का प्रतिफल ही है और इसीलिए प्रसंगान्तर से आत्मा का साध्य समता भी है। भगवतीसूत्र में आत्मा के साध्य के सम्बन्ध में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि "आयाए सामाइए, आया सामाइस्स अट्ठे"[1]—अर्थात् आत्मा समत्व रूप है और समत्व (समता भाव) ही आत्मा का साध्य है। आचारांग में भी समता को (आत्मा का) धर्म कहा गया है।[2] इस समता धर्म की चर्चा सन्त आनन्दघन के दर्शन में भी अधिकांश पदों में है। एक पद में उन्होंने समता के साथ रमण करने का उपदेश देते हुए कहा है:

साधो भाई समता संग रमीजे।[3]

अर्थात् राग-द्वेष रहित होकर समभावी बन जाओ। उन्होंने इस आत्म-धर्म समता का विस्तृत विवेचन शान्तिजिन स्तवन में भी किया है। वे इसमें उस समत्व योग की बात करते हैं जिसको आचारांग[4], उत्तराध्ययन[5]

---

१. भगवती सूत्र, १।९।२२८।

२. समियाए धम्मे आरियेहिं पवेइए।
—आचारांग, १।८।३।

३. आनन्दघन ग्रन्थावली, पद ४।

४. तम्हा पण्डिए नो हरिसे, नो कुज्जे भूएहिं।
जाण पडिलेह सायं समिए एयाणुपस्सी॥
—आचारांग, २।८।२।

५. निममो निरहंकारो निःसंगो चत्तगारवो।
समो य सव्व भूएसु, तसेसु थावरेसु य।
लाभालाभे सुहे दुक्खे जीविए मरणे तहा।
समो निंदापसंसासु तहा माणावमाणओ॥
—उत्तराध्ययन, २८।

इसिभासियाइं[1], अनुयोगद्वारसूत्र[2], मोक्ष-प्राभृत[3], नियमसार[4], एवं भगवद्गीता[5] आदि ग्रन्थों में है। समता की साधना के लिए आनन्दघन की ये पंक्तियाँ मननीय हैं :

मान अपमान चित्त सम गिणे, सम गिणे कनक पाषाण रे।
वंदक निंदक सम गिणे, इस्यो होय सुं जाण रे।[6]
सर्व जग जन्तु ने सम गिणे, सम गिणे तृण मणि भाव रे।
मुक्ति संसार बेठ सम गिणे, मुणे भवजल निधि नाव रे॥

साधक सत्कार-सम्मान और अपमान-तिरस्कार, निंदा और स्तुति दोनों ही अवस्थाओं में सम रहे। इसी तरह स्वर्ण और पाषाण तथा तृण और मणि दोनों को पुद्गल की दृष्टि से समान समझे। इसी प्रकार सभी जीवों को आत्मवत समझ कर उनके प्रति समभाव रखे। इससे भी आगे

१. सव्वत्थेसु समं चरे।
—इसिभासियाइं, १।८

२. जो समो सव्वभूएसु तसेसु थावरेसु अ।
तस्स सामाइयं होइ, इइ केवलि भासिअं॥
—अनुयोगद्वारसूत्र, १२८।

३. णिंदाए य पंससाए दुक्खे य सुहएसु य।
सत्तूण चैव बंधूणं चरित्तं समभावदो॥
—मोक्षप्राभृत, ७२।

४. नियमसार, १२६।

५. गीता में कहा है—समत्वं योग उच्यते
आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमोमतः॥
जितात्मनः प्रशान्तस्य परमात्मा समाहितः।
शीतोष्ण सुख-दुःखेपु तथा मानापमानयोः॥
ज्ञान-विज्ञान तृप्तात्मा, कूटस्थो विजितेन्द्रियः।
युक्त इत्युच्यते योगी, समलोष्ठाश्मकांचनः॥
सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थ द्वेष्य बन्धुषु।
साधुस्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते॥
—भगवद्गीता, अध्याय ६।७, ८, ९, ३२।

६. आनन्दघन ग्रन्थावली, शान्ति जिन स्तवन।

उन्होंने कहा है कि साधक मुक्ति और संसार को भी समान समझे अर्थात् समता की पराकाष्ठा पर पहुंचे हुए आत्मार्थी की दृष्टि से मुक्ति निवास और संसार निवास दोनों बराबर हैं। इस प्रकार, साधक समत्व भाव को संसार समुद्र तैरने के लिए नौका समझे।

उपाध्याय यशोविजय ने भी मुक्ति का एक मात्र उपाय समता ही बताया है।[1] ऐसा ही विचार मुनि ज्ञानसार[2] और श्रीमद् राजचन्द्र[3] ने भी व्यक्त किया है।

आनन्दघन के अनुसार भी आत्मा का साध्य समता (समत्व भाव) कहें तो अनुचित नहीं होगा। किन्तु आनन्दघन की कृतियों का गहराई से अध्ययन करने पर प्रतीत होता है कि उनके अनुसार आत्मा का साध्य आनन्द की उपलब्धि है। वस्तुतः नैश्चयिक दृष्टि से समता और आनन्द में कोई मौलिक भेद नहीं है। व्यवहार नय से एक ही आत्मा की ये दो अवस्थाएँ हैं। आत्मा की पहली अवस्था समता है जिसे आनन्दघन ने समता, सुमति या शुद्धचेतना कहा है और दूसरी आनन्द। समता आती है तो विक्षोभ, तनाव और आकांक्षाएँ समाप्त होती हैं तथा आनन्द प्रतिफलित होता है। इस दृष्टि से समता और आनन्द को आत्मा का साध्य मानने में कोई बाधा नहीं आती। समत्व की स्थिति में ही आनन्द-दशा

---

१. अध्यात्मसार, अधिकार ९।

२. जो कोऊ निंदा करै, करै प्रशंसा कोय।
असमी सम विसमै लखै, समी गणै सम होय।
समी खुसी, नहिं वेखुसी, असमी दोनों जोय।
यातै समवृत्ति सधै, कर्मबंध लघु होय।
दुःख को सुख कर लेत है, जो समदृष्टि साध।
असमी कूं सुख दुःख, असम समी सदा निरबाध॥
—मुनि ज्ञानसार।

३. शत्रु मित्र प्रत्येवर्ते समदर्शिता,
मानें अमाने वर्ते तेज स्वभाव जो।
जीवित के मरणे नही न्यूनाधिकता,
भव-मोक्षे पण शुद्धवर्ते समभाव जो॥
—श्रीमद् राजचन्द्र।

का अनुभव हो सकता है। जब व्यक्ति समदर्शी या समभावी होगा, राग-द्वेष रहित होगा, तभी वह अव्याबाध आनन्दानुभूति का आस्वादन कर सकेगा। आनन्दघन ने अनेक पदों में समता को आत्मा की शुद्ध चेतना और आनन्द (आनन्दघन) को शुद्ध चेतन के रूप में चित्रित किया है। उन्होंने आनन्द (आनन्दघन) और समता को पति-पत्नी का रूपक देकर इस रहस्य को समझाने का प्रयास किया है। आनन्दघन के शब्दों में:

पूछीइ आली खबरि नई, आए विवेक वधाई।
महानन्द सुख की वरनिका, तुम्ह आवत हम गात।
प्राने जीवन आधार कुं, खेम कुशल कहो वात ॥[1]

यहां श्रद्धासखी समता से विवेक को प्राण जीवन ऐसे आनन्दरूप चेतन-पति की कुशलता के समाचार पूछने के लिए कहती है।

आनन्दघन के अनुसार जब साधक समता की पराकाष्ठा पर पहुंच जाता है तब उसे अनन्त आनन्द की अनुभूति अपने आप होने लगती है। इतना ही नहीं, प्रत्युत उस स्थिति में समता और आनन्द में कोई द्वैत नहीं रह जाता। समता और आनन्द की इस अद्वैत-दशा का मनोरम चित्रण देखिए :

प्रेम जहाँ दुविधा नहीं रे, नहि ठकुराइत रेज।
आनन्दघन प्रभु आइ विराजै, आप ही समता सेज ॥[2]

जहाँ विशुद्ध प्रेम होता है वहाँ द्विधा भाव नहीं रहता और न छोटे-बड़े का कोई भेदभाव तथा गर्व रहता है। इसी तरह जब आत्मा समता की पराकाष्ठा पर पहुंच जाता है तब उस स्थिति में आनन्द-पुंज रूप परमात्मा या शुद्धात्मा स्वयं ही समता की सेज पर आकर विराजमान हो जाते हैं। इस समता और अनन्त आनन्द की अद्वैत-दशा को ही मुक्ति कहते हैं। इस अवस्था में आत्मा स्व-स्वरूप में स्थिर रहता है, उसमें किसी भी प्रकार राग-द्वेषादि विभाव नहीं रहते हैं। यह आनन्दानुभूति की दशा आत्मपूर्णता की दशा है। जैसा कि आनन्दघन ने कहा है :

आतम अनुभव रस भरी, यामे और न मावे।
आनन्दघन अविचल कला, विरला कोई पावे ॥[3]

१. आनन्दघन ग्रन्थावली, पद ३७।
२. वही, पद ३६।
३. वही, पद २।

आत्मा निज स्वरूप के गुणों के अनुभवरूपी रस से लबालब भरी हुई है। इसलिए इसमें राग-द्वेषादि विभाव दशा के होने की कोई सम्भावना नहीं है। तात्पर्य यह कि आनन्दानुभव की स्थिति में आत्मा में किसी प्रकार का विक्षोभ-तनाव या राग-द्वेष का भाव नहीं रहता। इस अचल, अबाधित आनन्ददायिनी परमानन्द-दशा को कोई विरला समदर्शी साधक या ज्ञानी जन ही पा सकता है।

यदि हम आनन्दघन के अनुसार मुक्ति के स्वरूप का विश्लेषण करें तो मुक्ति का अर्थ होगा आत्मा की आनन्दमय-दशा अर्थात् अनन्त आनन्द की प्राप्ति जिसे जैनदर्शन की शास्त्रीय भाषा में अव्याबाध सुख (अनन्त-सुख) कहा गया है। इस अनन्त सुख को ही आनन्दघन ने 'आनन्दघन' की संज्ञा दी है। वस्तुतः आनन्द आत्मा का स्वभाव है, स्व लक्षण है और स्वरूप है। यद्यपि दर्शन-ज्ञान आदि भी आत्मा के स्वभाव लक्षण हैं, तथापि ध्यान में रखने योग्य बात यह है कि दर्शन-ज्ञान आदि गुणों की अनुभूति साधक को न्यूनाधिक मात्रा में हर क्षण होती रहती है, किन्तु आध्यात्मिक आनन्द तो तभी प्राप्त हो सकता है जब राग-द्वेष, इच्छा-आकांक्षा आदि समाप्त हो। वह तो पूर्ण वीतराग और निराकुल-दशा में ही सम्भव है। इसीलिए आनन्दघन ने यह बताना चाहा कि आत्मा का साध्य तत्त्वतः आनन्द की प्राप्ति ही है। वस्तुतः उनके द्वारा प्रयुक्त 'आनन्दघन' शब्द ही अपने आप में रहस्यमय है। इस रहस्य को जानना ही साधक का लक्ष्य है। जिसने इस रहस्य को जान लिया उसने अपने आप को जान लिया। वे स्वयं इस रहस्य को जानने के लिए अत्यधिक उत्सुक हैं। उनकी यह उत्सुकता पदों में सर्वत्र झलकती है। जब उन्हें इस अनन्त आनन्द की अनुभूति हो जाती है तब वे इसमें सराबोर होकर कह उठते हैं:

मेरे प्रान आनन्दघन, तान आनन्दघन।
मात आनन्दधन, तात आनन्दघन॥
गात आनन्दघन, जात आनन्दघन।
राज आनन्दघन, काज आनन्दघन॥
साज आनन्दघन, लाज आनन्दघन॥
आभ आनन्दघन, गाभ आनन्दघन।
नाभ आनन्दघन, लाभ आनन्दघन॥[1]

१. आनन्दघन ग्रन्थावली, पद ७२।

आनन्दघन की दृष्टि में प्राण, शरीर, माता-पिता, जाति, राज्य आदि सब कुछ आनन्द ही है। उपाध्याय यशोविजय ने भी आनन्दघन के अन्तरंग व्यक्तित्व को अति निकट से देखा था। इसीलिए उन्होंने आनन्दघन की आनन्दमय-दशा का सुन्दर चित्रण अष्टपदी में किया है।[1]

हम देखते हैं कि आनन्दघन अनेक पदों एवं स्तवनों में भक्ति की भाषा में परमात्मा से आनन्दघन रूप मोक्ष-पद-प्राप्ति की याचना करते हैं। यथा—

> एक अरज सेवक तणीरे, अवधारो जिनदेव।
> कृपा करी मुझ दीजिए रे, आनन्दघन पद सेव ॥[2]

वस्तुतः आनन्दघन ने अपने साध्य के स्वरूप का प्रत्यक्ष रूप से कहीं भी स्पष्ट चित्र नहीं खींचा है। रहस्यदर्शी साधक के लिए यह स्वाभाविक भी है, क्योंकि वह तो परम सत्ता (परमतत्त्व) में विश्वास करता है जो अज्ञात है। वह उस अज्ञात परम सत्ता से साक्षात्कार करना चाहता है और उससे तादात्म्य-सम्बन्ध स्थापित कर एक रूप होना चाहता है। रहस्यवादी -दर्शन में जो परमसत्ता या परमतत्त्व इन्द्रियातीत है, अज्ञात है, अगम्य है, उस परम सत्ता से तादात्म्य-संबन्ध स्थापित कर लेना ही साधक का साध्य है। ऐसी परम सत्ता को दार्शनिकों ने परमतत्त्व, परब्रह्म, परम सत्य, निरंजन, परम-शक्ति, मुक्ति, मोक्ष, निर्वाण, वीतराग-दशा, आनन्द, अव्याबाध सुख, अनन्त सुख आदि विभिन्न नामों से व्यवहृत किया है।

एक अन्य दृष्टिकोण से आत्मा का साध्य (वीतराग दशा) है। वस्तुतः जैनदर्शन में परमात्मा कोई पृथक् सत्ता न होकर आत्मा का अपना निज-स्वरूप प्रकट करना ही मोक्ष, मुक्ति या वीतरागता है। जैनदर्शन में अर्हत-अवस्था और सिद्धावस्था को साध्य माना गया है जिसे अन्य दर्शनों में क्रमशः जीवन्मुक्ति और विदेहमुक्ति कहा गया है। आनन्दघन के दर्शन में भी उक्त दोनों प्रकार की मुक्ति का स्वरूप परिलक्षित होता है। उनके अनुसार जीवन्मुक्ति परमात्म-अवस्था है जो कि ज्ञानानन्द से परिपूर्ण, पवित्र, समस्त उपाधियों से मुक्त तथा अतीन्द्रिय है। उन्होंने आत्मा की

---

१. अष्टपदी—उपाध्याय यशोविजय, पद १-२,
उद्धृत—आनन्दघन ग्रन्थावली, पद ११।

२. आनन्दघन ग्रन्थावली, विमल जिन स्तवन।

तीन अवस्थाएं बतलाई हैं और उनमें तीसरी परमात्म-अवस्था है। इसी परमात्म-दशा को प्राप्त करना ही साधक का लक्ष्य है। कहने का अभिप्राय यह है कि आनन्दघन के अनुसार आत्मा (बहिरात्मा) का परमात्मा की कोटि तक पहुंच जाना ही जीवन्मुक्ति या अर्हत् अवस्था है। जैनदर्शन की भांति अन्य दर्शनों में भी यह माना गया है कि भेदज्ञान हो जाने पर मनुष्य इसी जन्म में वीतराग-दशा (जीवन्मुक्ति) का अनुभव कर सकता है। तत्त्वतः परमात्म-अवस्था और मुक्ति में कोई भेद नहीं है। एक ही अवस्था के ये दो पर्यायवाची शब्द हैं। आनन्दघन एक अन्य पद में मुक्ति के स्वरूप की चर्चा करते हुए कहते हैं :

केवल कमला अपछरा सुंदर, गान करै रसरंग भरीरी।
जीति निसाण बजाइ बिराजै, आनन्दघन सरवंग धरीरी ॥[1]

आत्मा कर्म-शत्रुओं को जीत कर विजय दुंदुभि बजाता हुआ अपने शुद्ध-स्वरूप में स्थित हो जाता है। निज-स्वरूप के प्रकटहोने पर रसरंग से भरी हुई सुन्दर अप्सराओं की भांति केवल ज्ञान रूप लक्ष्मी प्राप्त हो जाती है। अन्यत्र भी उन्होंने कहा है—

लोक अलोक प्रकाशक छइयो, जणतां कारिज सीधूं।
अंगोअंग भरि रमतां, आनन्दघन पद लीधुं ॥[2]

आत्मा राग-द्वेष, मोह-ममता आदि विभाव परिणतियों का त्याग करता है तब समता भाव में स्थित होता है। परिणामतः लोकालोक प्रकाशक केवल ज्ञान रूप पुत्र-प्राप्ति का कार्य सिद्ध होता है और केवल ज्ञान प्राप्त होने पर आत्मा आनन्दपुंज रूप मोक्ष-पद को पा लेता है।

जैनदर्शन में विदेह-मुक्ति अर्थात् सिद्धावस्था से अभिप्राय है—आत्मा का अष्ट कर्मो से रहित हो जाना। आनन्दघन ने भी जैनदर्शन सम्मत विदेहमुक्ति (सिद्धात्मा) के स्वरूप का वर्णन करते हुए कहा है :

लोक अलोक बिचि आप विराजत, ग्यान प्रकाश अकेला।
बाजि छांडि तहां चढ़ि बैठे, जहां सिन्धु का मेला ॥[3]

१. आनन्दघन ग्रन्थावली, पद ५३।
२. वही, पद ७१।
३. वही, पद ५५।

मुक्त आत्मा या सिद्धात्मा लोक और अलोक का जहां संधि-स्थल है वहां निवास करता है। वहां केवल ज्ञान का ही प्रकाश है। सिद्धात्मा जन्म, जरा और मृत्यु से घिरे हुए संसार का त्याग कर उस स्थान पर पहुंच जाता है जिस स्थान पर अनन्त-सुखरूप समुद्र लहरा रहा है। यहां द्रष्टव्य यह है कि लोक और अलोक ये जैनदर्शन के पारिभाषिक शब्द हैं। जैन-दर्शन के अनुसार लोक वह है जहां पंचास्तिकाय हो अर्थात् धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, पुद्‍गलास्तिकाय और जीवास्तिकाय हो तथा अलोक वह है जहां केवल आकाश हो। प्रस्तुत पद में आनन्दघन ने मुक्तात्माओं के स्थान का संक्षेप में बहुत ही सुन्दर ढंग से चित्रण किया है। यहां यह बताना भी अप्रासंगिक नहीं होगा कि वस्तुतः मोक्ष या मुक्ति कोई स्थान विशेष नहीं होकर आत्मा की अवस्था विशेष ही है। यद्यपि व्यवहार दृष्टि से लोकाकाश और अलोकाकाश के बीच का स्थान सिद्धों का आवास होने से 'सिद्धशिला' कहा जाता है। आनन्दघन ने सिद्ध-स्वरूप का वर्णन अन्यत्र भी किया है। वे कहते हैं कि सिद्ध परमात्मा अनन्त गुणों से युक्त हैं, अरूपी हैं, अविगत हैं, शाश्वत् हैं, समग्र पदार्थों एवं भावों के ज्ञाता है। साथ ही, सहज सुख में रमण करने वाले, गम्भीर, अविनाशी और अविकार हैं। जिन्होंने ज्ञानावरणीय पांच, दर्शनावरणीय नौ, वेदनीय दो, मोहनीय दो—दर्शनमोहनीय और चारित्र मोहनीय, आयुष्य चार, नाम कर्म दो, गोत्र दो तथा अन्तराय कर्म की पांच उत्तर प्रकृतियां—इस तरह उक्त आठ कर्मों की ३१ उत्तरप्रकृतियों को क्षय कर ३१ गुणों को प्राप्त किया है।[1] वैसे आगमों में सिद्ध परमात्मा के अन्य भी अनेक गुण बताए गए हैं, किन्तु यहां उनके प्रमुख ३१ गुणों की ही चर्चा की गई है।

---

१. अनन्त अरूपी अविगत सासतो हो, वासतो वस्तु विचार।
सहज विलासी हासी नवि करै, अविनासी अविकार॥

ज्ञानावरणी पंच प्रकार नी, दरसण रा नव भेद।
वेदनी मोहनी दोइ दोइ जाणीइ रे, आउखो चार विछेद॥

शुभ अशुभ दोउ नाउं बखाणीयै, ऊंच नीच दोय गोत।
विघन पंचक निवारी आप थी, पंचम गति पति होत॥

जुगपद भावी गुण जगदीसनां रे, एकत्रीस मति आणि।
अवर अनंता परमागम थकी, अविरोधी गुण जाणि॥

उत्तराध्ययन सूत्र में भी सिद्धात्मा के ३१ गुणों का विवेचन है। यहां यह भी उल्लेख करना आवश्यक प्रतीत होता है कि सन्त आनन्दघन ने कुन्द-कुन्दाचार्य की भांति बन्ध और मोक्ष को पर्याय अवस्थाओं का विषय माना है[1]। वस्तुतः व्यवहार नय या पर्याय-दृष्टि से ही बन्ध और मोक्ष की विचारणा की जाती है। इस सम्बन्ध में उनका यह पद द्रष्टव्य है :

बंध मौख निहचै नहीं, विवहारी लखि दोइ।
कुशल खेम अनादि ही, नित्य अबाधित होइ॥[2]

निश्चय नय की दृष्टि से न तो आत्मा का बन्धन है और न मोक्ष। अतः बन्ध और मोक्ष दोनों व्यवहार सत्य है। स्व-स्वरूप की दृष्टि से तो आत्मा मात्र नित्य, अबाधित और आनन्दरूप है। इसी भाव की पुनरावृत्ति आनन्दघन 'चौबीसी' में ज्ञानसार कृत तेइसवें पार्श्वजिन स्तवन में भी हुई है। इसी प्रकार का विचार मुनि ज्ञानसार ने भी व्यक्त किया है :

बन्ध मोख नहीं हमरे, कबही, नहिं उत्पात बिनासा।
सिद्ध सरूपी हम सब कालै, ज्ञानसार पदवासा॥[3]

श्रीमद्‌राजचन्द्र ने भी प्रकारान्तर से इसी बात को पुष्ट किया है।[4]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर निष्कर्षरूप में यह कहा जा सकता है कि आनन्दघन के अनुसार 'परमानन्द या मुक्ति'—सर्व कर्मों के क्षय से

सुन्दर सरूपी सुभग सिरोमणी, सुणि मुक्त आतम राम।
तन्मय तल्लय तसु भजनै करी, आनन्दघन पद पाम॥
—आनन्दघन ग्रन्थावली, पद १३।

१. आनन्दघन ग्रन्थावली, पद ३७,
तुलनीय—बंधन मोख नहीं निश्चये, विवहारे भज दोय रे।
२. अखण्ड अनादि न विचल कदा, नित्य अबाधित सोय रे।
—पार्श्वजिनस्तवन, आनन्दघन ग्रन्थावली।
३. आनन्दघन ग्रन्थावली, मुनि ज्ञानसार उद्धृत, पृ० २०।
४. छूटे देहा ध्यासतो, नहिं कर्ता तुं कर्म।
नहिं भोक्ता तुं तेहनो, एज धर्म नो मर्म।
एज धर्म थी मोक्ष छे, तुं छे मोक्ष स्वरूप।
अनंत दर्शन ज्ञान तुं, अव्याबाध स्वरूप॥
—आत्म-सिद्धि, पद ११५-११६।

प्रकटीभूत परम आनन्द या आत्मा की आनन्दमय (आनन्दघन) अवस्था ही मुक्ति अथवा मोक्ष है और यही आत्मा का परम एवं चरम साध्य है।

मुक्ति के उपाय

आनन्दघन ने मात्र आत्मा के साध्य को ही स्थिर नहीं किया, प्रत्युत उस साध्य तक पहुंचने और उसे प्राप्त करने के उपायों की भी चर्चा की है। अब प्रश्न यह है कि मुक्ति-प्राप्ति के उपाय अथवा साधन कौन-से हैं। साध्य की सिद्धि के लिए आनन्दघन ने किन साधनों का अवलम्बन लिया? भारतीय परम्परा में साध्य की सिद्धि के लिए जिन साधनों या उपायों का सहारा लिया जाता है, उन्हें 'मुक्ति के उपाय' अथवा 'साधन' के नाम से जाना जाता है और जिस क्रिया से साध्य की सिद्धि होती है, उसे 'साधना' कहा जाता है।

जैनधर्म में मुक्ति-प्राप्ति के उपाय के रूप में रत्नत्रय की साधना सुप्रसिद्ध है। 'रत्नत्रय' जैनधर्म का पारिभाषिक शब्द है। रत्नत्रय की साधना से अभिप्राय है—सम्यग्दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र की आराधना। इस रत्नत्रय को ही जैन दार्शनिक उमास्वाति ने मुक्ति का मार्ग बताते हुए कहा है—

सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः।[1]

आचार्य उमास्वाति से लेकर परवर्ती सभी दार्शनिकों ने मुक्ति-प्राप्ति के उक्त तीन उपाय बताए हैं। इन तीनों की सम्यक् साधना परिपूर्ण होती है तभी साध्य की सिद्धि होती है। इन तीनों को वैदिक भाषा में मुक्ति-प्राप्ति के उपाय के रूप में क्रमशः भक्ति, ज्ञान और कर्म कहा गया है। किन्तु उसमें इन तीनों के समन्वित रूप पर बल नहीं दिया गया। किसी ने भक्ति के द्वारा मुक्ति-प्राप्ति बतायी है तो किसी ने ज्ञान द्वारा। जबकि जैनदर्शन में इन तीनों में से किसी एक के द्वारा मुक्ति-प्राप्ति नहीं बतायी गई। उनके अनुसार सम्यग्दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र—इन तीनों की समुचित रूप से साधना करने पर ही आत्मोपलब्धि या मुक्ति प्राप्ति संभव है। वस्तुतः निश्चय-नय की दृष्टि से तो ये तीनों आत्मा के निज स्वरूप

१. तत्त्वार्थसूत्र, १।२।

हैं। व्यवहार नय से ही इन तीनों को साधन के रूप में निर्दिष्ट किया गया है और इन तीनों के समन्वित रूप को प्रधानता दी गई है। सन्त आनन्दघन की साधना-पद्धति में भी उक्त तीनों उपायों का समन्वित रूप प्रस्फुटित हुआ है। सम्यग्दर्शन, सम्यक्ज्ञान और सम्यक्चारित्र—रत्नत्रय की साधना के अतिरिक्त उनके साधनात्मक रहस्यवाद में भक्ति-प्रेम-योग की साधना, जैन-योग, हठयोग आदि योग-साधना के भी दर्शन होते हैं। अतः उनके द्वारा अपनायी गई विविध साधना-पद्धति की चर्चा हम अगले अध्याय में करेंगे।

पंचम अध्याय

आनन्दघन का साधनात्मक रहस्यवाद

साधना मानव जोवन का महत्त्वपूर्ण अंग है। भारतीय-परम्परा में प्राय: सभी ऋषि-मनीषियों ने साधना को अपनाया है। रहस्यवादी-दर्शन में भी साध्य की प्राप्ति के लिए साधना अपेक्षित है। जैनदर्शन की साधना-पद्धति का परम और चरम लक्ष्य मोक्ष या मुक्ति रहा है। मोक्ष का अर्थ है—आत्मगुणों का पूर्ण विकास, कर्म की परतन्त्रता से पूर्णरूप से मुक्त होना। सन्त आनन्दघन के साधनात्मक रहस्यवाद का अविकल रूप हमें उनकी कृतियों में मिलता है।

सन्त आनन्दघन में रहस्यवाद के मूलतः दो रूप दृष्टिगत होते हैं—एक साधनामूलक और दूसरा भावनामूलक। साधनामूलक रहस्यवाद में हमें रत्नत्रय की साधना के साथ मुख्यतः भक्ति एवं योग-साधना के स्पष्टतः दर्शन होते हैं। वस्तुतः उनके साधनामूलक रहस्यवाद का प्रमुख लक्ष्य है—निराकुलता और आत्मोपलब्धि।

रत्नत्रय की साधना

रत्नत्रय की साधना जैनधर्म में बहुचर्चित है। जिस प्रकार अष्टांग-योग, योग-दर्शन की साधना-पद्धति के रूप में सुविख्यात है, उसी प्रकार रत्नत्रय जैनधर्म की साधना-पद्धति के रूप में सुविख्यात है। उसके तीन अंग है :

(१) सम्यग्दर्शन
(२) सम्यग्ज्ञान
(३) सम्यक् चारित्र

जैन-परम्परा में व्यवहार और निश्चय दोनों दृष्टियों से सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र का विधान किया गया है। महानिशीथ सूत्र में बताया गया है कि साधना की दृष्टि से सम्यग्दर्शन का प्रथम स्थान

है, सम्यक्ज्ञान का द्वितीय और सम्यक् चारित्र का तृतीय स्थान है।[1] वस्तुतः दर्शन, ज्ञान और चारित्र रूप रत्नत्रय की साधना के द्वारा ही आत्मा की उत्तरोत्तर शुद्धि होती है। दर्शन-ज्ञान और चारित्र को क्रमशः आत्म-श्रद्धा, आत्म-ज्ञान और स्व-स्वरूप में रमणता भी कहा जा सकता है।

सम्यग्दर्शन

जैन-दृष्टि से साधना का मूल सम्यग्दर्शन है। सम्यग्दर्शन से ही आध्यात्मिक विकास आरम्भ होता है। इसीलिए जैन-परम्परा में साधना की प्रथम भूमिका सम्यग्दर्शन मानी गई है। इस सम्बन्ध में आचार्य कुन्दकुन्द का कथन है कि 'सम्यग्दर्शन (सम्यक्श्रद्धा) मोक्ष की पहली सीढ़ी है।[2] जैन-शास्त्रों में सम्यग्दर्शन की चर्चा अनेक रूपों में परिलक्षित होती है।

सम्यग्दर्शन के विविध रूप

सामान्यतया जैन-परम्परा में 'दर्शन' शब्द तीन अर्थों में प्रयुक्त हुआ है।

(अ) दृष्टिपरक अर्थ में

'जैसी दृष्टि वैसी सृष्टि' यह कहावत प्रसिद्ध है। दृष्टि दो है—(१) सम्यक्-दृष्टि और (२) मिथ्या-दृष्टि। सम्यक्-दृष्टि से अभिप्राय है—विशुद्ध-दृष्टि या निर्मल-दृष्टि तथा मिथ्या-दृष्टि का अर्थ है—मोह-दृष्टि। यहाँ सम्यक्—'दर्शन' शब्द दृष्टिपरक अर्थ में व्यवहृत हुआ है।

(ब) तत्त्व श्रद्धापरक अर्थ में—

जैनागमों में 'सम्यग्दर्शन' शब्द का प्रयोग तत्त्वार्थ श्रद्धान के अर्थ में भी हुआ है।

---

१. सम्मदंसणं पढमं, सम्मं नाणं बिइज्जियं।
तइयं च सम्मचारित्तं, एगभूयमिमं तिगं॥
—महानिशीथ, गाथा २।

२. सोवाणं पढम मोक्खस्स।
—दर्शन पाहुड, २१।

है, सम्यक्ज्ञान का द्वितीय और सम्यक् चारित्र का तृतीय स्थान है।[1] वस्तुतः दर्शन, ज्ञान और चारित्र रूप रत्नत्रय की साधना के द्वारा ही आत्मा की उत्तरोत्तर शुद्धि होती है। दर्शन-ज्ञान और चारित्र को क्रमशः आत्म-श्रद्धा, आत्म-ज्ञान और स्व-स्वरूप में रमणता भी कहा जा सकता है।

सम्यग्दर्शन

जैन-दृष्टि से साधना का मूल सम्यग्दर्शन है। सम्यग्दर्शन से ही आध्यात्मिक विकास आरम्भ होता है। इसीलिए जैन-परम्परा में साधना की प्रथम भूमिका सम्यग्दर्शन मानी गई है। इस सम्बन्ध में आचार्य कुन्दकुन्द का कथन है कि 'सम्यग्दर्शन (सम्यक्श्रद्धा) मोक्ष की पहली सीढ़ी है।[2] जैन-शास्त्रों में सम्यग्दर्शन की चर्चा अनेक रूपों में परिलक्षित होती है।

सम्यग्दर्शन के विविध रूप

सामान्यतया जैन-परम्परा में 'दर्शन' शब्द तीन अर्थों में प्रयुक्त हुआ है।

(अ) दृष्टिपरक अर्थ में

'जैसी दृष्टि वैसी सृष्टि' यह कहावत प्रसिद्ध है। दृष्टि दो है—(१) सम्यक्-दृष्टि और (२) मिथ्या-दृष्टि। सम्यक्-दृष्टि से अभिप्राय है—विशुद्ध-दृष्टि या निर्मल-दृष्टि तथा मिथ्या-दृष्टि का अर्थ है—मोह-दृष्टि। यहाँ सम्यक्—'दर्शन' शब्द दृष्टिपरक अर्थ में व्यवहृत हुआ है।

(ब) तत्त्व श्रद्धापरक अर्थ में—

जैनागमों में 'सम्यग्दर्शन' शब्द का प्रयोग तत्त्वार्थ श्रद्धान के अर्थ में भी हुआ है।

---

१. सम्मदंसणं पढमं, सम्मं नाणं बिइज्जियं।
तइयं च सम्मचारित्तं, एगभूयमिमं तिगं॥
—महानिशीथ, गाथा २।

२. सोवाणं पढम मोक्खस्स।
—दर्शन पाहुड, २१।

(स) श्रद्धापरक अर्थ में—

'सम्यग्दर्शन' शब्द देव, गुरु और धर्म के प्रति श्रद्धा के अर्थ में भी प्रयुक्त हुआ है। जैन-परम्परा में श्रद्धा, सम्यक्त्व, श्रद्धान, समत्व, समकित, सम्यग्दृष्टि, सम्यग्दर्शन, शुद्ध श्रद्धा आदि एकार्थक हैं।

सम्यग्दर्शन का लक्षण एवं स्वरूप

आचार्य उमास्वाति के शब्दों में, 'तत्त्वार्थश्रद्धान सम्यग्दर्शनम्[1]'— तत्त्वरूप पदार्थों की श्रद्धा अर्थात् दृढ़ प्रतीति सम्यग्दर्शन है। आचार्य समन्तभद्र आप्तादि के श्रद्धान को सम्यग्दर्शन कहते हैं।[2] और आचार्य हेमचन्द्र के अनुसार सुदेव, सुगुरु और सुधर्म में श्रद्धा रखना सम्यक्त्व अर्थात् सम्यग्दर्शन है।[3]

सन्त आनन्दघन ने भी उक्त जैनाचार्यों का अनुसरण करते हुए सम्यग्दर्शन का महत्त्व एवं लक्षण निम्नांकित पंक्तियों में अभिव्यक्त किया है :

भाव अविशुद्ध जु, कह्या जिनवर देव रे।
ते तिम अवितत्थ मुद्हे, प्रथम ए शांति पद सेव रे॥[4]

आगमों में जिनेश्वर परमात्मा ने जिन-जिन भावों अर्थात् तत्त्वों या पदार्थों को स्वभाव-दशा की दृष्टि से विशुद्ध और द्विभाव दशा की अशुद्ध निरूपित किए हैं, उन्हें यथातथ्य रूप में ही यथार्थ जानकर और उन

१. तत्त्वार्थ सूत्र १।२ एवं
तहियाणं तु भावाणं, सब्भावे उवएसणं।
भावेण सद्दहंतस्स, सम्मत्तं तं वियाहिय ॥
—उत्तराध्ययन, २०।१५।

२. श्रद्धानं परमार्थानामाप्ताऽगम तपोभृताम्।
त्रिमूढापोढमष्टांगं सम्यग्दर्शनमस्मयम् ॥
—समीचीन धर्मशास्त्र, पृ० ३२।

३. या देवे देवता बुद्धि, गुरौ च गुरुतामतिः।
धर्मे च धर्मधीः शुद्धा, सम्यक्त्वमिदमुच्यते ॥
—योगशास्त्र, प्रकाश, ३, श्लो० २।

४. आनन्दघन ग्रन्थावली, शान्ति जिन स्तवन।

पर पूर्ण श्रद्धा करना ही सम्यग्दर्शन है और यही आत्म-शान्ति का प्रथम सोपान है। उक्त पंक्तियों में आनन्दघन ने यथार्थ श्रद्धा पर बल दिया है। उनका स्पष्ट कथन है कि साधक सर्वप्रथम जिस वस्तु का जैसा स्वरूप, स्वभाव या परिणाम है, उसे उसी रूप में माने। इस प्रकार की दृढ़ श्रद्धा, यथार्थ विश्वास, वीतराग-आप्तवचन पर पूर्ण आस्था रखने पर ही [illegible] [illegible] मिल सकती है। व्यावहारिक दृष्टि से 'जिन' की वाणी में, 'जिन' के उपदेश में जिसको दृढ़निष्ठा है, शुद्ध श्रद्धा है, वही सम्यग्दर्शी है।

संक्षेप में जीवादि नौ तत्त्व एवं षड्द्रव्य का जो स्वरूप तीर्थंकरों ने बताया है, वे उसी रूप में यथार्थ हैं, इस प्रकार की तत्त्व-श्रद्धा ही सम्यग्दर्शन है। आचारांग में भी सम्यग्दर्शन के श्रद्धापरक अर्थ का निर्देश मिलता है। उस श्रद्धा का आधार उसमें जिनों की आज्ञा है। उसमें कहा गया है—

तमेव सच्चं णीसंकं, जं जिणेहिं पवेइयं।[1]

'जो जिनों ने कहा है वही सच्चा है'। यह श्रद्धा ही सम्यग्दर्शन है। प्रस्तुत सूत्र में 'जिनों ने जो कुछ कहा है, वही सत्य और निःसंक है'—ऐसी श्रद्धा पर बल दिया गया है। उपर्युक्त समस्त उद्धरणों में सम्यग्दर्शन का मूल श्रद्धा बताया गया है। बिना श्रद्धा के साधक साधना में प्रविष्ट नहीं हो सकता। किन्तु श्रद्धा के दो रूप हैं—एक अन्ध श्रद्धा ओर दूसरी सम्यक् श्रद्धा, सश्रद्धा या शुद्ध श्रद्धा। गीता में श्रद्धा के तीन रूपों की चर्चा की गई है। वे हैं—सात्त्विकी, राजसी और तामसी श्रद्धा।[2] सन्त आनन्दघन ने भी अनन्तजिन स्तवन में सम्यग्दर्शन के सन्दर्भ में श्रद्धा के स्थान पर 'शुद्ध श्रद्धान' का प्रयोग किया है। श्रद्धा तो अन्ध भी हो सकती है, लेकिन शुद्ध-श्रद्धा या सम्यक् श्रद्धा के ज्ञान-चक्षु सदैव खुले रहते हैं। वैसे तो प्रत्येक श्रद्धा ज्ञानपूर्वक ही होती है। आचार्य समन्तभद्र ने भी श्रद्धा के स्थान पर 'सुश्रद्धा' शब्द प्रयुक्त किया है।[3]

---

१. आचारांगसूत्र, १।५।५।

२. भगवद्गीता, १७।२।

३. सुश्रद्धा ममते मते स्मृतिरपि त्वय्यर्चनं चापि ते।
—स्तुतिविद्या, ११४ वां पद्य।

श्रद्धा जीवन का संबल है। जैन-ग्रन्थों में श्रद्धा का महत्त्वपूर्ण स्थान है। उससे ही मोक्ष मिल सकता है। सुत्तपिटक में भी कहा गया है कि मनुष्य श्रद्धा से संसार-प्रवाह को पार कर जाता है।[१] भगवद्गीता में श्रद्धा की महत्ता निम्नांकित शब्दों में अभिव्यक्त हुई है—'यह पुरुष श्रद्धामय है। इसलिए जो पुरुष जैसी श्रद्धावाला है, वह स्वयं भी वही है।[२] तात्पर्य यह कि जैसी जिसकी श्रद्धा है, वैसा ही उसका स्वरूप है। वस्तुतः श्रद्धा या सम्यग्दर्शन वह आधारभूत सोपान है जिसके ऊपर चारित्र रूपी भव्य प्रासाद निर्मित किया जा सकता है। उत्तराध्ययन सूत्र में तो यहां तक कहा है कि 'नत्थि चरितं सम्मतं विहूणं'[३]—अर्थात् सम्यक्त्व के बिना, श्रद्धा के बिना सम्यक् चारित्र की प्राप्ति नहीं हो सकती। विश्वास या श्रद्धा के अभाव में चारित्र केवल बाह्य आचरण मात्र है। आनन्दघन ने भी सम्यग्दर्शन के लिए शुद्ध श्रद्धा की महत्ता पर प्रकाश डालते हुए कहा है :

देव गुरु धर्मनी शुद्धि कहो किम रहै, शुद्ध श्रद्धान आणो।

शुद्ध श्रद्धान विण सब किरिया करी, छारपर लीपंणो तेह जाणो ॥[४]

यदि एकान्त निरपेक्ष वचन का कथन किया जाय तो फिर देव, गुरु और धर्म के यथार्थता की परीक्षा कैसे हो सकती है ? और परीक्षा के अभाव में देव, गुरु-धर्म पर दृढ़ श्रद्धा कैसे टिक सकती है ? इसलिए सर्वप्रथम देव, गुरु और धर्म पर अन्धश्रद्धा नहीं, प्रत्युत परीक्षापूर्वक सम्यक् श्रद्धा का होना नितान्त आवश्यक है। सम्यक् श्रद्धा के अभाव में की गई समूची आध्यात्मिक साधनाएँ—क्रियाएँ राख (धूल) के ढेर पर लीपने के समान व्यर्थ है। चूंकि, सम्यग्दर्शनविहीन समस्त क्रियाएँ संसार की अभिवृद्ध ही करती हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि श्रद्धाविहीन साधक द्वारा कृत समस्त आचरण राख पर लीपने की भांति व्यर्थ श्रम है। जिस प्रकार राख लीपना व्यर्थ है, उसी प्रकार श्रद्धाहीन क्रियाएँ भी निष्फल होती

---

१. सुत्तपिटक—सुत्तनिपात, १।१०।४।

२. श्रद्धामयोऽयं पुरुषो योयच्छ्रद्धः स एव सः।
—भगवद्गीता, १७।३।

३. उत्तराध्ययन, २८।२९।

४. आनन्दघन ग्रन्थावली, अनन्तजिन स्तवन।

हैं। यही बात प्रकारान्तर से उपाध्याय यशोविजय ने भी कही है। इस सम्बन्ध में उनका कथन है 'समता के बिना सारी क्रियाएँ ऊसर भूमि में वपन किए बीज के समान निष्फल है'।[1] इसी की प्रतिध्वनि उपाध्याय विनय विजय की निम्नांकित पंक्तियों में भी द्रष्टव्य है :

समता विण जे अनुसरे, प्राणी पुन्यनां काम।
छार ऊपर ते लीपंणुं, ज्यों झांखर चित्राम ॥[2]

सम्यग्दर्शन का ही अपर नाम शुद्धा श्रद्धा है। शुद्ध श्रद्धा आने पर अन्तर्दृष्टि खुल जाती है, आत्म-अनात्म तत्त्वों का विवेक हो जाता है। जैनदर्शन की पारिभाषिक शब्दावली में इसे 'सम्यक्त्व-प्राप्ति' कहते हैं और रहस्यवाद की अवस्थाओं में इसे आत्म-जागृति की अवस्था कहा गया है।

सम्यक् ज्ञान

जैन-परम्परा में साधना के क्षेत्र में सम्यक्ज्ञान का वही महत्त्व है, जैसा सम्यग्दर्शन का। सम्यग्दर्शन के बाद साधक की दूसरी साधना है—सम्यक्ज्ञान की प्राप्ति।

सम्यक्ज्ञान और सम्यग्दर्शन का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है। दोनों एक दूसरे के पूरक कहे जा सकते हैं। दर्शन का समावेश ज्ञान के अन्तर्गत् और तप का समावेश चारित्र के अन्तर्गत् माना गया है। इस दृष्टि से कहीं-कहीं 'ज्ञानक्रियाभ्यां मोक्षः' सूत्र के अनुसार ज्ञान और क्रिया को मोक्ष का साधन कहा है। सूत्र कृतांग में कहा है कि ज्ञान और कर्म (क्रिया) से ही मोक्ष मिलता है।[3]

ज्ञान के सम्बन्ध में जैनदर्शन की यह अवधारणा है कि ज्ञान आत्मा का मौलिक गुण है। वह न्याय-वैशेषिक की भांति उसे आगन्तुक गुण

---

१. अध्यात्मसार, अधिकार ९।

२. उद्धृत—आनन्दघन चौबीसी, पृ० ३००
सम्पा०—ले० मोतीचन्द गिरधरलाल कापड़िया।

३. आहंसु विज्जा चरणं परमोक्खं।
—सूत्रकृतांग, १।१२।११।

नहीं मानता। उसके अनुसार ज्ञान आत्मा ही है।[1] इसलिए वह आत्मा से अभिन्न है।

जैनाचार्यों ने ज्ञान को दो भागों में विभक्त किया है—मिथ्याज्ञान और सम्यग्ज्ञान। आत्मा क्या है, कर्म क्या है, बन्धन क्या है? आदि आत्म-अनात्म सम्बन्धी विषयों का यथार्थ बोध होना ही सम्यग्ज्ञान कहलाता है। यथार्थबोध सम्यग्ज्ञान है और अयथार्थबोध मिथ्याज्ञान। सन्त आनन्दघन के अनुसार आत्मा का ज्ञान, आत्मा के विशुद्ध स्वरूप का यथार्थ ज्ञान होना ही सम्यग्ज्ञान है। निश्चय-दृष्टि से आत्म-स्वरूप का ज्ञान ही सम्यग्ज्ञान है। पं० दौलतराम ने भी कहा है कि "आप रूप कौ जान पनौ सो, सम्यग्ज्ञान कला है"।[2] आचार्य हेमचन्द्र ने साधना के क्षेत्र में आत्म-ज्ञान के महत्त्व को स्वीकार किया है।[3] यह सत्य है कि सभी ज्ञानों में श्रेष्ठ ज्ञान आत्मज्ञान ही है। आत्मतत्त्व का परिज्ञान करने पर सभी का परिज्ञान हो जाता है।[4] वस्तुतः सम्यग्ज्ञान आत्मा की वह शक्ति है जिसके अभाव में क्रिया अंधी है।

इस प्रकार, सम्यग्ज्ञान के प्राप्त होने पर साधक में से राग-द्वेष-मोहादि क्षीण हो जाते हैं, स्व-पर का भेद स्पष्ट हो जाता है और समता की किरणें मिथ्यात्व का अंधकार दूर कर देती हैं। फलतः केवल ज्ञान रूप सूर्य आलोकित हो जाता है। आनन्दघन ने सम्यक् ज्ञान की यथार्थदशा का वर्णन करते हुए कहा है:

मेरे घट ज्ञान भान भयो भोर।
चेतन चकवा चेतना चकवी भागौ विरह को सोर ॥१॥
फैली चिहुँ दिसि चतुर भाव रुचि, मिट्यो भरम तम जोर।
आपकी चोरी आप ही जानत, ओरे कहत न चोर ॥२॥

---

१. जे आया से विन्नाया जे विन्नाया से आया।
—आचारांग, १।५।५।

२. छहढाला, ४।६।

३. योगशास्त्र, ४।२।

४. जे एगं जाणेइ से सव्व जाणेइ।
—आचारांग, १।३।४।

अमल कमल विकच भये भूतल, मंद विषै ससि कोर।
आनन्दघन इक वल्लभ लागत, और न लाख करोर ॥३॥[1]

मेरे हृदय में कैवल्य बीजरूप सम्यग्ज्ञान का सूर्य उदित हो गया है। इसके उदित होने से भ्रम-मिथ्यात्व रूप अंधकार-शक्ति का प्रबल जोर मन्द पड गया। सूर्य का प्रकाश फैलते ही जैसे पृथ्वी पर कमल खिल जाते हैं, वैसे ही सम्यग्ज्ञान रूप सूर्य के आलोकित हो जाने से हृदय-कमल विकसित हो गया और परिणामतः विपय-वासना, मिथ्यात्व रूप चन्द-किरणें मंद पड़ गईं।

सम्यक् चारित्र

मोक्ष-प्राप्ति का एक साधन सम्यक् चारित्र भी है। सम्यक् चारित्र जैन-साधना की आधारशिला है। इसके बिना साधक का दर्शन और ज्ञान निरर्थक है।[2] कहा भी है—'ज्ञानस्य फलं विरतिः'—ज्ञान का फल है—व्रत अर्थात् सम्यक् आचरण। निश्चय-दृष्टि से सम्यक् चारित्र का अर्थ है—स्व में रमण करना। आनन्दघन के अनुसार आत्म-स्वरूप में रमण करना ही सम्यक् चारित्र है। वस्तुतः उन्होंने योग-साधना को सम्यक् चारित्र के रूप में प्रकट किया है। उनकी दृष्टि में योग ही सम्यक् चारित्र है। आनन्दघन की आचार प्रधान रहस्य-साधना वास्तव में स्व-स्वरूप में लीनता और स्वस्वरूप में रमणता की साधना है। शास्त्रीय परिभाषा में इसे भावचारित्र कहा गया है। यही विशुद्ध संयम है।

प्राचीन जैनागम आचारांग सूत्र सम्यक् चारित्र का सर्वोत्कृष्ट उदाहरण प्रस्तुत करता है। इसमें मुख्यरूप से साधुजीवन के आचार संबन्धी नियमों पर विशद प्रकाश डाला गया है। जैनदर्शन का मुख्य उद्देश्य है—व्यक्ति को स्वावलम्बी बनाना। स्वावलम्बन के साधनाभूत सम्यक् चारित्र को जीवन में कैसे उतारा जाय, इसकी सुन्दर प्रेरणा आनन्दघन ने 'आशा औरन की क्या कीजै' पद में प्रदान की है। उनके अनुसार सम्यक् चारित्र की साधना का एक मात्र लक्ष्य है—स्व-स्वरूप की उपलब्धि। स्व-स्वरूप की उपलब्धि समता या समभाव से ही हो सकती है, क्योंकि समभाव ही

१. आनन्दघन ग्रन्थावली, पद ७३।

२. षड्प्राभृत, ६५ एवं नियमसार, १३७-१३९।

चारित्र है।[1] समभावी साधक के जीवन में किसी के प्रति भी राग-द्वेष नहीं रहता, प्रत्युत उसकी दृष्टि सभी के प्रति समान रहती है। आनन्दघन ने भी समत्व (समता) की चर्चा यत्र-तत्र की है। वे स्वयं जैनागमानुसार साधुचर्या का पालन करते थे। उनके साधुत्व का आदर्श निम्नांकिन आगम वाक्य के अनुसार था :

लाभालाभे सुहे दुक्खे जीविये मरणे तहा।
समोनिंदा पसंसासु तहा मणावमाणओ ॥[2]

इसी भाव को आनन्दघन ने अपने शब्दों में इस प्रकार अभिव्यक्त किया है—

मान अपमान चित्त समगिणे, सम गिणे कनक पाषाण रे।
वंदक निंदक सम गिणे, इश्यो होय तूं जाण रे ॥
सर्व जग जन्तु सम गिणे, गिणे तृण मणि भाव रे।
मुक्ति संसार बेहु सम गिणे, मुणे भव-जलनिधि नाव रे ॥[3]

कहा भी है कि श्रमणत्व का सार उपशम है।[4] धम्मपद में भी कहा गया है कि जो समता का आचरण करता है, वह समण (श्रमण) कहलाता है।[5] सन्त आनन्दघन के अनुसार 'श्रमण' का लक्षण इस प्रकार है :

आतमज्ञानी श्रमण कहावै, बीजा तो द्रव्य लिंगीरे।
वस्तुगते जे वस्तु प्रकाशै, आनन्दघन मत संगीरे ॥[6]

जो आत्मज्ञान से युक्त है, वही सच्चा श्रमण कहलाता है। आत्म-ज्ञान से रहित साधु तो मात्र द्रव्य से वेश को धारण किए हुए हैं। वस्तुतः आनन्दघन न केवल श्रमण की चर्चा की है, अपितु उन्होंने श्रमण के सम्यक् चारित्र के शुद्ध स्वरूप की ओर भी संकेत किया है।

१. चारित्तं समभावो।
—पंचास्तिकाय, १०७।
२. उत्तराध्ययन सूत्र, १९।९१।
३. आनन्दघन ग्रन्थावली, शांतिनाथ जिन स्तवन।
४. उवसमसारं खु सामण्णं।
—बृहत्कल्पसूत्र, १।३५।
५. धम्मपद, २६।६।
६. आनन्दघन ग्रन्थावली, वासुपूज्य जिन स्तवन।

सूत्र अनुसार जे भविक किरिया करै,
तेहनो शुद्ध चारित्र परिखो ॥[1]

जैनागमों में वर्णित श्रमणाचार के अनुरूप जो साधक सम्यक् चारित्र का पालन करता है, सम्यक् क्रिया-आचरण करता है उसी का चारित्र सम्यक् चारित्र कहा गया है। यद्यपि आनन्दघन ने कहीं-कहीं आडम्बर युक्त कर्म-काण्डों को अनुपयुक्त माना है, फिर भी शुद्ध-क्रिया अर्थात् सम्यक्-क्रिया, सम्यक्-आचरण का समर्थन किया है, क्योंकि यह शुद्ध-क्रिया मोक्ष-प्राप्ति का परम साधन है। अतएव शुद्ध-क्रिया के सम्बन्ध में उनका निम्नांकित मन्तव्य है :

निज सरूप जे किरिया साधै, ते अध्यातम लहियेरे।
जे किरिया करि चउगति साधै, ते न अध्यातम कहिये रे ॥[2]

जिस क्रिया से, जिस चारित्र से, जिस जीवन-चर्या से निज स्वरूप की प्राप्ति होती है, वही शुद्ध क्रिया है, वही आध्यात्मिक-साधना है, किन्तु इसके विपरीत जिस क्रिया से, जिस आडम्बरयुक्त कर्म-काण्ड से चर्तुगति परि-भ्रमण करना पड़े, वह आध्यात्मिक क्रिया अर्थात् सम्यक् चारित्र नहीं कहा जा सकता। इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है कि शुद्ध क्रिया की आधार शिला शुद्ध श्रद्धा सम्यग्दर्शन है। इसी तरह अन्यत्र भी आनन्दघन ने श्रमण जीवन के आचार धर्म के अन्तर्गत् द्रव्य और भाव से पांच समिति के स्वरूप पर भी सम्यक् प्रकाश डाला है।[3]

भक्ति-योग की साधना

जैन-भक्ति का स्वरूप

रत्नत्रय की साधना-पद्धति के अतिरिक्त भक्तितत्त्व ने भी आनन्दघन को सर्वाधिक प्रभावित किया है। भक्ति भी उनकी साधना का प्रमुख रूप है। साधना की प्रथम भूमिका में भक्ति का बहुत बड़ा उपयोग है। वस्तुतः भक्ति योग एक विलक्षण तरह की साधनात्मक अवस्था है। प्रेम की अजस्र धारा अन्तःकरण में से फूट निकलती है, उस प्रेम की अजस्र धारा को

१. आनन्दघन ग्रन्थावली, अनन्त जिन स्तवन।
२. आनन्दघन ग्रन्थावली, श्रेयांस जिन स्तवन।
३. पांच समिति—ढालें, उद्धृत—आनन्दघन ग्रन्थावली, पृ० २४५।

परमात्मतत्त्व की उपासना में प्रवाहित करना ही भक्ति-योग है। दूसरे शब्दों में, 'प्रेम' जिसे योग की भाषा में 'भक्ति' कहते हैं। यहां भक्ति से अभिप्राय है—भाव की विशुद्धि से युक्त अनुराग। जिस अनुराग में भाव की निर्मलता नहीं होती, वह अनुराग (प्रेम) भक्ति नहीं कहलाता।

भक्ति की साधना आस्था को सुदृढ़ बनाने की साधना है। परमात्मा बनने के लिए यह एक सरल एवं सुगम मार्ग है। जैन-परम्परा में जिनेन्द्र के स्तवन, पूजनादि को भक्ति कहा गया है। किन्तु जैन-भक्ति का लक्ष्य ऐहिक स्वार्थ न होकर आत्म-शुद्धि है।

भक्ति, साधना की प्राथमिक स्थिति है। आत्मा जब परमात्मा बनना चाहती है तब उसका प्रारम्भिक प्रयत्न भक्ति के रूप में ही होता है। भक्ति में समर्पण का भाव प्रधान होता है। भक्त अपने जीवन को तभी सार्थक मानता है, जब वह भगवान् के चरणों पर समूचा चढ़ जाए। सन्त आनन्दघन के स्तवनों एवं पदों में भक्ति योग की पराकाष्ठा के दर्शन होते हैं।

भक्तियोग की पराकाष्ठा का सर्वोत्तम उदाहरण आनन्दघन की निम्नांकित पंक्तियों में द्रष्टव्य है :

जिन चरणे चित ल्याउं रे मना।
अरिहंत के गुण गाऊं रे मना॥ जिन०॥
उदर भरण के कारणै रे गौवां वन में जाय।
चार चरै चिहुं दिस फिरे, वाकी सुरति वछरुआ मांहि रे॥[1]

जिस प्रकार उदर भरण के लिए गौएं वन में जाती हैं, घास चरती हैं, चारों ओर फिरती हैं, किन्तु उनका मन अपने बछड़ों में लगा रहता है, वैसे ही संसार के कामों को करते हुए भी भक्त का मन भगवान् के चरणों में लगा रहता है। पुनश्च उनका कथन है कि जिस प्रकार कामी का मन, अन्य सब सुध-बुध खोकर काम-वासना में ही तृप्त होता है, अन्य बातों में उसे रस नहीं आता, वैसे ही प्रभु-नाम और स्मरणादि रूप भक्ति में, भक्त की अविचल अनन्य निष्ठा होती है। उसका मन भगवान् के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं भी नहीं जाता। इस पद से यह फलित होता है कि साधक को अर्हन्त-सिद्ध परमात्मा की भक्ति अवश्य करने योग्य है, क्योंकि भक्ति-

१. आनन्दघन ग्रन्थावली, पद ८१।

योग का ध्येय है—प्रत्यक्षानुभूति। आनन्दघन ने अन्यत्र भी अनेक पदों में भक्ति-योग पर सम्यक् प्रकाश डाला है।

योग-साधना

योग एक आध्यात्मिक साधना है। महर्षि पतंजलि के अष्टांग-योग की साधना बहुचर्चित है। जैन-परम्परा में भी अध्यात्म साधना योग के रूप में प्रस्फुटित हुई है। इसका सुव्यवस्थित रूप हमें आचार्य हरिभद्र की कृतियों में देखने को मिलता है। उन्होंने योग-साधना क्रम को आठ योग दृष्टियों के रूप में विभक्त किया है। आनन्दघन ने भी सम्भव जिन स्तवन में 'दृष्टि' शब्द का प्रयोग किया है। वे कहते हैं।

दोष टलै वलि दृष्टि खुलै भली, प्राप्ति प्रवचन वाक[1]।

यहां उन्होंने सम्यक् योग-दृष्टि खुलने पर बल दिया है। योग को हम आध्यात्मिक-विकास क्रम की भूमिका भी कह सकते हैं।

योग-साधनापरक शब्दावली

सन्त आनन्दघन के साधनात्मक रहस्यवाद में रत्नत्रय एवं भक्तितत्त्व की साधना के साथ ही योग-साधना का भी समावेश हुआ है। उनकी रचनाओं में जिस प्रकार रत्नत्रय तथा भक्ति-योग की साधना का विवेचन उपलब्ध होता है, उसी प्रकार योग की साधनापरक शब्दावली भी अनेक रूपों में प्राप्त होती है। कहीं उन्होंने सिद्धों-नाथों और तान्त्रिकों के योग-परक शब्द यथा—सुरति, निरति, अजपाजाप, अनाहदनाद, आनन्द, अमृत, गगन-मण्डल, ब्रह्मरन्ध्र, सहज, निरंजन, इड़ा, पिंगला, सुषुम्ना आदि शब्द व्यवहृत किए हैं तो कहीं अष्टांग-योग की चर्चा की है और कहीं-कहीं जैन-योगपरक साधना को भी अपनाया है, जिसमें योग की पूर्व भूमिका केरूप में उन्होंने अभय, अद्वेष और अखेद की चर्चा की है। साथ ही अवचंक-त्रय-योग का भी उल्लेख किया है। वस्तुतः आनन्दघन के योगपरक शब्दों के प्रयोग में स्वानुभूति की गहरी चेतना है। उनकी योग-साधना में अष्टांग-योग, हठयोग, जैन-योग तथा कबीर आदि पूर्ववर्ती साधकों की योग-साधना-पद्धति का समन्वित रूप परिलक्षित होता है। आनन्दघन वास्तव में, एक जागरूक साधक थे। इसीलिए पूर्ववर्ती एवं

१. आनन्दघन ग्रन्थावली, सम्भव जिन स्तवन।

तत्कालीन साधना-पद्धतियों की शब्दावली से उनका पूर्णतः परिचित होना अस्वाभाविक नहीं है।

योग का स्वरूप

'योग' शब्द युज् धातु से बना है, जिसका अर्थ है 'जोड़ना'। जो साधन आत्मा को परमात्मा से जोड़ता है, उसको योग कहा जाता है। महर्षि पतंजलि के अनुसार चित्तवृत्तियों का निरोध ही योग है।[1] जब कि योग के सम्बन्ध में जैनदर्शन की अवधारणा यह है कि शरीर, वाणी तथा मन के कर्म का निरोध संवर है[2] और यही योग है। आचार्य हरिभद्र का अभिमत है कि योग मोक्ष प्राप्त करानेवाला अर्थात् मोक्ष के साथ जोड़नेवाला है[3] और आचार्य हेमचन्द्र ने तो योग को ज्ञान, श्रद्धान और चारित्रात्मक कहा है।[4] सन्त आनन्दघन ने भी इसी का अनुसरण करते हुए सम्यक् चारित्र को ही योग के रूप में प्रकट किया है। वस्तुतः मोक्ष-प्राप्ति के जो कारणभूत साधन हैं, वही योग है।

योग के विविध भेद

मूलतः योग एक है, फिर भी स्थूल रूप से उसके अनेक भेद किए गए हैं। यथा—हठयोग, राजयोग अथवा अष्टांग-योग, लययोग, मंत्रयोग, जैन-योग आदि। आनन्दघन के रहस्यवाद में उक्त योग के सभी भेदों की विचारणा पाई जाती है।

हठयोग

हठयोग में विविध आसनों के द्वारा 'कायासाधन' किया जाता है। हठयोग विशेषरूप से शरीर से सम्बद्ध साधना है। इसमें मुख्यतः श्वासोच्छ्वास का निरोध किया जाता है। मध्ययुग में सिद्धों और नाथों ने हठयोग की प्रक्रिया का काफी प्रचार-प्रसार किया। हठयोग का सबसे प्रमुख विषय है नाड़ी-जय, इसका विकसित रूप कुण्डलिनी-शक्ति का है। योगी का लक्ष्य कुण्डलिनी शक्ति को सुषुम्ना के बीच से चक्रों का भेदन करते हुए सहस्रार कमल तक ले जाना है। जब कुण्डलिनी सहस्रार चक्र

---

१. योगदर्शन, १।२।

२. तत्त्वार्थ, ९।१।

३. योगविंशिका, १।

४. अभिधान चिन्तामणि, १।७७।

में पहुंच जाती है तब साधक को समाधि की स्थिति प्राप्त हो जाती है। इस समाधि अवस्था को प्राप्त करने के पश्चात् योगी अमर हो जाता है।

यद्यपि जैन-साधना में हठयोग को नहीं माना गया है, किन्तु सन्त आनन्दघन में इसके प्रारम्भिक तत्त्व पाए जाते हैं। किन्तु उनकी रचनाओं में हठयोग का बीभत्स रूप दृष्टिगोचर नहीं होता है। हठयोग की प्रारंभिक प्रक्रिया का उल्लेख करते हुए आनन्दघन का कथन है :

> म्हारो बालूडो संन्यासी, देह देवल मठवासी।
> इडा पिंगला मारग तजि जोगी, सुखमना घरि आसी।
> ब्रह्मरन्ध्र मधि आसण पूरी बाबू, अनहद नाद बजासी ॥[1]

मेरा अल्पवयस्क संन्यासी शरीररूपी मन्दिर में निवास करता है और वह चन्द्रनाड़ी (इड़ा) तथा सूर्यनाड़ी (पिंगला) का परित्याग कर सुषुम्ना नाड़ी में प्रवेश करता है। तदनन्तर योगी अपना आसन स्थिर कर सुषुम्ना नाड़ी द्वारा प्राणवायु को ब्रह्मरन्ध्र में ले जाकर अनहदनाद बजाता हुआ चित्त-वृत्ति को उसमें लीन कर देता है।

लययोग

आत्मा को परमात्मा में लय कर देना ही 'लययोग' कहलाता है। इसके अनेक भेद हैं। यथा—नाद-लय-योग, शब्द-सुरति-योग, सहज लय-योग। आनन्दघन में नादलय-योग से सम्बद्ध रहस्याभिव्यक्ति पाई जाती है। अनहदनाद की चर्चा उन्होंने अनेक स्थलों पर की है। अहनदनाद श्रवण नाद लय की पराकाष्ठा है। अनहदनाद से तात्पर्य है, जिसके द्वारा साधक अपनी आत्मा के गूढ़तम अंश में प्रवेश करता है, जहां पर अपने आपकी पहचान के सहारे वह सभी स्थितियों को पार कर अन्त में कारणातीत हो जाता है। जब अनहदनाद सुनाई पड़ता है तभी साधक को परमतत्त्व के दर्शन होते हैं। योग से प्रभावित होने के कारण आनन्दघन भी अनहदनाद के रूप में उसकी अनुभूति करते थे। इसका संकेत करते हुए उन्होंने कहा है :

> उपजी धुनि अजपा की अनहद जीत, नगारे वारी।
> झड़ी सदा आनन्दघन बरखत, बन मोर एकन तारी ॥[2]

---

१. आनन्दघन ग्रन्थावली, पद ७५।

२. वही, पद ८६।

जो साधक आशाओं को मारकर अपने अन्तः में अजपाजाप को जगाते हैं, वे चेतन मूर्ति निरंजन का साक्षात्कार करते हैं। इस अजपा की अनहद ध्वनि उत्पन्न होने पर आनन्द के मेघ की झड़ी लग जाती है और जीवात्मा सौभाग्यवती नारी के सदृश भावविभोर हो उठती है। अनहदनाद की चर्चा अन्यत्र भी आनन्दघन ने की है।[1] नाद लय-योग का अपना एक रूप और हमें आनन्दघन में मिलता है। वह है उनका शब्द सुरति-योग। इस योग का वर्णन सामान्यतः योगशास्त्र के ग्रन्थों में नहीं मिलता। आचार्य कुन्दकुन्द के मोक्षपाहुड़ में[2] 'सुरद' (सुरत) शब्द का प्रत्यय अवश्य उपलब्ध होता है किन्तु इसके बीज सिद्धों में ढूँढ़े जा सकते हैं। आनन्दघन ने भी कतिपय पदों में 'सुरति' या 'सुरत' शब्द का प्रयोग किया है।[3]

राजयोग

लययोग के बाद राजयोग आता है। हठयोग और लययोग राजयोग की प्राथमिक भूमिकाएँ ही कही जा सकती हैं। राजयोग वस्तुतः हठयोग के पश्चात् की साधना है। हठयोग में शारीरिक साधना पर बल दिया जाता है। इसके विपरीत राजयोग का सम्बन्ध मन से माना जाता है। राजयोग को अष्टांग योग भी कहते हैं। अष्टांग योग की चर्चा आनन्दघन ने भी की है। इस सम्बन्ध में उनका निम्नांकित पद द्रष्टव्य है :

> यम नियम आसण जयकारी, प्राणायाम अभ्यासी।
> प्रत्याहार धारणा धारी, ध्यान समाधि समासी ॥[4]

यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि ये अष्टांग-योग कहे गये हैं।

यम और नियम

यम का अर्थ है—इन्द्रियों का निग्रह करना और नियम का अर्थ है—महाव्रतों का पालन करना।

---

१. आनन्दघन ग्रन्थावली, पद ७५।

२. मोक्षपाहुड़, गाथा ८३-८४।

३. जोगी सुरति समाधि मैं, मानो ध्यान झकोला।
—आनन्दघन ग्रन्थावली, पद ३१। एवं

सुरत सिंदूर मांग रंगराती, निरतै बेनी सभारी।
—आनन्दघन ग्रन्थावली, पद ८६।

४. आनन्दघन ग्रन्थावली, पद ७५।

आसन

आसन प्रायः किसी विशेष प्रकार से बैठने को कहते हैं। इसलिए यम-नियम के पश्चात् आसन योग का ही स्थान अष्टांग योग में आता है। आसन में शरीर का शिथिलीकरण ही मुख्य है।

प्राणायाम

अष्टांग योग में प्राणायाम को महत्त्वपूर्ण माना गया है। रेचक, पूरक और कुंभक—ये तीन प्राणायाम के अंग है। श्वास को बाहर निकालने की क्रिया रेचक है, श्वास को अन्दर खींचने की प्रक्रिया पूरक और श्वास को स्थिर रखना कुंभक कहलाता है। आनन्दघन ने भी रेचक, पूरक और कुंभक का नामोल्लेख किया है।[1]

जैनयोग के अन्तर्गत् प्राणायाम का विशेष अर्थ भावशुद्धि के निमित्त हुआ है, किन्तु योग-साधना की दृष्टि से अनावश्यक माना गया है। जैन प्रक्रिया के अनुसार विजातीय द्रव्य का रेचन और अन्तरभाव में स्थिर होना कुंभक है। चित्त की एकाग्रता के लिए यही प्राणायाम है। जैन परम्परा में द्रव्य प्राणायाम की अपेक्षा भाव प्राणायाम पर बल दिया गया है। इस बात की पुष्टि उपाध्याय यशोविजय के निम्नांकित कथन से होती है :

बाह्य भाव रेचक इंहाजी, पूरक अन्तर भाव।
कुंभक थिरता गुणे करीजी, प्राणायाम स्वभाव।

परमात्मा ने विभावदशा का विरेचन कर रेचक प्राणायाम किया है और स्वभाव दशा को प्राप्त कर पूरक प्राणायाम किया है तथा मेरुवत् निष्प्रकंप सहजात्म स्वरूप में स्थिर हो कर कुंभक प्राणायाम किया है।

आसन और प्राणायाम को ही नामान्तर से हठयोग कहते हैं। प्राणायाम के सम्बन्ध में जैनागमों में अधिक नहीं कहा गया है, क्योंकि आसन, मुद्रा, प्राणायाम आदि हठयोग के अन्तर्गत् आते हैं।

प्रत्याहार

प्रत्याहार का अर्थ है लौटाना। इन्द्रियाँ अपने विषयों से लौटायी जाती हैं या लौट जाती हैं, इसलिए इस प्रक्रिया को 'प्रत्याहार' कहते हैं। योग-

१. रेचक पूरक कुंभककारी, मन इन्द्री जयकारी।
—आनन्दघन ग्रन्थावली, पद ७५।

दर्शन के प्रत्याहार और जैनदर्शन के प्रति संलीनता के अर्थ में विशेष अन्तर नहीं है।

आनन्दघन की योग-साधना में ध्यान, धारणा तथा समाधि भी किसी-न-किसी रूप में समाहृत है।

धारणा

पतंजलि के अनुसार धारणा का लक्षण है–'देश बन्धश्चित्तस्य धारणा'–चित्त को किसी देश विशेष में बांधना धारणा है,[1] जब कि जैनदर्शन के अनुसार चित्त की एकाग्रता किसी एक स्थान पर अथवा किसी एक पुद्गल पर लगा देना धारणा है। सन्त आनन्दघन ने भी नमिजिन स्तवन में धारणा की चर्चा की है।[2]

ध्यान

सामान्यतः ध्यान का तात्पर्य है—चित्तवृत्ति को केन्द्रित करना। आवश्यक निर्युक्ति में कहा है कि किसी एक विषय पर चित्त को स्थिर=एकाग्र करना ध्यान है।[3] ध्यान योग का प्रमुख साधन है जिससे मन को एक बिन्दु पर केन्द्रित किया जाता है। ध्यान के सम्बन्ध में जैनागमों में विशद् वर्णन उपलब्ध होता है। वास्तव में जैनधर्म की साधना में ध्यान को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है। उसे कर्मक्षय का साक्षात् कारण माना गया है।

ध्यान एक साधना है। इससे आत्मा के शुद्ध स्वरूप का परिज्ञान होता है। इसी दृष्टिकोण को दृष्टिपथ में रखते हुए ही सम्भवतः आनन्दघन ने भी अपनी रचनाओं में अनेक स्थलों पर ध्यान का वर्णन किया है।[4]

---

१. योगदर्शन, ३।१।

२. मुद्रा बीज धारणा अक्षर, न्यास अरथ विनियोगे रे।
—आनन्दघन ग्रन्थावली, नमिजिन स्तवन।

३. चित्तस्सेगग्गया हवइ झाणं।
—आवश्यक निर्युक्ति, १४५९।

४. आतम ध्यान करे जो कोउ,
सो फिर इण मे नावै।
—आनन्दघन ग्रन्थावली, मुनि सुव्रत जिन स्तवन।

समाधि

सूत्रकृतांग चूर्णि में समाधि का लक्षण बताया है—

समाधिर्नाम: राग-द्वेष परित्यागः ।[1]

राग-द्वेष का त्याग ही समाधि है। समाधि दो प्रकार की होती है—एक सालम्बन और दूसरी निरालम्बन। निरालम्बन समाधि ही निर्विकल्प समाधि कहलाती है। वस्तुतः समाधि शब्दों द्वारा वर्णन करना कठिन है। वह अनुभवजन्य बोध है।

आनन्दघन ने भी समाधि की अवस्था का निर्देश किया है।

मन्त्रयोग

मन्त्रयोग का विषय अतिविशद् है। अतः यहां हम मन्त्रयोग के अन्तर्गत् केवल जप साधना पर ही प्रकाश डालेंगे।

योग-साधना में जप का महत्त्वपूर्ण स्थान है। गीता में 'यज्ञानाम् जप यशोऽस्मि' कहकर जप की महत्ता प्रदर्शित की है।

जप के अनेक भेद-प्रभेद हैं। फिर भी मुख्यतः जप तीन प्रकार का है—भाष्य जप, उपांशु जप और मानस जप।

आनन्दघन ने मानस जप को सर्वाधिक महत्त्व दिया है। इस मानस जप का सबसे सुन्दर और महत्त्वपूर्ण रूप अजपाजाप है। योगीजन अधिकांशतः इसी अजपाजाप की साधना करते हैं।

अजपाजाप मानस जप का एक प्रकार है। अजपाजाप से अभिप्राय है—जिसके अनुसार साधक बाह्य जीवन का परित्याग कर आभ्यन्तरित जीवन में प्रवेश करता है। इस अजपाजाप में श्वासोच्छ्वास की क्रिया के साथ ही साथ मन्त्रावृत्ति की जाती है। अजपाजाप का सम्बन्ध नाद-साधना से माना जाता है। सन्त आनन्दघन ने भी अनेक पदों में अजपाजाप का निर्देश किया है। एक पद में वे इसकी चर्चा करते हुए कहते हैं :

आसा मारि आसण धरि घट में, अपजाजाप जगावै।
आनन्दघन चेतन मै मूरति, नाथ निरंजन पावै ॥[2]

---

१. सूत्रकृतांग चूर्णि, १।२।२।

२. आनन्दघन ग्रन्थावली, पद ५७।

जो साधक आशा-तृष्णा का परित्याग कर मन में दृढ़ स्थिरता रूप आसन जमाकर अजपाजाप अर्थात् ध्वनि रहित जाप करता है, वह आनन्द रूप ज्ञानदर्शनमय निरंजन (परमात्मपद) को प्राप्त कर लेता है। इस अजपा-जाप की साधना में आनन्दघन ने आसन को भी महत्त्वपूर्ण माना है, क्योंकि आसन से काया के योग पर अंकुश रहता है।

जैन-योग

सन्त आनन्दघन में उपर्युक्त यौगिक साधना के अतिरिक्त जैन-योग की साधना भी पाई जाती है। उन्होंने जैन-योग के अनुरूप योग-साधना की दृष्टि से परमात्म-सेवा के लिए सर्वप्रथम पूर्वभूमिका के रूप में अभय, अद्वेष और अखेद—इन तीन गुणों की साधना साधक में होना अनिवार्य बताई है। इस सम्बन्ध में उनका कथन है :

संभव देव धुरे सेवो सवेरे, अभय अद्वेष अखेद।[1]

वस्तुतः जैनयोग में योग का प्रारम्भ सेवा से माना गया है, क्योंकि सेवा से लेकर समता तक जो धार्मिक अनुष्ठान साधक करते हैं, वे धर्म-व्यापार होने के कारण योग के उपाय मात्र हैं।[2]

अवंचक त्रय-योग-साधना

जैनदर्शन में तीन योग बताए गए हैं—योगाऽवंचक, क्रियावंचक और फलावंचक। ये तीनों योग जैन-योग की पारिभाषिक शब्दावली में प्रयुक्त हुए हैं। इन तीनों योगों की विस्तृत विवेचना जैनाचार्य हरिभद्र सूरि ने योग-दृष्टि-समुच्चय में की है। सन्त आनन्दघन ने भी उक्त अवंचक त्रय-योग का उल्लेख किया है। निम्नांकित पंक्तियों में तीन प्रकार की योग प्रक्रिया का निर्देश करते हुए वे कहते हैं :

निरमल साधु भगति लही सखी, जोग अवंचक होय।
किरिया अवंचक तिम सही, सखी, फल अवंचक जोय॥[3]

पवित्र साधुओं की भक्ति से साधक को योगाऽवंचक की प्राप्ति होती है अर्थात् कुटिलता रहित योग की प्राप्ति होती है। इस अवंचक योग की

१. आनन्दघन ग्रन्थावली, संभव जिन स्तवन।

२. योगभेद द्वात्रिंशिका, ३१।

३. आनन्दघन ग्रन्थावली, चन्द्रप्रभ जिन स्तवन।

क्रियाएँ (कार्य) भी उसी प्रकार अवंचक-अमोघ अचूक होती है और इसका फल भी निश्चय अवंचक होता है। दूसरे शब्दों में, आत्म स्वरूप को प्राप्त सद्गुरु के योग से कुटिलता रहित योग की प्राप्ति होती है। योग-अवंचकता के प्राप्त होने पर क्रिया अवंचकता तथा फल अवंचकता की सिद्धि होती है।

सारांशतः यह कहा जा सकता है कि आनन्दघन की योग-साधना में हमें रहस्यवाद की अन्तर्मुखी प्रक्रिया मिलती है। वस्तुतः आनन्दघन सर्वश्रेष्ठ साधनात्मक रहस्यवादो थे। योग जैसे जटिल विषय का उन्हें सूक्ष्मातिसूक्ष्म ज्ञान था।

इस प्रकार, हम देखते हैं कि आनन्दघन के साधनात्मक रहस्यवाद में रत्नत्रय, भक्ति और योग का सुन्दर समन्वय हुआ है। इन सभी साधना-मार्गों का अवलम्बन लेकर वे अपने परम लक्ष्य की ओर आगे बढ़े हैं।

षष्ठ अध्याय

आनन्दघन का भावात्मक रहस्यवाद

भावात्मक रहस्यवाद में अनुभूति का महत्त्व

रहस्यवाद में दार्शनिक-चिन्तन की अपेक्षा अनुभूति का महत्त्व अधिक है। दार्शनिक-चिन्तन तार्किक या बौद्धिक होता है जबकि अनुभूति का सम्बन्ध भावना (हृदय) से होता है। यद्यपि चिन्तन (विचार) और अनुभूति (भाव) दोनों में ज्ञान का तत्त्व रहता है, तथापि जब दार्शनिक विचारों की अभिव्यक्ति भावना की भूमिका से होती है तब रहस्यवाद का जन्म होता है। आध्यात्मिक रहस्यवाद के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए स्पर्जन ने लिखा है कि "जब रहस्यवादी अपनी धारणा इस प्रकार व्यक्त करता है कि वह बुद्धि और भावना—दोनों का ही आनन्द विधान करती है, तब उसे आध्यात्मिक रहस्यवाद कहते हैं।"[१] डा० राधाकृष्णन् ने विचारात्मक अनुभूति को अध्यात्म विद्या कहा है। उनके अनुसार "अध्यात्मविद्या वह है जिसमें मुख्यतः अनुभूतिगत वस्तुतत्त्व का विचार किया जाए।"[२] आनन्दघन में अध्यात्म-चिन्तन के साथ-साथ भावात्मक अनुभूति भी है उनके काव्य में बुद्धि और भाव दोनों का सुन्दर समन्वय हुआ है।

इस प्रकार, भावात्मक रहस्यवाद के क्षेत्र में अनुभूति का महत्त्वपूर्ण स्थान है। अनुभूति का अपर नाम अनुभव है। 'अनुभूयेत अनेन इति

1. The Mystical sense May be called philosophical in all these writers who present their convictions in a philosophical form calculated to appeal to the intellect well as to the emotion.
—Mysticism in English Poetry-Spurgion
उद्धृत, कबीर और जायसी का रहस्यवाद और तुलनात्मक अध्ययन, पृ० २०१।

२. डा० राधाकृष्णन्, द हार्ट आफ हिन्दुस्तान, अनुवाद—भारत की अन्तरात्मा, विश्वम्भरनाथ त्रिपाठी, पृ० ६५।

अनुभवः।' अनुभव दो प्रकार का होता है—लौकिक और आध्यात्मिक। इन दोनों में आध्यात्मिक आनन्द का अनुभव ही शुद्धात्मा का अनुभव है। सन्त आनन्दघन ने भी शुद्धात्मा के अनुभव को स्व-समय यानी स्व-स्वरूप-रमणता कहा है।[1] साधना की प्रारम्भिक स्थिति से लेकर उसकी सर्वोच्च स्थिति पर्यन्त यह अनुभव क्रमशः बढ़ता जाता है और एक दिन साधक को कृतकृत्य कर देता है। जैनेन्द्र सिद्धन्त कोश में 'अनुभव' का अर्थ 'प्रत्यक्ष वेदन' दिया है।[2] द्रव्य-संग्रह की टीका के अनुसार स्व-संवेदनगम्य आत्म सुख का वेदन ही स्वानुभव है।[3] वास्तव में, आत्मा का अनुभव स्व-संवेदन द्वारा ही सम्भव है। आत्मा को जानने में अनुभव ही प्रधान है। कवि बनारसीदास के अनुसार 'अनुभव' का लक्षण है :-

वस्तु विचारत ध्यावते, मन पावै विश्राम।
रस स्वादत सुख ऊपजै, अनुभौ याको नाम ॥[4]

आत्मिक रस का आस्वादन करने से जो आनन्द मिलता है उसे ही अनुभव कहते हैं। "इसी अनुभव को जगत् के ज्ञानीजन रसायन कहते हैं। इसका आनन्द कामधेनु और चित्रावेलि के समान है, इसका स्वाद पंचामृत भोजन जैसा है। अनुभव मोक्ष का साक्षात् मार्ग है"।[5] अनुभव-रस की चर्चा आनन्दघन ने भी अधिकांश पदों में की है जिनका उल्लेख पिछले अध्यायों में प्रसंगानुसार किया जा चुका है। अतः यहां विस्तार में जाना उचित नहीं। 'अनुभव-रस' की महत्ता पर प्रकाश डालते हुए वे कहते हैं—

---

१. आनन्दघन ग्रन्थावली, अरजिन स्तवन, २।
२. जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, भाग १, पृ० ८२।
३. द्रव्य संग्रह, टीका, ४२।१८४।
४. बनारसीदास, समयसार नाटक, १७ वां पद्य, पृ० ६।
५. अनुभौ के रस कौं रसायन कहत जग,
अनुभौ अभ्यास यहु तीरथ की ठौर है।
अनुभौ की केलि यहै कामधेनु चित्रावेलि,
अनुभौ को स्वाद पंच अमृत को कौर है॥
—समयसार-नाटक-, बनारसीदास, १९ वां पद्य, पृ० ६।

अवधू ! अनुभव कलिका जागी, मति मेरी आतम सुमिरन लागी ।
अनुभव रस में रोग न सोगा, लोकवाद सब मेटा ॥
केवल अचल अनादि अबाधित, शिव शंकर का भेटा ॥
वरषा बूँद समुंद समानै, खबरि न पावै कोई ।
आनन्दघन ह्वै जोति समावै, अलख लखावै सोई ॥[1]

अनुभवरूपी कलि के विकसित हो जाने पर शुद्ध बुद्धि अनात्म भावों से हटकर आत्म स्मरण में लग जाती है। आत्म-अनुभव-रस में निमग्न साधक के लिए मानसिक एवं शारीरिक किसी भी प्रकार का शोक-सन्ताप नहीं रहता और न उसे निन्दा-स्तुति आदि लोकापवाद का भय रहता है। अनुभव रस में तो केवल बाधारहित, शाश्वत्, स्थिर आत्मा-परमात्मा का मिलन अर्थात् आत्म-साक्षात्कार रहता है। जिस प्रकार वर्षा की बूँद सागर से मिलकर समुद्ररूप हो जाती है उसी प्रकार अनुभव-रस का आस्वादन करने वाले आत्मानुभवी भी आनन्द राशि रूप ज्योति में समा जाते हैं अर्थात् परमात्म-स्वरूप हो जाते हैं। इसलिए वे स्वयं अलक्ष्य हो जाते हैं। किन्तु इस अलक्ष्य रहस्यमय तत्त्व पर विचार एवं लेखनी की गति नहीं होती, केवल अनुभूति ही इस अलक्ष्य तत्त्व का साक्षात्कार करने में समर्थ होती है। एक अन्य पद में आनन्दघन का कथन है कि आत्मानुभव के बिना सम्यग्दर्शन रूप अन्तर्ज्योति प्रकट नहीं की जा सकती और सम्यग्दर्शन रूप आत्म-ज्योति के अभाव में घट में स्थित आत्मदेव के दर्शन नहीं हो सकते। अतः जो साधक आत्मानुभव के द्वारा सम्यग्दर्शन रूप आत्म-ज्योति को आलोकित कर हृदय में विराजित आत्म-मूर्ति (परमात्म-मूर्ति) को देखता है, वही आनन्दपुंज परमात्म पद को प्राप्त करता है।[2] उन्होंने यह भी स्पष्ट रूप से कहा है कि आत्मा को जानने का एक मात्र उपाय अनुभव-ज्ञान है, क्योंकि वह अनुभवगम्य है।[3] समयसार की आत्म-ख्याति टीका में भी कहा है कि यह आत्मा अनुभव से ही जानने योग्य

---

१. आनन्दघन ग्रन्थावली, पद ६० ।

२. आतम अनुभव बिन नहीं जानें, अन्तर ज्योति जगावै ।
घट अन्तर परखे सो ही मूरति, आनन्दघन पद पावै ॥
—आनन्दघन ग्रन्थावली, पद १०३ ।

३. वही, पद ६१ ।

है ।[1] आनन्दघन के पदों में चेतन और समता के विरह-मिलन के सन्दर्भ में भी 'अनुभव' शब्द का बहुलता से प्रयोग हुआ है। इससे स्पष्ट होता है कि भावनात्मक अनुभूतिप्रधान रहस्यवाद में 'अनुभव' का अपना एक विशिष्ट महत्त्व है।

आनन्दघन में केवल साधनात्मक रहस्य-भावना है, प्रत्युत भावनात्मक अनुभूतिमूलक रहस्य-भावना के भी दर्शन होते हैं। वस्तुतः साधनात्मक और भावनात्मक दोनों अनुभूति का सुन्दर समन्वय होने से उनके रहस्यवाद के सम्बन्ध में 'सोने में सुगन्ध' की कहावत पूर्णतः चरितार्थ होती है। भावात्मक अनुभूतिमूलक रहस्यवाद में अध्यात्म की भावनात्मक विवेचना होती है। आनन्दघन की विवेचना स्वानुभूतिपूर्ण तथा अतीन्द्रिय परा-बौद्धिक ज्ञान पर आधारित है। उनकी कृतियों का सम्यक् अवलोकन करने पर ज्ञात होता है कि उनमें आध्यात्मिक अनुभव चरम सीमा पर पहुँच गया है, फलतः उनकी वाणी में भी वही आध्यात्मिकता का पीयूष झर रहा है।

भावप्रधान अनुभूति ही रहस्यवाद का प्राण है। आनन्दघन का मुख्य प्रयोजन शुद्धात्म तत्त्व की अनुभूति है। चेतन (आत्मा) को ममता, माया, मोह, लोभ, राग-द्वेष आदि वैभाविक परिणतियों से मुक्त कर आत्मोपलब्धि कराना है। इसके लिए उन्होंने समता और चेतन को पति-पत्नी का रूपक देकर दर्शन और अध्यात्म के गूढ़वाद (रहस्यवाद) को अतीव मनोरम ढंग से व्यक्त करने की चेष्टा की है।

यद्यपि आनन्दघन जैसे महान् अध्यात्मवेत्ता की स्वानुभूतिपूर्ण रहस्य-भावना की व्याख्या करना सरल नहीं है, क्योंकि उनकी गहरी एवं तीव्र आध्यात्मिक अनुभूति उस परमसत्ता से सम्बद्ध है जो साधारण जन के लिए अदृश्य, अग्राह्य एवं अगम्य है। वस्तुतः आनन्दघन 'आत्मा के प्रेमी' हैं जो कि समग्र अनुभूतियों का केन्द्र है और सम्भवतः इसीलिए उनमें रहस्यवाद के सभी तत्त्व सहज रूप में पाए जाते हैं।

---

१. आत्मात्मानुभवैकगम्यमहिमा
  व्यक्तोऽयमास्ते ध्रुवं ।
नित्यंकर्मकलंकपंक विकलो
  देवः स्वयं शाश्वतः ॥
  —समयसार, पृ० ३८।

रहस्यवाद की अवस्थाएँ

आनन्दघन ने अपने भावात्मक अनुभूतिमूलक रहस्यवाद की अभिव्यक्ति दाम्पत्य-प्रेम के माध्यम से की है। यह सत्य भी है कि आध्यात्मिकता के चरमोत्कर्ष को व्यक्तकरने के लिए रहस्यवादी साधक को रहस्यवाद की विविध अवस्थाओं से गुजरना पड़ता है। इनमें मुख्यतः सर्वप्रथम आत्मतत्त्व की जिज्ञासा की अवस्था है। अन्तर्मन में आत्म-जिज्ञासा उदित होने पर साधक आत्मानुभूति के लिए तड़प उठता है। फलतः उसे यह भेद-विज्ञान हो जाता है कि शरीर और आत्मा भिन्न है। ऐसा आत्मबोध होने पर उसे संसार के समस्त पदार्थ अनाकर्षक प्रतीत होते हैं। ऐसी स्थिति में साधक के अन्तर्मन में केवल एक ही आकांक्षा रहती है—अपने शुद्ध-चेतन रूप प्रियतम से मिलन की। जब तक उसका प्रिय से मिलन नहीं होता है तब तक वह प्रिय के विरह में व्यथित रहता है। आनन्दघन में इस आत्मजिज्ञासा की अवस्था के दर्शन प्रचुर मात्रा में होते हैं। आत्म-जिज्ञासा उनके रहस्यवाद का प्रमुख तत्त्व है। 'आनन्दघन के दार्शनिक आधार' नाम्क अध्याय में हमने 'आत्म-जिज्ञासा' के सम्बन्ध में विस्तार-पूर्वक विचार किया है। यहाँ केवल यह बताना ही अभीष्ट है कि आत्म-जिज्ञासा के पश्चात् ही विरह की अवस्था आती है। आनन्दघन में विरहावस्था के पर्याप्त दर्शन होते हैं। उन्होंने चेतन के वियोग में हृदय की जिस आकुलता और आतुरता का चित्रण किया है उसमें कहीं भी अकृत्रिमता नहीं आने पाई है। उनके विरह-व्यथा के वर्णन अनूठे और स्वाभाविक हैं। उनके अधिकांश पदों में बेचैनी और विवशताओं से भरी हुई मार्मिक वेदना स्वाभाविक रूप से अभिव्यक्त हुई है। एक ओर, साधक प्रिय के विरह में अत्यधिक दुःखित रहता है, दूसरी ओर, वह उसे पाने के लिए विविध प्रकार की साधनाएँ करता है। यही आत्म-परिष्करण की अवस्था है। यह रहस्यवाद की दूसरी अवस्था है। इस अवस्था को रहस्यवाद का साधना-पक्ष कहा जा सकता है, जिसमें साधक योग-साधना के द्वारा परमतत्त्व से तादात्म्य स्थापित करने का प्रयास करता है। इसका विस्तृत विवेचन पिछले अध्याय में किया जा चुका है। साधना के द्वारा आत्मा के परिष्कृत होने पर प्रिय-मिलन की अवस्था आती है। किन्तु इसमें साधक को परमतत्त्व रूप प्रिय के मिलन में अनेकविध विघ्न उपस्थित होने लगते हैं। इस स्थिति में वे समस्त विकृत भाव आते हैं

जो आत्म-साक्षात्कार में बाधक होते हैं। प्रिय-मिलन में बाधा डालनेवाली इस तीसरी अवस्था को विघ्न की अवस्था कहते हैं। जैन-दर्शन की भाषा यह विभाव-दशा या कर्मावरण की दशा है। आनन्दघन के अनुसार प्रिय-मिलन में अन्तराय भूत माया-ममता, मोहिनी तथा घाति कर्मरूपी पर्वत हैं। कबीर तथा अन्य साधकों ने मुख्यरूप से माया को प्रिय-मिलन में विघ्नावस्था के रूप में माना है। जब साधक पूर्णतया माया-ममता, मोहादि से युद्ध कर विजय प्राप्त कर लेता है तब मिलन की स्थिति आती है। इस स्थिति में आत्मा और परमात्मा का चेतन और चेतना (समता) का जो कि अनादि काल से बिछड़े हुए थे, मिलन हो जाता है। तदनन्तर रहस्यवाद की आत्म-समर्पण की अवस्था आती है और फिर रहस्यवाद की अन्तिम अवस्था तादात्म्य अथवा आत्म-साक्षात्कार की हो सकती है, जिसमें साधक का आत्मा स्वयं परमात्मा बन जाता है। इस अवस्था में आत्मा-परमात्मा का तथा चेतन और चेतना का द्वैत भाव समाप्त होकर दोनों में अद्वैत स्थापित हो जाता है। रहस्यवाद की इसी चरमावस्था को प्राप्त करना साधक का मुख्य लक्ष्य है।

सन्त आनन्दघन में रहस्यवाद की उपर्युक्त सभी अवस्थाएँ स्पष्ट रूप में पाई जाती हैं। अतः यहाँ उनका क्रमशः विशद् विवेचन करना समीचीन होगा। किन्तु इसके पूर्व रहस्यवाद की अवस्थाओं के सन्दर्भ में, इविलिन अन्डर हिल के अभिमतानुसार रहस्य-साधना और अनुभूति की जो अवस्थाएँ मानी गई हैं उनका भी नाम-निर्देश करना अप्रासंगिक नहीं होगा।

अण्डरहिल के अनुसार रहस्यवादी साधना के विकास की प्रमुख अवस्थाएँ निम्नांकित हैं :

(१) आत्म-जागृति की अवस्था (अवेकनिंग आफ सेल्फ फार ऐब्सोल्यूट),

(२) आत्म-परिष्करण की अवस्था (प्योरिफिकेशन आफ दि सेल्फ),

(३) आत्म-बोध की अवस्था (इल्यूमिनेशन आफ दि सेल्फ),

(४) आत्म-विघ्न की अवस्था (दि डार्क नाइट आफ दि सोल)।

(५) तादात्म्य (मिलन) की अवस्था (यूनिटी आफ दि सोल)।

अण्डरहिल ने तादात्म्य अथवा आत्म-साक्षात्कार की अवस्था को ही मिलन की अवस्था माना है। वस्तुतः अण्डरहिल और रहस्यवाद के भारतीय आचार्यों द्वारा प्रतिपादित उपर्युक्त अवस्थाओं में विशेष पार्थक्य प्रतीत नहीं होता।

रहस्यवादी साधक इन विभिन्न अवस्थाओं को क्रमशः पार कर कर्मों का नाश करके आत्म-समता से एकता का अनुभव करता है और जब दोनों में एकत्व स्थापित हो जाता है तब आत्मा ही परमात्मा बन जाता है। किन्तु यह स्थिति तभी सम्भव है जब कि आत्मा पूर्णतया विभाव-दशा अर्थात् ममता-माया आदि विकृत चेतन-दशाओं का परित्याग कर स्वभाव-दशा अर्थात् समता के घर में स्थित हो।

आनन्दघन ने अपने को केवल नीरस, शुष्क और दार्शनिक सिद्धान्तों तक ही सीमित न कर चेतन और समता के सम्बन्ध की भावात्मक अनुभूति को दाम्पत्य रूपकों के द्वारा सजीव एवं सरस रूप में अभिव्यंजित किया है। उन्होंने कतिपय पदों में पत्नी के लिए 'समता', 'सुमता',—'सुमति' और कुछ पदों में 'चेतना' (शुद्ध चेतना) शब्द का प्रयोग किया है, किन्तु ये सभी शब्द लगभग एकार्थवाची हैं।

जैनदर्शन में मुख्यरूप से चेतना के दो रूप माने गए हैं—शुद्ध चेतना और अशुद्ध या विकृत चेतना। अशुद्ध चेतना के भी दो भेद हैं—कर्म चेतना और कर्मफल चेतना। ज्ञान चेतना शुद्ध चेतना है जो कि आत्मा का स्व-स्वभाव या स्व-लक्षण है जिसे आनन्दघन के शब्दों में 'समता' कहा गया है। अशुद्ध चेतना को अज्ञान चेतना भी कहते हैं। यह आत्मा की वैभाविक अवस्था है जिसे आनन्दघन ने ममता-माया-मोहिनी आदि नामों से अभिहित किया है। आनन्दघन के रहस्यवाद की अवस्थाओं के विवेचन में हम पत्नी के लिए 'समता' और पति (प्रियतम) के लिए 'चेतन' शब्द का ही उल्लेख करेंगे, क्योंकि 'चेतना' की अपेक्षा 'समता' शब्द उनके पदों में सर्वाधिक प्रयुक्त हुआ है।

साधनात्मक रहस्य-भावना के द्वारा जब साधक की अन्तर्दृष्टि खुल जाती है तब उसकी समत्व रूप आत्मा साध्य रूप शुद्धात्म-तत्त्व से

---

१. कबीर और जायसी का रहस्यवाद और तुलनात्मक विवेचन, पृ० ३२८-२९।

साक्षात्कार करने के लिए आतुर हो उठती है और उस साक्षात्कार की अभिव्यक्ति के लिए वह रूपकों-प्रतीकों आदि साहित्यिक विधाओं का अवलम्बन खोज लेती है। यही कारण है कि आनन्दघन की अभिव्यक्ति के निर्झर से चेतन और समता सम्बन्धी प्रेम का भी सरस प्रभाव झरता हुआ दिखाई देता है। अतः उनमें रहस्यभावना की अभिव्यक्ति प्रियतम और प्रिया का रूप धारण कर लेती है। मध्यकालीन जैन एवं जैनेतर सन्तों, साधकों एवं कवियों की भाँति आनन्दघन ने भी चेतन और समता का तथा आत्मा और परमात्मा का प्रिय-प्रेमी के रूप में चित्रण किया है।

प्रेम और विरह का सम्बन्ध

वास्तव में प्रेम और विरह का बहुत घनिष्ठ सम्बन्ध है। दोनों को एक दूसरे से पृथक् नहीं किया जा सकता। कवि उसमान ने प्रेम और विरह के सम्बन्ध के विषय में कहा है कि—

जहाँ प्रेम तहँ विरहा जान हु।[1]

जहाँ प्रेम है वहाँ विरह है। सन्त आनन्दघन ने भी प्रेम और विरह दोनों पर अनेक पदों और साखियों में अपने उद्‌गार व्यक्त किए हैं। प्रेम ही विरह का, वियोग का उत्स है। आत्मा के वियोग में होने वाली तीव्र वेदना को विरह कहा जाता है तो आत्मा से मिलन की अक्षुण्ण उत्कण्ठा प्रेम है। आनन्दघन की रचनाओं में इसी आध्यात्मिक प्रेम और विरह का चित्रांकन हुआ है। अतः उनमें वर्णित प्रेम-तत्त्व पर भी किंचित् प्रकाश डालना उपयुक्त होगा।

अनन्य प्रेम

प्रेम में अनन्यता नितान्त जरूरी है। आत्मानुभवी साधक को परमात्मप्रिय के अतिरिक्त कुछ दिखाई ही न दे, तभी वह विशुद्ध प्रेम कहा जा सकता है। ऐसे साधक के लिए तो इस जगत् में केवल परमात्मा या शुद्धात्मा ही पति है। परमात्म-प्रिय को छोड़कर वह अन्य किसी की चाह नहीं करता है। प्रेम की अनन्यता का सर्वोत्कृष्ट उदाहरण आनन्दघन के 'ऋषभ जिनेसर प्रीतम माहरो, और न चाहूँ रे कंत' स्तवन में स्पष्टतः देखा जा सकता है। न केवल आनन्दघन ने परमात्मा से प्रीति करने के

१. कबीर साहब, संपा०, विवेकदास, पृ० ३८२।

सम्बन्ध में कहा है, प्रत्युत उपाध्याय यशोविजय एवं देवचन्द्र जी म० आदि ने भी प्रभु से प्रीति करने हेतु कहा है। देवचन्द्र जी म० ने भी आनन्दघन की भाँति चौबीसी की शुरुआत परमात्म-प्रीति से की है। वे लिखते हैं :

ऋषभ जिणंदशुं प्रीतड़ी।
प्रीति अंती पर थकी, जे तोड़े हो ते जोड़े एह।
परम पुरुष थीं रागता, एकत्वता हो दाखी गुण गेह ॥[1]

वस्तुतः अलौकिक प्रेमजन्य तल्लीनता ऐसी विलक्षण होती है कि द्वैतभाव या द्विधा भाव ही समाप्त हो जाता है। इस सम्बन्ध में आनन्दघन की यह मान्यता है कि जहाँ विशुद्ध आत्म-प्रेम होता है, वहाँ द्वैतभाव टिक ही नहीं सकता और न अहं की भावना विद्यमान रह सकती है ?[2] अपरोक्षानुभूतिजन्य प्रेम तत्त्व का प्रत्यक्ष अनुभव कर लेने के बाद द्वैतभाव समाप्त हो जाता है। आत्मा का यह अनुभवगम्य प्रेममय रूप ही रहस्यवाद का केन्द्र बिन्दु है। प्रेम जीवन की सबसे व्यापक वृत्ति है, क्योंकि प्रेम अनुभूति साध्य-विषय है। किन्तु प्रेम दो प्रकार का होता है—एक लौकिक अर्थात् ऐन्द्रिक वासनाजन्य प्रेम और दूसरा अतीन्द्रिय-अलौकिक या आध्यात्मिक प्रेम। आध्यात्मिक अनुभूति के क्षेत्र में आनन्दघन ने जिस प्रेम की चर्चा की है, वह वासनाजन्य प्रेम न होकर विशुद्ध-आत्मिक-प्रेम है। इसे आध्यात्मिक, अलौकिक और निरुपाधिक आत्म-प्रेम कह सकते हैं। प्रेम के सम्बन्ध में किसी को भ्रान्ति न हो एतदर्थ आनन्दघन ने स्पष्ट कहा है कि आत्म-अनुभव रूप प्रेम का वृत्तान्त कुछ निराला ही सुना जाता है। यह कोई साधारण सांसारिक प्रेम नहीं है जिसे प्रत्येक व्यक्ति अनुभव कर सके। आत्मानुभव रूपी प्रेम को तो स्त्री-पुरुष और नपुंसक—इन तीन वेदों से रहित निर्वेदी आत्म-ज्ञानी अथवा केवल ज्ञानी ही जान सकता है, अनुभव कर सकता है और जिसने एक बार इसका आस्वादन कर लिया है वह अनन्त काल तक इसका सम्वेदन करता रहता है —

आतम अनुभव प्रेम को, अजब सुण्यो विरतंत।
निरवेदन वेदन करे, वेदन करे अनंत ॥[3]

---

१. ऋषभजिन स्तवन, चतुर्विंशति जिन स्तवन, सं० उमरावचन्द जरगढ़।

२. प्रेम जहां दुविधा नहीं रे, नहीं ठकुराइत रेज।
—आनन्दघन ग्रन्थावली, ३६।

३. आनन्दघन ग्रन्थावली, पद ७५।

इतना ही नहीं, आत्म-प्रेम के सम्बन्ध में उनका कथन है कि साधक रूप सुहागिन के हृदय में निर्गुण-ब्रह्म-शुद्ध आत्मा की अनुभूति से ऐसा प्रेम जगा है कि अनादिकाल से चली आनेवाली अज्ञान की नींद समाप्त हो गयी। हृदय के भीतर भक्ति के दीपक ने एक ऐसी सहज ज्योति को आलोकित किया है जिससे अहंकार स्वयं दूर हो गया है और अनुपम वस्तु प्राप्त हो गयी। प्रेम एक ऐसा अचूक तीर है कि जिसे लगता है वह स्व-स्वरूप में स्थिर हो जाता है। वह एक ऐसी वीणा का नाद है, जिसे सुनकर आत्मारूपी मृग चरना भूल जाता है। प्रभु तो प्रेम से मिलता है, उसकी कहानी कही नहीं जा सकती :—

> सुहागनि जागी अनुभौ प्रीति।
> नींद अनादि अज्ञान की मेटि गही निज रीति ॥
> दीपक घट मंदिर कियो, सहज सुजोति सरूप।
> आप पराई आपुही, ठानत वस्तु अनूप ॥
> कहा दिखावुं और कुं, कहा समझावुं भोर।
> तीरन चूकै प्रेम का, लागै सो रहै ठोर ॥
> नाद विलूधों प्रान कुं, गिनै न त्रिण मृग लोइ।
> आनन्दघन प्रभु-प्रेम की, अकथ कहानी कोइ ॥[1]

आनन्दघन के समक्ष समस्या यह है कि जिन्होंने आत्मानुभव रूपी प्रेम का रसास्वादन ही नहीं किया है ऐसे भोले प्राणियों को उसके सम्बन्ध में कैसे समझाया जाय और इस अनुभव-प्रीति को उन्हें कैसे दिखाया जाय, क्योंकि यह आध्यात्मिक-प्रेम अतीन्द्रिय होने से आँखों से दिखाई नहीं देता और वाणी द्वारा इसका कथन नहीं किया जा सकता। फिर भी, इस सम्बन्ध में लौकिक उदाहरण द्वारा इतना इंगित किया जा सकता है कि यह अनुभव रूपी प्रेम का तीर तो इतना पैना है कि जिसे लग जाता है, वह वहीं स्थिर हो जाता है अर्थात् अनुभव-प्रेम का तीर लगने के पश्चात् परिणामों की चंचलता मिट जाती है और साधक स्व-स्वभाव में स्थित हो जाता है फिर उसे अन्य किसी बाह्य-भावों में रुचि नहीं रहती। जिस प्रकार गायन (नाद) में आसक्त हुआ हरिण अपने प्राणों की तनिक भी परवाह नहीं करता, उसी तरह आनन्द रूप प्रभु-प्रेम में तल्लीन साधक अपने प्राणों की किंचित् भी चिन्ता नहीं करता। प्रभु-प्रेम की कथा तो अनि-

---

१. आनन्दघन ग्रन्थावली, पद ५४।

र्वचनीय है, अकथ है—कही नहीं जा सकती। इसलिए भी अकथ्य है कि न कहने पर साधारणतया विश्वास नहीं किया जाता। न केवल आनन्दघन ने ही 'प्रेम-तीर' लगने की बात कही है, प्रत्युन कबीर और जायसी ने भी इसका उल्लेख किया है। कबीर ने सबद को ही तीर मान कर कहा है:—

सारा बहुत पुकारिया पीड़ पुकारै और।
लागी चोट सबद की, रह्या कबीरा ठौर ॥[1]

जायसी के अनुसार 'प्रेम-बाण' का घाव अत्यधिक दुःखदायी होता है। जिसे लगता है वह न तो मर ही पाता है और न जीवित ही रह पाता है। बड़ी बेचैनी सहता है।[2] यहां द्रष्टव्य यह है कि आनन्दघन के प्रेम-तीर में यह विशिष्टता है कि उसे शब्दों में बताया नहीं जा सकता, मात्र अनुभव किया जा सकता है। साथ ही, इस तीर के लगने पर साधक में पीड़ा या बेचैनी नहीं होती, बल्कि वह स्व-स्वभाव में स्थिर हो जाता है, आत्मस्थ हो जाता है।

आनन्दघन ने आध्यात्मिक प्रेम के क्षेत्र में 'प्रेम के प्याले' की बात भी खूब मार्मिक ढंग से कही है। इस सम्बन्ध में उनका कथन है कि प्रेम का यह प्याला अगम्य है अर्थात् रहस्यमय है। इस प्रेम-प्याले को तो अध्यात्म में निवास करनेवाला योगी ही प्राप्त कर सकता है और फिर इसे पीकर मतवाला हुआ यह आनन्द समूह रूप चेतन ऐसा खेल खेलता है कि सारा संसार तमाशा देखता है। प्रेमरूपी रस से भरा हुआ यह प्याला तन की भट्टी में ब्रह्मरूपी अग्नि पर औटाया जाता है और उस सत्त्व का पान करने पर अनुभव की लालिमा सदैव फूटती रहती है।[3] कवि भूधरदास ने तो सच्चा अमली उसी को माना है, जिसने प्रेम का प्याला पिया है।[4] इस

१. कबीर ग्रन्थावली, सबद कौ अंग, पृ० ६४।
२. प्रेमघाव दुख जाने न कोई।
जेहि लागै जानै ते सोई।
कठिन मरन ते प्रेम बेवस्था,
ना जिउ जियै न दसवं अवस्था ॥
—जायसी ग्रन्थावली, प्रेमखण्ड, पहली चौपाई, पृ० ४९।
३. आनन्दघन ग्रन्थावली, पद ५८।
४. गांजारू भांग अफीम है, दारू शराब पोशना।
प्याला न पीया प्रेम का, अमली हुआ तो क्या हुआ ॥
—भूधरदास, भूधरविलास, ५० वी गजल, पृ० २८।

तरह 'प्रेम के प्याले' की चर्चा कबीर और जायसी में भी उपलब्ध होती है। जायसी के प्याले में बेहोशी अधिक है,[1] जबकि आनन्दघन के प्रेम-प्याले में मस्ती अधिक है। उसमें प्रेमी का जागरण है। आनन्दानुभव रूप प्याले को पीकर प्रेमी-भक्त बेहोश या मूर्च्छित नहीं होता, अपितु वह जागृत रहता है।

आत्म-प्रेमी आनन्दघन ने 'प्रेम के प्याले' खूब पिये हैं और अधिकांश पदों में इसका निर्देश किया है। आनन्दघनरूपी समता प्रिया ने प्रेम का प्याला पी-पीकर ही अपने विरह के सब दिन व्यतीत किए हैं।[2] किन्तु उनका यह प्रेम सस्ती भावुकता नहीं है और न बाजारू सौदा है। उनके अनुसार यह प्रेम का सौदा (व्यापार) बड़ा ही अगम्य (रहस्यमय) है। इसे कोई विरला पुरुष ही परीक्षापूर्वक समझ पाता है। जो हृदय लेता है और देता है, वही इसके रहस्य-मर्म को जान पाता है। दूसरे शब्दों में, अपने निजी अनुभव से ही इसकी जानकारी हो पाती है। जो इसमें रहता है, उसी को इसका रहस्य विदित होता है। समता और चेतन के प्रेम के बीच किसी मध्यस्थ की आवश्यकता नहीं होती। इस सम्बन्ध में आनन्दघन की ये पंक्तियाँ मननीय हैं :

> रिसानी आप मनावो रे, बीच बसोठ न फेर।
> सौदा अगम प्रेम का रे, परिख न बुझै कोय।
> लै दै वाही गम पड़े प्यारे, और दलाल न होय।।[3]

आनन्दघन के उक्त कथन का सार यह है कि यह प्रेम समता और आत्मा का है। इसमें किसी 'पर' के निमित्त की आवश्यकता नहीं, क्योंकि समता और आत्मा तत्त्वतः पृथक्-पृथक् सत्ता नहीं है, अपितु समता आत्मा का ही स्व-स्वरूप है। अतः यह प्रेम स्वाश्रित है, आत्मा का आत्मा के प्रति शुद्ध प्रेम है।

---

१. जोगी दृष्टि सो लीना
नैन रोपि नैनाहिं जिउ दीन्हा।
जाहि मद चढ़ा परातेहि पाले,
सुधि न रही ओहि एक प्याले।।
—जायसी ग्रन्थावली, वसन्त खण्ड, १२ वीं चौपाई, पृ० ८४।

२. आनन्दघन ग्रन्थावली, पद १८।

३. वही, पद ३६।

वास्तव में, आनन्दघन ने अनन्य प्रेम को जिस-तरह आध्यात्मिक पक्ष में घटाया है, वह अनुपम एवं अद्वितीय है। अतः संक्षेप में कह सकते हैं कि आनन्दघन के अनुभूतिमूलक भावात्मक रहस्यवाद में प्रेम-तत्त्व की विशद् एवं व्यापक विचारणा हुई है। यहां यह स्पष्ट कर देना उचित प्रतीत होता है कि यद्यपि उनका यह अनन्य प्रेम आध्यात्मिक एवं अलौकिक है, तथापि जन-साधारण के लिए उन्हें इस आध्यात्मिक प्रेम की अनुभूति को दाम्पत्यमूलक रूपकों के माध्यम से अभिव्यक्त करना पड़ा है।

यहाँ सहज प्रश्न उठ सकता है कि उच्चकोटि के पहुंचे हुए आनन्दघन जैसे आध्यात्मिक सन्त को अध्यात्म के क्षेत्र में आत्म-ब्रह्म-प्रेम को लौकिक सम्बन्धों के द्वारा व्यक्त करने की आवश्यकता क्यों हुई? इसका उत्तर सीधा है। आध्यात्मिक प्रेम की अनुभूति को ज्यों का त्यों शब्दों में प्रकट करना कठिन होता है। बिना रूपकों-प्रतीकों की सहायता लिए आध्यात्मिक अनुभूतियों को सामान्य शब्दों में अभिव्यक्त नहीं किया जा सकता। आनन्दघन यदि रूपकों की सहायता नहीं लेते तो उनकी रहस्यमय स्वानुभूति की अभिव्यक्ति ही नहीं हो पाती और वह जन-साधारण की समझ में भी नहीं आती। यही कारण है कि उन्होंने दाम्पत्य रूपकों का आश्रय लेकर प्रेमपूर्ण सात्त्विक भावों की अनुभूति व्यक्त की किन्तु उसमें विलासिता की कहीं भी गन्ध नहीं आने पाई है। जैन-महाकाव्यों में सीता, अंजना, राजुल आदि सतियों का सौन्दर्य, उनका प्रेम और विरह-मिलन वर्णित है किन्तु सब कुछ शील के ऐसे धागे में आबद्ध है कि उसमें कहीं भी अश्लीलता नहीं आने पाई है। उसी प्रकार आनन्दघन के मुक्तक पदों में प्रेम, विरह-मिलन आदि से सम्बद्ध दाम्पत्यमूलक रूपक ऐसे बाँधे गए हैं कि वे मात्र चेतन और समता के आध्यात्मिक प्रेम को ही प्रकट करते हैं आध्यात्मिकता के अतिरिक्त उनमें कहीं भी विलासिता या भौतिकता को नहीं जोड़ा गया है। वास्तव में, उनके पदों में जहाँ-जहाँ प्रेमतत्त्व का उल्लेख हुआ है, वह नर-नारी का प्रेम न होकर चेतन और समता अथवा आत्मा और परमात्मा का विशुद्ध निरुपाधिक प्रेम है। स्वयं आनन्दघन ने लौकिक और आध्यात्मिक प्रेम के अन्तर को स्पष्ट करते हुए कहा है:

प्रीत सगाई रे जगमां सहु करै, प्रीत सगाई न कोय।
प्रीत सगाई रे निरुपाधिक कही, सोपाधिक धन खोय ॥[1]

१. आनन्दघन ग्रन्थावली, ऋषभजिन स्तवन ।

संसार में प्रेम-सम्बन्ध सभी करते हैं किन्तु यथार्थतः वह प्रेम-सम्बन्ध नहीं है, क्योंकि संसार का यह प्रेम-सम्बन्ध उपाधियों से जुड़ा हुआ (कण्डीशनल) है। अतः क्षणिक है, नश्वर है। साथ ही, आत्म-गुण रूप सम्पदा को विनष्ट करने वाला है। इसीलिए आनन्दघन की दृष्टि में सच्चा प्रेम-सम्बन्ध वही है, जिसमें निरुपाधिकता हो, जो स्वाश्रित हो, अनश्वर हो। जहां प्रेम-सम्बन्ध औपाधिक (कण्डीशनल) होता है, वहां आत्म-प्रेम नहीं हो सकता। इस प्रकार, आनन्दघन की कृतियों में आत्म-ब्रह्म-प्रेम की विशुद्धता का सम्यक् निरूपण हुआ है। वास्तव में उनका प्रेम बड़ा ही निर्मल और अनिर्वचनीय है।

विरह का स्वरूप

'विरह का अर्थ है वह एकाकीपन का भाव जिसमें जीव अपने मूल से 'वि' अर्थात् विशेष रूप से 'रह' –रहित होने के कारण तीव्र वेदना का अनुभव करता है।'[1] आध्यात्मिक प्रेम में आध्यात्मिक विरह का प्राधान्य रहता है। विरह एक आन्तरिक वेदना है जिसको किसी बाह्य लक्षण से समझना सामान्यतया कठिन है। विरह के दो रूप हैं—एक लौकिक और दूसरा आध्यात्मिक। लौकिक विरह को कदाचित् बाह्य लक्षणों के द्वारा समझा भी जा सकता है किन्तु आध्यात्मिक विरह को समझना अतीव दुष्कर है। विरह चाहे लौकिक हो या आध्यात्मिक, वह सर्वथा व्यक्तिगत अनुभव होता है। इस विरह ताप के वेदनात्मक स्वरूप की अत्यन्त विशद् व्यंजना आनन्दघन की वाणी में मुखरित हुई है। उन्होंने प्रकृति पशु-पक्षी आदि उद्दीपनों द्वारा विरहिणी आत्मा की व्यथा को बड़े ही मार्मिकता से व्यक्त किया है। जो वेदना, जो कोमलता, जो सरलता, जो गम्भीरता तथा जो अकृत्रिमता आनन्दघन के पदों में दृष्टिगत होती है, वह सम्भवतः कबीर और बनारसीदास के अतिरिक्त अन्यत्र दुर्लभ है। काव्य की दृष्टि से आनन्दघन का विरह-वर्णन अनूठा है।

आनन्दघन के पदों को पढ़ने पर ऐसा लगता है कि उनका हृदय कितना कोमल और 'प्रेम की पीर' से भरा था। उनके समस्त पदों में गूढ़ता और गम्भीरता विलक्षणरूप में दिखाई देती है। विरह आशा के अवलम्बन पर जीवित रहता है। जिससे आज विछोह है, वियोग है, कल

---

१. कबीर साहब, पृ० ३८१।

उससे मिलन भी होगा, यह आशा ही प्रेमी का एक मात्र सहारा है। कबीर, मीरा और बनारसीदास की भांति आनन्दघन की आत्मा भी अपने प्रियतम के वियोग में व्याकुल दिखाई देती है। आनन्दघन ने समता-प्रिया के विरह व्यथित हृदय के मनोभावों का सुन्दर चित्रण किया है। यद्यपि उन्होंने मिलन, साक्षात्कार, आत्मसमर्पण आदि रहस्यवाद की विविध अवस्थाओं पर प्रकाश डाला है, तथापि विरह उनका प्रमुख तत्त्व रहा है। उनके अधिकांश पद विरह-वेदना से ही सम्बद्ध हैं। यही कारण है कि उन्होंने आध्यात्मिक क्षेत्र में विरह की विविध अवस्थाओं के अनुपम चित्र खींचे हैं।

इससे स्पष्ट होता है कि आनन्दघन के भावात्मक रहस्यवाद में विरह-तत्त्व का महत्त्वपूर्ण स्थान है। ऐसा प्रतीत होता है कि विरह की अग्नि में ही वे कर्म, माया-ममता आदि वैभाविक परिणतियों को भस्म कर आत्मोपलब्धि चाहते हैं।

विरह से साधक की आत्मा पूर्ण परिष्कृत हो जाती है। यही बात सूफी कवि उसमान ने इस प्रकार कही है कि "साधक विरहाग्नि में जलकर कुन्दन के समान जाज्वल्यमान हो उठता है, उसका शरीर पूर्णतः शुद्ध एवं निर्मल हो जाता है।"[1] यह विरह-तत्त्व रहस्यवादी साधना में अत्यधिक महत्त्व रखता है। आनन्दघन की विरह-व्यथा कबीर की अपेक्षा अधिक सरस, कोमल, भावमय, व्यापक और संवेदनात्मक है।

विरह के द्वारा वेदना की तीव्रता

आनन्दघन की समता-प्रिया आध्यात्मिक विरह में इतनी लीन है कि अपने चेतन रूप प्रियतम के वियोग में शारीरिक-मानसिक सुध-बुध ही खो बैठती है। वस्तुतः विरह-साधना में लीन साधक की ऐसी दशा होना स्वाभाविक है। आनन्दघन रूपी समता-प्रिया की विरहावस्था में होने वाली असीम वेदना का चित्रण द्रष्टव्य है—

पिया बिन सुध बुधि भूली हो।
आंखि लगाइ दुःख महल के, झरोखे झूली हो॥

---

१. बिरह अगिनि जरि कुन्दन होई।
निर्मल तन पावै प सोइ॥
—उसमान

हंसती तबहु विराणियां, देखी तन-मन छीज्यो हो ।
समुझी तब एती कही, कोई नेह न कीज्यो हो ।।[१]

समता-प्रिया चेतन रूप प्रिय के बिना अपनी सारी सुध-बुध विस्मृत कर बैठी है। उसका पति बाहर विभाव-दशा में चला गया है। अतः वह दुःखरूपी महल के झरोखे में बैठकर टकटकी लगाकर प्रिय के आगमन की प्रतीक्षा में तप रही है। जब उसे पति-वियोग का अनुभव नहीं था, तब वह पति-वियोगिनी अन्य स्त्रियों को तन से क्षीण और मन से दुःखित होती हुई देखकर हंसी किया करती थी। किन्तु जब स्वयं को इसका अनुभव हुआ तब उसके मुंह से केवल इतना ही निकला कि 'कोई नेह न कीज्यो हो' इसका कारण यह है कि स्नेही का वियोग जितना अधिक दुःख-दायी होता है, उतना अन्य किसी का नहीं। यह नितान्त सत्य है कि शुद्धात्मरूप प्रिय के प्रेम-स्वरूप का जिसने अनुभव किया है, वही साधक उसके वियोग में व्यथित होता है। आनन्दघन ने शुद्धात्म-प्रिय के प्रेम-रूप को जाना है तभी उसके मुखारविन्द से एक प्रिय-प्रेम वियोगी के रूप में विरहमय उद्गार निःसृत हुए हैं। आनन्दघन यहां इसी विरहजन-व्यथा का चित्रांकन कर रहे हैं। वे कहते हैं :

प्रीतम प्रानपति बिना, प्रिया कैसे जीवै हो ।
प्रान-पवन विरहा-दशा, भुअंगनि पीवै हो ।।[२]

समता-प्रिया चेतन-प्रियतम के बिना कैसे जीवित रह सकती है ? क्योंकि विरह सर्प के सदृश भयंकर होता है। विरह रूप सर्प उसकी प्राण-वायु को पी रहा है। तात्पर्य यह है कि शुद्ध चेतन के अभाव में समता के चैतन्य प्राण नहीं रह सकते। समता और चेतन कदापि पुष्प और उसकी सुवास की भांति अलग नहीं हो सकते। जहां चेतन है, वहां समता है और जहां समता है वहां चेतन है क्योंकि समता चेतना (आत्मा) का स्वलक्षण है, स्व-स्वभाव है। विरह-दशा में सुखदायक वस्तुएं भी दुःख बढ़ाती हैं। इसीलिए कहा है—

सीतल पंखा कुमकुमा, चन्दन कहा लावै हो ।
अनल न विरहानल यह है, तन ताप बढ़ावै हो ।।[३]

---

१. आनन्दघन ग्रन्थावली, पद २६ ।

२. वही, पद २६ ।

३. वही, पद २६ ।

शीतल पंखा, कुमकुम, चन्दन आदि वस्तुओं से विरह की आग और भी भड़कती है। शीतल पवन से विरह की अग्नि शान्त नहीं होती, अपितु वह तन-ताप को और बढ़ाती है। सामान्य अग्नि और विरहाग्नि में यही अन्तर है कि पहली शीतल पदार्थों से शान्त हो जाती है जबकि दूसरी शीतल पदार्थों से अधिक प्रज्ज्वलित हो उठती है। ऐसी ही दशा में फाल्गुन माह आ गया। इस माह में चांचर गायक एक रात्रि को होली जलाकर आनन्द मनाते है, किन्तु समता-प्रिया क्या करे, उसका पति बाहर विभाव-दशा में घूम रहा है, अतः उसका विरह फूट पड़ा :

फागुन चाचरि इक निसा, होरी सिरगानी हो।
मेरे मन सब दिन जरै, तन खाक उड़ानी हो ॥[1]

चांचर गायक तो केवल एक ही दिन होली जलाते हैं किन्तु उसके (समता-प्रिया के) मन में तो विरह की होली दिन-रात जल रही है और इससे उसका शरीर राख (खाक) होकर उड़ा जा रहा है।

इसी प्रकार निम्नांकित पद में भी विरहजनित व्यथा की कथा को बड़े मार्मिक ढंग से कहा गया है। इसमें आनन्दघन रूप समता विरहिणी की मनोव्यथा का सुन्दर चित्र खींचा है।

पिया बिन सुधि बुधि मूंदी हो।
विरह भुयंग निसा समै, मेरी से जड़ी खूंदी हो ॥

वस्तुतः प्रस्तुत पद 'पिया बिन सुधि बुधि मूंदी हो' और इसके पूर्व की 'पिया बिन सुध-बुधि भूली हो' पंक्तियों के भावों में बहुत कुछ साम्य है। प्रारम्भ की दोनों पंक्तियों का भाव लगभग समान ही प्रतीत होता है। वहाँ विरह रूप सर्प प्रिया के प्राण-वायु को पी रहा है तो यहाँ रात के समय विरहरूप सर्प ने प्रिया की शैय्या को रौंद कर अस्त-व्यस्त कर दिया है। इसके अतिरिक्त उसमें फाल्गुन माह की चर्चा है तो यहाँ श्रावण-भादों की बात है। समता-प्रिया अपनी विरहावस्था का चित्रण इससे भी अधिक वेधक शब्दों में करती है :—

भोयन पान कथा मिटी किसकूं कहूं सधी हो।
आज काल घर आवन की, जीउ आस बिलूंधी हो ॥[2]

---

१. आनन्दघन ग्रन्थावली, पद २६।

२. वही, पद ३२।

विरहावस्था में भोजन और जल-पान करना तो दूर रहा, किन्तु उस विषयक चर्चा ही मिट गई। किन्तु यह बात किसको कही जाय और कहे भी तो कोई विश्वास नहीं कर सकता। वास्तव में जहाँ समता-प्रिया प्रिय के वियोग में अपनी सुध-बुध ही भूल गई है, वहाँ खाने-पीने की कथा का तो प्रश्न ही नहीं उठता। यद्यपि ममता के घर से आज कल में ही चेतन रूप प्रियतम के घर आने की आशा थी और इसी आशा के सहारे अब तक उसने अपने प्राण टिकाए रखे किन्तु अभी तक प्रियतम का आगमन नहीं हुआ है।

विरह के अश्रुपात

इससे उसकी विरह-वेदना और अधिक बढ़ती जा रही है और नेत्रों से अश्रुओं की धारा बह पड़ी। अश्रुओं का विरह-वेदना में बहुत महत्त्व है। विरह-वेदना बढ़ने पर आँसू झरने लग जाते हैं। इसीलिए सन्त आनन्दघन ने भी विरहिणी की साश्रुअवस्था के चित्र चित्रित किए हैं। एक चित्र है—

> वेदन विरह अथाह है, पानी नव नेजा हो।
> कौन हबीब तबीब है, टारै करक करेजा हो॥
> गाल हथेली लगाइ कै, सुरसिंधु हमेली हो।
> अंसुवन नीर बहाय कै, सींचू कर बेली हो॥[1]

विरह की पीड़ा अथाह है। फलतः विरहिणी की अन्दर धँसी हुई आँखों से अश्रु रूप जल ऐसा लग रहा है, जैसे किसी गहरे में जल दिखाई देता है। ऐसा कौन सद्गुरुरूपी वैद्य या हकीम है जो उसके कलेजे में होनेवाली कसक को दूर कर सके। वर्तमान में सद्गुरुरूपी वैद्य हकीम की दुर्लभता के परिणामस्वरूप वह गाल पर हाथ रखकर प्रिय के विचारों में शोक-मग्न होकर वेदना-समुद्र में गोते खा रही है अथवा गाल पर हथेली रखकर नेत्रों में से अश्रुरूप नीर बहाकर मानो वह हस्तरूपी लता को सींच रही है। इसी साश्रु अवस्था का एक ओर चित्र आनन्दघन ने 'भादु कादुं मइं कीयउ प्यारे, अंसुवन धार बहाय'[2] वाले पद में भी चित्रित किया है। इससे वे कहते हैं कि भाद्रपद में जब घनघोर वर्षा होती है और

१. आनन्दघन ग्रन्थावली, पद ३२।

२. वही, पद ३०।

मेघ के बरसने से चारों ओर कीचड़ हो जाता है, तब बादलों को बरसते देख विरहिणी के नयनों से भी आँसुओं की झड़ी लग जाती है और फल-स्वरूप आँसुओं के अत्यधिक बहने से उसके समीप कीचड़ हो जाता है।

वास्तव में आध्यात्मिक विरह की वेदना अथाह होती है। एक ओर विरहिणी की आँखों में से अश्रुधारा का प्रवाह चालू है तो दूसरी ओर उसका हृदय-सरोवर एकदम सूखा हुआ है। इस सम्बन्ध में आनन्दघन रूप समता-विरहिणी का कथन है कि श्रावण-भादों में चारों ओर घनघोर घटाएँ छायी हुई हैं और बीच-बीच में बिजली भी चमक रही है। इस समय समस्त नदियाँ-नाले और तालाब भरे हुए हैं, किन्तु प्रिय के वियोग में मेरा हृदयरूपी सरोवर तो आनन्द-जल से नितान्त रिक्त है—

श्रावण-भादू घनघटा, बिच बीज झबूका हो।
सरिता सरवर सब भरै, मेरा घट सर सूका हो॥[1]

साथ ही साथ पिय-पिय की रटन को पपीहे की वाणी से सम्बद्ध कर विरह का जीता-जागता चित्र आनन्दघन ने प्रस्तुत किया है। देखिए—

मिलापी आन मिलावो रे, मेरे अनुभव मीठडे मीत।
चातिक पिउ पिउ करै रे, पीउ मिलावे न आन।
जीव पीवन पीउं पीउं करै प्यारे, जीउ निउ आन अयान॥[2]

समता-प्रिया कहती है कि हे अनुभव मित्र! अब तुम चेतनरूप प्रिय को लाकर मुझसे मिला दो। मेघरूप प्रिय के सम्मुख देखकर पपीहा भी पिउ-पिउ (प्रिय-प्रिय) शब्दों का रटन कर रहा है, किन्तु प्रिय को लेकर मिलाता नहीं है। पपीहे की पिउ-पिउ की तान को सुनकर मेरा जीवरूपी पपीहा भी अपने जीवनधनरूपी प्रिय को घर पधारने के लिए 'पिउ-पिउ' (प्रिय-प्रिय) की ध्वनि अनवरत कर रहा है। वास्तव में प्रिय के अभाव में विरहिणी सदैव दुःखी रहती है और अपनी सुध-बुध खोकर वह इधर-उधर घूमती रहती है। प्रियतम के अतिरिक्त उसके तन-मन की पीड़ा को कौन समझ सकता है? और वह किसके सामने रुदन कर अपनी इस विरह-व्यथा को दिखाए। रात्रि भी अपने मुख के तारे रूपी दाँत को दिखाकर

१. आनन्दघन ग्रन्थावली, पद ३२।

२. वही, पद ३०।

मानो विरहिणी की हँसी कर रही है। इससे उसने रो-रोकर अपने आस-पास मानो भाद्रपद में होनेवाले कीचड़ की भाँति कीचड़ कर लिया है। इतना ही नहीं, प्रत्युत उसकी चित्तरूपी चक्की चारों तरफ घूम रही है जिसने उसके प्राणों को पीस कर मैदा बना दिया है। ऐसी स्थिति में वह अपने चेतनरूप प्रियतम से अनुरोध करती है कि हे प्रभो ! अब तुम इस अबला के प्रति अधिक कठोर मत बनो और शीघ्र आकर मुझे दर्शन दो—

> दुखियारी निस दिन रहूँ रे, फिरूँ सब सुधि बुधि खोइ।
> तन की मन की कवन लहै प्यारे, किसहि दिखावुं रोइ ॥
> निसि अँधियारी मोहि हँसैरे, तारे दाँत दिखाय।
> भादु कादुं मइं कीयउ प्यारे, अंसुवन धार बहाय ॥
> चित चाकी चिहू दिसि फिरै रे, प्रान मैदो करै पीस।
> अबला सइं जोरावरी प्यारे, एतो न कीजै ईस ॥[1]

विरहिणी का अन्तस् विरह-व्यथा के क्रम को आगे भी जारी रखता है। आनन्दघन रूप समता-विरहिणी को विरह-व्यथारूपी भाद्रपद की घनघोर रात्रि एक कटार के समान प्रतीत होती है जो उसकी छाती को क्षण-क्षण में विदीर्ण कर रही है। किन्तु कभी-कभी प्रियतम की सुन्दर छवि को देखकर उसका हृदय प्रेम से विभोर हो उठता है और मुख से 'पिया-पिया' की ध्वनि निकल पड़ती है। पपीहा भी 'पिउ-पिउ' करने लगा है और उसकी यह पिउ-पिउ की मधुर ध्वनि समता-विरहिणी को प्रिय की स्मृति और अधिक ताजा करा रही है। इसीलिए कवियों ने उसे वियोगिनी के प्राण हरण करने में प्रवीण कहा है। एक रात्रि को प्रियतम के ध्यान में समता-विरहिणी ऐसी तल्लीन हुई कि वह प्रियतम के नाम की स्मृति ही बिसर गई। चतुर चातक ने पिउ-पिउ की ध्वनि से उसे प्रियतम की स्मृति कराई। इसी तरह एक बार किसी ने 'पिउ-पिउ' का आलाप किया किन्तु उस समय विरहिणी प्रिय के ध्यान में मग्न थी, ध्यान टूटने पर उसे विदित हुआ कि पपीहे ने ही उसे ध्यानमग्न देखकर 'पिउ-पिउ' की तान छेड़ी। इससे वह अपने प्रिय के स्मरण में विशेष प्रवृत्त हुई और प्रिय-मिलन के लिए उसकी उत्सुकता अत्यधिक बढ़ गई—

---

१. आनन्दघन ग्रन्थावली, पद ३०।

भादुं की राति काती सी बहइ, छातीय छिन छिन छीन ।
प्रीतम सवी छवि निरख कइ, पिउ पिउ पिउ पिउ कीन ।
वाही चवी चातिक करै, प्राण हरण परबीन ॥१॥

इक निसि प्रीतम नाउ की, बिसरि गई सुधि नीउ ।
चातिक चतुर चिता रही, पिउ पिउ पीउ पिउ ॥२॥

एक समइ आलाप कै, कीन्हइ अडानै गाव ।
सुघर पपीहा सुर धरइ, देत है पीउ पीउ तान ॥३॥[1]

इस प्रकार, आनन्दघन ने समता-विरहिणी की मनोदशाओं का सुन्दर चित्रण विरह-व्यथा के रूप में विभिन्न पदों में किया है। एक चित्र है कि समता-विरहिणी का चेतन पति उसे भरे यौवन में छोड़कर विभाव-दशा रूप पर घर में चला गया है। इससे वह अत्यधिक दुःखित होती है और उसके मुँह से विरह-व्यथित उद्गार प्रकट होते हैं। प्रिय के वियोग में उसकी युवावस्था व्यर्थ ही जा रही है, जबकि उसके लिए ये दिन आमोद-प्रमोद के हैं। उसकी सभी रातें रुदन करते ही बीत रही हैं। इस वियोगावस्था में उसे रत्नजटित आभूषण भी अच्छे नहीं लगते हैं। विरह-व्यथा की तीव्रता के कारण कभी-कभी उसके मन में ऐसा विचार आ जाता है कि प्रिय के बिना जीने की अपेक्षा तो विष खाकर मर जाना उचित है, क्योंकि न सोते चैन है और न श्वांस लेते चैन है। मन ही मन उसे पश्चात्ताप भी होता है। प्रिया की ऐसी विकलता देख कर भी यदि आनन्द समूह रूप प्रिय घर नहीं आते हैं तो वह योगिनी बनकर घर से निकल जाने के लिए भी उद्यत होती है—

वारे नाह संग मेरो यूं ही जोबन जाय ।
ए दिन हसन खेलन के सजनी, रोते रैन विहाय ॥१॥

नग भूषण से जरी जात री, मो तन कछु न सुहाय ।
इक बुद्धि जीय में ऐसी आवत है, लीजै री विष खाइ ॥२॥

ना सोवत है लेत उसासन, मन ही मन पिछताय ।
योगिनी हुय कै निकसूं घर तैं, आनन्दघन समजाय ॥३॥[2]

---

१. आनन्दघन ग्रन्थावली, पद ३४ ।

२. वही, पद ९० ।

प्रिय के बिना उसे प्रत्येक पल छह माह के बराबर लग रहा है, किन्तु निष्ठुर पति अब भी इतना नहीं समझ पा रहा है।[1] जो आत्मानुभवी प्रेमयोगी साधक होते हैं, वे शुद्धात्मरूप प्रिय को पाने के लिए अत्यधिक व्याकुल हो उठते हैं। जब तक आत्म-प्रिय से मिलन नहीं होता है तब तक उनके हृदय में विरहाग्नि की असह्य ज्वाला उठती रहती है। इस सम्बन्ध में आनन्दघन की उक्ति यथार्थ ही है :—

विरहानल जाला अति प्रीतम, मौपै सही न गई।[2]

विरहजनित टीस एवं वेदना की भी अभिव्यक्ति उनके पदों में स्थान-स्थान पर बड़ी ही भावात्मक शैली में हुई है। एक पदमें उन्होंने कहा है कि प्रिय के विरह में विरहिणी स्त्री को श्रृंगार के सर्वसाधन दुःख के कारण होते हैं। उनकी समतारूपी प्रिया अनुभव रूप केवट से अपनी विरह व्याकुलता के सम्बन्ध में कह रही है कि अब मैं मिष्टभाषी प्रियतम के बिना प्रसन्नतापूर्वक नहीं रह सकती। प्रिय के अभाव में रंगीन चुनरी, लट, हीर-चीर, कत्था, सुपारी, पान का बीड़ा, माँग का सिन्दूर, चन्दन का विलेपन आदि सुखकर वस्तुएँ भी पीड़ा पहुँचा रही हैं। साथ ही विरह-कीड़ा शरीर-काष्ठ को खा रहा है। ऐसी स्थिति में विरहिणी जहाँ-तहाँ अपने प्रिय को खोज रही है। किन्तु वह कहीं भी नहीं दिखाई दे रहा है। अतः सारा संसार उसे सुनसान प्रतीत हो रहा है। प्रिय को खोजते-खोजते कई रात्रियाँ बीत गईं और अनेक दिन भी व्यतीत हो गए फिर भी छेह-देनेवाले प्रिय ने अब तक घर में आगमन नहीं किया है।[3] आगे वह कहती

१. समझत नांहि निठूर पति एती, पल इक जात छै मासी।
—आनन्दघन ग्रन्थावली, पद ४३।

२. वही, पद ४८।

३. मेरे मांझी मजीठी सुण इक वाता, मीठई लालन बिन न रहूँ रलियाता ॥ १ ॥
रंगत चूनडी दुलडी चीडा, काथ सुपारी रू पान का बीडा।
मांग सिंदूर संदल करै पीडा, तन कठडा कोरे विरहा कीडा ॥ २ ॥
जहां तहां ढूढूं ढोलन मीता, पण भोगी भंवर बिन सब जग रीता।
रयण बिहाणी दीहाडा बीता, अज हुँ न आये मुझे छेहा दीता ॥ ३ ॥
—वही, पद २०।

है कि मेरी इस विरह-व्यथा पर दुनिया के लोग भले ही हँसे, किन्तु मैं तो प्रिय के वियोग में अत्यधिक झुलस रही हूँ। प्रिय के बिना विरहिणी घर में कैसे निवास करे? यद्यपि सुहावनी शय्या बिछी हुई है, चाँदनी रात है, पुष्पवाटिका है, मन्द-मन्द शीतल पवन बह रहा है और सभी सखियाँ मनोविनोद कर रही हैं। इस प्रकार आमोद-प्रमोद के सभी साधन विद्यमान हैं, तथापि विरहिणी का मन प्रिय के विरह में उन्मत्त होकर तप्त हो रहा है। ये सभी आनन्ददायक वस्तुएँ विरह-ताप को अधिक प्रज्ज्वलित कर रही हैं। वह प्रिय के आगमन की प्रतीक्षा में बार-बार पृथ्वी तथा आकाश की ओर देख रही है, किन्तु ऐसे में प्रिय का अदृश्य रहना लोगों के लिए एक तमाशा हो गया है। इसका कारण स्पष्ट है कि दृश्य में अदृश्य-अरूपी आत्म-तत्त्वरूप प्रिय को देखने का प्रयास किया जा रहा है जो जनसाधारण के लिए एक आश्चर्यजनक बात है और इसीलिए उनके लिए यह एक खेल-सा प्रतीत हो रहा है। किन्तु विरहिणी के लिए तो यह तमाशा न होकर अतीव दुःख का विषय है। प्रिय के अनागमन से उसके शरीर का रक्त-मांस सूख रहा है और निःश्वास छोड़ती हुई वह निराश हो चुकी है।[1]

वास्तव में आनन्दघन रूप समता-विरहिणी अपने शुद्धात्म-चेतन प्रियतम को पाने के लिए छटपटा रही है। प्रिय के बिना उसके प्राण क्षण भर भी धैर्य धारण नहीं कर रहे हैं। अब उसके धैर्य का बाँध टूट चुका है। इसीलिए वह कहती है कि सज्जनों से स्नेह-प्रेम करने वाला वह प्रिय-प्रेमी मुझे कब मिलेगा, उसके दर्शन कब होंगे या किस दिन उससे भेंट होगी? वियोग सहने की सामर्थ्य अब उसमें नहीं रह गई है, किन्तु यह

---

१. भोरे लोगा झूरूं हुं तुम भल हासा।
सलुणे साहब बिन कैसा घर बासा ॥ १ ॥

सेज सुहाली चांदणी राता, फूलड़ी वाड़ी सीतल वाता।
सयल सहेली करै सुख हाता, मेरा मन ताता मुआ विरहा माता ॥२॥

फिरि फिरि जोवों धरणी अगासा, तेरा छिपना प्यारे लोक तमासा ॥
उचले तन तइ लोहू मांसा, सांइडा न आवै धण छोड़ी निसासा ॥ ३ ॥

—आनन्दघन ग्रन्थावली, पद १९।

अन्तर्हृदय की बात प्रत्येक व्यक्ति से कैसे कही जाय ? जिस प्रकार एक मधुप्रमेही रोगी बिना वैद्य के जीवित नहीं रह सकता है, उसी तरह वह भी आनन्द समूह रूप प्रिय के वियोग में एक क्षण भी जीवित नहीं रह सकती ।[1] विरह-व्यथा के कारण उसका शरीर आकुल-व्याकुल हो रहा है। ऐसी अवस्था में उसे न एक पैसे भर अन्न-कण भाता है, न गहने और वस्त्र पहनना अच्छा लगता है, न समाज में कहीं जाने-आने की इच्छा होती है ।[2] और न भाई-बहन, माता-पिता, सगोत्रीय, सजातीय आदि से बात-चीत करना अच्छा लगता है । उसे तो सदैव चेतन प्रिय के दर्शन, स्पर्शन और उनमें एकाग्रता रूप एकतान होकर आत्मानुभव रूप अमृत-रस का पान करने की तमन्ना है ।[3] जब तक उसकी यह तमन्ना पूर्ण नहीं होती है तब तक प्राणनाथ के बिछुड़ने की वेदना का वह पार नहीं पा सकती, क्योंकि विरहरूप दुःख का सागर अथाह है । वास्तव में, आनन्दघन का हृदय प्रतिपल अपने प्रभु के बिछोह में तड़पता रहता है । इस आध्यात्मिक विरह की तड़पन का, 'प्रेम की पीर' का हृदयग्राही वर्णन निम्नांकित शब्दों में द्रष्टव्य है :—

> प्राणनाथ बिछुरे की वेदन, पार न पावुं पावुं थगोरी ।
> आनन्दघन प्रभु दरसन औघट, घाट उतारन नाव मगोरी ॥[4]

---

१. क्याँ रै मोनइ मिलस्यै संत सनेही ।
संत सनेही सुरजन पाखै, राखै न धीरज देही ॥ १ ॥
जण-जण आगलि अंतर गतिनी, वातड़ी करिए केही ।
आनन्दघन प्रभु वैद वियोगे, किम जीवै मधुमेही ॥ २ ॥
—आनन्दघन ग्रन्थावली, पद ५ ।

२. प्यारे आई मिलो कहा, ऐठे जात ।
मेरो विरह व्यथा अकुलात गात ॥ १ ॥
एक पईसारी न भावै नाज,
न भूषण नहि पट समाज ॥ २ ॥
—वही, पद ७८ ।

३. भ्रात न मात न तात न गात न, जात न बात न लागत गौरी ।
मेरे सब दिन दरसन परसन, तान सुधारस पान पगोरी ॥
—वही, पद १७ ।

४. वही, पद १७ ।

वियोगरूप दुःख-सागर के घाट को पार करने के लिए वह आनन्द समूह रूप प्रभु से प्रेम-भक्तिरूपी नौका माँगती है ताकि वह विरह रूप दुःख-सागर को पार कर प्रिय के दर्शन कर सके। 'प्राणनाथ बिछुरे की वेदन, पार न पावुं पावुं थगोरी'—इस आध्यात्मिक विरह की तड़पन को आनन्दघन ने एक अन्य पद में और भी स्पष्ट करके कहा है—

कोण सयण जाणे पर मननी वेदन विरह अथाह।
थर थर देहड़ी धूजै म्हारी, जिम वानर भरमाह ॥[1]

दूसरे के मन की अथाह विरह की पीड़ा को कौन जान सकता है। इसे तो केवल भुक्तभोगी ही जान सकता है। मन की विरह-वेदना की कोई थाह नहीं पाई जाती। जिस प्रकार माघ मास की भयंकर शीत में बन्दर काँपते हैं, उसी तरह प्रिय की विरह-व्यथा के कारण समता-विरहिणी का शरीर भी थर-थर कांप रहा है। उसकी यह विरह-व्यथा इतनी अधिक बढ़ गई है कि उसे न अपने देह की, न घर की और न स्नेही जनों की सुध-बुध है। इस विरह-व्यथा को दूर करने का उपाय यह है कि यदि आनन्द समूह रूप प्रिय समता-प्रिया का हाथ पकड़ ले अर्थात् उसे अपना ले तो विरह-व्यथा का अन्त आ सकता है और उसके हृदय में हमेशा के लिए उत्साह तथा आनन्द का साम्राज्य छा सकता है—

कोई देह न गेह न नेह न रेह न, भावै न दुहड़ा गाह।
आनन्दघन वाल्हा बाहड़ी साहबा, निसदिन धरूँ उमाह ॥[2]

यही बात प्रकारान्तर से एक अन्य पद में भी कही गई है कि विरहावस्था में विरहिणी को जड़ाऊ चौकी भी अच्छी नहीं लगती है और वस्त्राभूषण तो शरीर पर धारण करने पर मानों आग भड़कने लगती है। यही नहीं, उसे प्रिय के अभाव में मोक्ष लक्ष्मी भी सुखदायी नहीं लगती है तो फिर स्वर्ग की अप्सराएं तो किस गिनती में है? कहने का अभिप्राय यह है कि आनन्दघन रूप समता-प्रिया को शुद्धात्म-प्रिय के अतिरिक्त न स्वर्ग-सुख ही चाहता है और न मोक्ष-सुख की स्पृहा है। उसे तो केवल शुद्धात्म-प्रिय से मिलन की उत्कण्ठा है, किन्तु अभी प्रिय से मिलन नहीं हुआ है। अतः उसकी विरह-वेदना इतनी अधिक बढ़ चुकी है कि उसे वैद्य या

१. आनन्दघन ग्रन्थावली, पद २२।
२. वही, पद २२।

हकीम भी शान्त नहीं कर सकता। यह विरह की आग तो एक मात्र आनन्दमय प्रिय के मिलन रूप अमी-वर्षा से ही शान्त हो सकती है :-

पट भूषण तन भौकन उठै, भावै न चोकि जराव जरीरी।
सिव कमला आली सुख न उपावत, कौन गिनत नारी अमरी री ॥
सास विसास उसास न राखै, नणद निगोरी भोरै लरीरी।
और तबीब न तपति बुझावै, आनन्दघन पीयूष झरी री ॥[1]

विरहाग्नि की ज्वाला अभी मन्द नहीं हुई है। वह आगे अधिकाधिक वेग को पकड़ती ही है। विरहिणी के अन्तस् की विरह-व्यथा से भरी हुई उत्तप्त गति का मार्मिक चित्रण निम्नांकित शब्दों में देखा जा सकता है :—

पिय विण कोन मिटावै रे, विरह व्यथा असराल।
नींद निमाणी आंखितेरे, नाठी मुझ दुःख देख ॥
दीपक सिर डोले प्यारे, तन थिर धरै न निमेष ॥१॥
ससि सराण तारा जगी रे, विनगी दामिनि तेग।
रयणी दयन मतै दगो, मयण सयण विणु वेग ॥२॥[2]

विरह की जो अत्यन्त उग्र पीड़ा समतारूपी विरहिणी को इस समय हो रही है उसे चेतनरूप प्रिय के अतिरिक्त दूसरा कौन दूर कर सकता है? समता की इस भयंकर विरहावस्था के दुःख को देखकर मानव मात्र को प्रिय लगने वाली निद्रा भी उसके पास से भाग गई अर्थात् प्रिय के विरह में नींद भी उसकी आँखों से चली गई। इतना ही नहीं, अपितु सिर दीपक की भांति आन्दोलित हो रहा है और सारा शरीर निमिष मात्र के लिए भी स्थिर नहीं रह रहा है। तात्पर्य यह है कि विरहिणी की विरह-व्यथा को नींद टेढ़ी नजर से देखकर उसे छोड़कर भाग गई। लौकिक व्यवहार में विरहिणी स्त्री की जो दशा प्रिय के वियोग में होती है, वही दशा आध्यात्मिक विरह में समता विरहिणी की चेतन प्रिय के वियोग में हो रही है। प्रिय के वियोग में उसे नींद नहीं आती है, उसका सिर डोल रहा है और शरीर भी एक क्षण के लिए स्थिर नहीं रहता। चन्द्रमा अस्तंगत है, तारे टिमटिमा रहें हैं और बिजली तलवार की भांति

१. आनन्दघन ग्रन्थावली, पद १६।

२. वही, पद २७।

चमक रही है। इस प्रकार, रात्रि और कामदेव चेतनरूप स्वजन प्रिय-पति के अभाव में वेगपूर्वक धोखा देने को उद्यत हो रहे हैं। विरहिणी की रातें किस तरह बीतती हैं, प्रकृति उसके साथ कैसा व्यवहार करती है आदि का चित्रण भी प्रभावोत्पादक ढंग से किया गया है। इससे भी अधिक विरहिणी की विरह-दशा का मार्मिक चित्र निम्नांकित पंक्तियों में द्रष्टव्य है—

तन पंजर झूरइ पर्‌यो रे, उड़ि न सके जिउ हंस।
विरहानल जाला जली प्यारे, पंख मूल निरवंश ॥
उसास सासै बढाउ कौरे, वाद वदे निसि रांड।
न मिटे उसासा मनी प्यारे, हटकै न रयणी मांड ॥[1]

जीवात्मा-हंस शरीर-पिंजड़े में पड़ा-पड़ा झुलस रहा है, अत्यधिक कष्ट पा रहा है, क्षीण होता जा रहा है। पिंजरे में कैद होने से वह उड़ भी नहीं सकता। विरह रूप अग्नि की ज्वालाओं ने तो प्रचण्ड रूप धारण कर लिया है, इस कारण उसकी उड़ने की पांखे मूल से ही सर्वथा नष्ट हो गई हैं। अतः किसी तरह उड़कर भी वह प्रिय के समीप नहीं पहुँच सकता है। इतना ही नहीं, विरहिणी का श्वासोच्छ्वास बढ़ा हुआ है। ज्यों-ज्यों रात बढ़ती जा रही है, त्यों-त्यों श्वास-प्रश्वास की गति भी बढ़ती जाती है। मानों श्वास और रात में स्पर्धा हो रही है। विरहिणी श्वास को रोकने का प्रयास करती है, फिर भी श्वास की तीव्रता कम नहीं होती। और उधर लड़ाई ठाने हुए रात पीछे नहीं हटती है। प्रस्तुत पंक्तियों में विरहिणी की विरह-व्यथा की कल्पना अतिभव्य है। इसमें विरहिणी स्त्री की रात्रियों का हूबहू चित्र खींचा गया है।

इसी तरह निम्नांकित पद में भी आनन्दघन रूप समता-विरहिणी को चेतन रूप प्रिय के विरह की व्यथा इस प्रकार हो रही है मानो कोई उसे भाला मार रहा हो। इसीलिए वह विरह से दुःखित होकर कह उठती है कि हे प्रिय ! कर्म-चण्डाल रूप यमराज के समान आप मेरा अन्त कहां तक लोगे ? अब तो केवल एक जीव (प्राण) लेना शेष रहा है। यदि उसे भी लेने की तुम्हारी इच्छा हो तो ले लो—

१. आनन्दघन ग्रन्थावली, पद २७।

विरह व्यथा कुछ ऐसी व्यापत, मानु कोई मारत नेजा।
अन्तक अंत कहालु लैगों, चाहें जीव तो लेजा ॥[१]

आनन्दघन रूप समता के ये शब्द आत्म-विरह की महाव्यथा को प्रदर्शित करते हैं। प्रिय का क्षण मात्र का वियोग आनन्दघन रूप [illegible] को सहन नहीं होता है, किन्तु वह प्रियतम सदैव आनन्दघन के समक्ष रहता भी कहां है? ऐसा सौभाग्य तो किसी का ही होता है। अतएव कभी-कभी आनन्दघन की समया-प्रिया अपने 'प्रियतम' को उपालम्भ भी दे बैठती है–

पिया तुम निठुर भए क्युं ऐसे।[२]

हे प्रिय! तुम इतने निष्ठुर हृदय के कैसे हो गए? मैं मन, वाणी और कर्म से आपकी हो चुकी और आपका यह उपेक्षा भाव। इसी तरह

प्यारे लालन बिन मेरों कोण हाल,
समझे न घट की निठुर लाल ॥[३]

पद में भी समता-प्रिया प्रिय की निष्ठुरता पर उपालम्भ देती है कि हे प्रिय! तेरे बिना मेरी क्या दशा हो रही है? किन्तु मेरी हृदय की व्यथा को निष्ठुर पति समझ नहीं रहा है। कबीर,[४] मीरा,[५] सन्त सुन्दरदास आदि ने भी प्रिय के वियोग में अपनी 'व्याकुलता' कुछ इन्हीं शब्दों में व्यक्त की है। सन्त सुन्दरदास कहते हैं कि वियोग में भूख-प्यास और नींद भी दूर हो गई है:–

---

१. आनन्दघन ग्रन्थावली, पद २५।
२. वही, पद ४४।
३. वही, पद ६८।
४. तलफै बिन बालम मोर जिया,
दिन नहिं चैन रात नही निंदिया, तलफ तलफ के भोर किया।
तन-मन मोर रहट अस डोले सून सेज पर जनम लिया।
नैन थकित भए पंथ न सूझै, सांई बेदरदी सुध न लिया।
कहत कबीर सुनो भाई साधो, हरी पीर दुःख जोर किया॥
—कबीर ग्रन्थावली
५. रात दिवस मोहि नींद न आवत, भावत अन्न न पानी।
ऐसी पीर बिरह तन भीतर, जागत रैन बिहानी॥
—मीरा

भूख पियास न नीदड़ी, विरहिन अति बेहाल।
सुन्दर प्यारे पिव बिन, क्यों करि निकसै साल ॥[1]

दर्शन की उत्कण्ठा

संस्कृत काव्यशास्त्र में वर्णित विरह की अवस्थाओं में सर्वप्रथम अभिलापा का निर्देश मिलता है। आनन्दघन में इसके भावपूर्ण चित्र मिलते हैं। विरहिणी की सबसे सात्विक अभिलाषा अपने प्रियतम के दर्शन की होती है। चेतन रूप पति विरह से प्रपीड़ित आनन्दघन की समता-प्रिया भी प्रिय-दर्शन के लिए तड़पती है। दर्शन के लिए व्याकुल आनन्दघन की समता-प्रिया एक स्थल पर दर्शन की तीव्र उत्कण्ठा व्यक्त करते हुए कहती है—

दरसन प्रानजीवन मोहि दीजै।
बिन दरसन मोहि कल न परत है, तलकि तलकि तन छीजै ॥[2]

हे प्राणजीवन! अब तो मुझे अपना दर्शन दो। बिना दर्शन के मुझे चैन नहीं पड़ रही है। तुम्हारे दर्शन के अभाव में मेरा शरीर तड़प-तड़प कर क्षीण होता चला जा रहा है। वस्तुतः मानव जीवन का चरम लक्ष्य है—आत्म-दर्शन-विशुद्ध आत्म-साक्षात्कार। आत्म-दर्शन में ही शान्ति निहित है। काल-लब्धि आती है और मानव की दीर्घकालीन साधना सफल होती है तभी उसे आत्म-दर्शन या प्रिया-दर्शन होता है अर्थात् स्वभाव दशा की उपलब्धि होती है और साधक अपने में अत्यन्त शान्ति का अनुभव करता है। उपाध्याय यशोविजय ने भी आत्म-दर्शन की उत्कण्ठा को निम्नांकित पद में अभिव्यक्त किया है—

चेतन अब मोहि दर्शन दीजे।
तुम दर्शन शिव-सुख पामीजे, तुम दर्शन भव दीजे ॥[3]

हे आत्मन्! अब मुझे अपना दर्शन दो। तुम्हारे दर्शन से ही शिव-सुख (मोक्ष-सुख) मिलता है और तुम्हारे दर्शन से ही यह भव-बन्धन छूटता है। इसी तथ्य को अभिनन्दन जिन स्तवन में आनन्दघन ने और अधिक स्पष्टता से वर्णित किया है। उनकी अन्तरात्मा परमात्मा के दर्शन

१. सुन्दर-दर्शन, पृ० २६८।
२. आनन्दघन ग्रन्थावली, पद २४।
३. अध्यात्म पदावली, पृ० २२३।

की प्यासी बनकर अनेक विघ्नों और संकटों के बीच भी दर्शनोत्सुक है। उनकी परमात्म-दर्शन की पिपासा निम्नांकित पंक्तियों में अभिव्यंजित हुई है—

अभिनन्दन जिन दर्शन तरसीए, दर्शन दुर्लभदेव।
मत मत भेदे जो जइ पूछीए, सहु थापे अहमेव ॥[1]

आनन्दघन की अन्तरात्मा परमात्मा के दर्शन के लिए अत्यधिक तरस रही है, किन्तु परमात्म-दर्शन (आत्म-दर्शन) अतीव दुर्लभ है। इसका कारण यह है कि अभी आत्मा पर कर्मों के नाना आवरण पड़े हुए हैं, इसी लिए परमात्मा के दर्शन में अनेक विघ्न-बाधाएँ अड़ी खड़ी है। विघ्न-बाधाओं के उपस्थित होने के उपरान्त अन्ततः आनन्दघन की अन्तरात्मा कृत संकल्प होकर पुकार उठती है—

तरस न आवे हो मरण-जीवन तणो, सीझे जो दर्शन काज।
दरसण दुर्लभ सुलभ कृपा थकी, आनन्दघन महाराज ॥[2]

परमात्म-दर्शन की पिपासा उन्हे इतनी बेचैन किए हुए है कि इसके लिए वे जीवन-मरण की बाजी तक लगाने के लिए तत्पर हो उठते हैं। परमात्म-दर्शन का कार्य यदि सफल हो जाय तो जन्म-मरण के त्रास या कष्ट की उन्हें कोई परवाह नहीं है, क्योंकि उनका दृढ़ विश्वास है कि परमात्मा के दर्शन से तो जन्म-मरण के चक्र में भटकने का कष्ट ही सदा के लिए मिट जाएगा। यद्यपि परमात्म-दर्शन दुर्लभ अवश्य है, तथापि आनन्द-कन्द परमात्मा की यदि कृपा हो जाय तो यह सुलभ भी है। तात्पर्य यह कि दर्शन की पिपासा जागृत होने पर साधक उसकी सिद्धि के लिए जीवन-मरण की बाजी लगा कर भी परमात्मरूप प्रिय के दर्शन करना चाहता है। अतएव आनन्दघन ने यथार्थ ही कहा है कि—'यदि दर्शन प्राप्ति का मेरा कार्य सिद्ध हो जाय तो मुझे जन्म-मरण का कोई कष्ट नहीं है।' उन्हें तो केवल एक ही तीव्र प्यास है और वह है परमात्म-दर्शन की शुद्धात्म-दर्शन की। प्रस्तुत कृति में आनन्दघन की परमात्म-दर्शन की तीव्र अभिलाषा अभिव्यंजित हुई है। इसमें दर्शन की महत्ता के साथ-साथ उसकी दुर्लभता के विभिन्न कारणों पर भी प्रकाश डाला गया है। इसी

१. आनन्दघन ग्रन्थावली, अभिनन्दन जिन स्तवन।

२. वही, ६।

तरह, चन्द्रप्रभ जिन स्तवन में भी परमात्मा के शान्त, निर्मल, निर्विकार मुखरूपी चन्द्रमा के दर्शन की तीव्र अभीप्सा प्रदर्शित हुई है। निम्नांकित पंक्तियों में आनन्दघन की अन्तरात्मचेतना चन्द्रप्रभ जिन स्तुति के माध्यम से शुद्धात्मा (परमात्मा) के मुख-चन्द्र का दर्शन करने को उत्कण्ठित होकर अपनी सखी से कह उठती है :–

चन्द्रप्रभ मुखचन्द सखी मुनै देखण दे, उपसम रसनो कंद। सखी०।
सेवै सुरनर इन्द सखी, गति कलिमल दु:ख दंद। सखी०॥[1]

हे सखी ! तू मुझे चन्दप्रभ जिन परमात्मा के मुख रूपी चन्द्र के दर्शन कर लेने दे, क्योंकि परमात्मा का मुख-चन्द्र शान्त (उपशम) रस का मूल है और वह राग-द्वेष आदि समस्त दु:ख-द्वन्द्व से रहित है अर्थात् जिसके भीतर से समस्त विकार दूर हो गए हैं। उक्त पंक्तियों में परमात्म-मुख की दो विशेषताओं का दिग्दर्शन कराया गया है– 'उपशम रस नो कंद' तथा गतकलिमल-दु:ख द्वन्द्व। परमात्मा के मुख-चन्द्र को विशेपता यह है कि एक तो वह शान्त रस का मूल है और दूसरा समस्त क्लेश, मालिन्य एवं दु:ख-द्वन्द्वों से रहित है। यद्यपि प्रस्तुत कृति में 'देखण दे' शब्द की बार-बार पुनरुक्ति हुई है तथापि यह पुनरुक्ति दोष न होकर कविता का गुण है। यहाँ बार-बार आनन्दघन की अन्तरात्मा द्वारा 'देखण दे' शब्द का प्रयोग करना उनकी परमात्मा के मुख-चन्द्र के दर्शन की आतुरता या तीव्रेच्छा को द्योतित करता है। उक्त कथन में परमात्मा के मुख-चन्द्र का स्वरूप उसके दर्शन का महत्त्व तथा दर्शन की तीव्रता को अभिव्यक्त किया गया है, किन्तु प्रश्न यह है कि—अबतक आनन्दघन की अन्तरात्मा परमात्मा के मुख-चन्द्र के दर्शन के लाभ से वंचित क्यों रही? इसके उत्तर में वह अपनी लम्बी आत्म-यात्रा (जीवन-यात्रा) का इतिहास प्रस्तुत करती है। वह कहती है कि सूक्ष्म निगोद से लेकर अब तक मैंने विभिन्न गतियों और योनियों में परिभ्रमण किया अर्थात् संसारी जीव के समस्त प्रकारों में से कोई भी ऐसा प्रकार नहीं छोड़ा, जहाँ मैंने जन्म न लिया हो, इस बात को वैराग्यशतक में भी कहा गया है,[1] किन्तु कहीं भी परमात्म-

---

१. आनन्दघन ग्रन्थावली, चन्द्रप्रभ जिन स्तवन।
२. न सा जाई, न सा जोणी, न तं ठाणं, न तं कुलं।
न आया, न मुआ जत्थ, सव्वे जीवा अणंत सो॥
—वैराग्यशतक, गाथा २३।
उद्धृत—श्री जैन धर्मप्रकरण रत्नाकर, पृ० ४७१।

दर्शन की पिपासा जागृत नहीं हुई, अतएव अब तक मैं परमात्मा के दर्शन से विहीन ही रही। इस प्रकार, आनन्दघन की अन्तरात्मा अनन्तकाल तक विभिन्न गतियों और योनियों में बिना परमात्मा के मुख-दर्शन के रही। इसी तथ्य को प्रस्तुत स्तवन में व्यक्त किया गया है।[1] यहाँ कवि ने जैन दर्शन सम्मत जीव-योनियों का वर्गीकरण भी स्पष्ट कर दिया है। अन्यत्र भी आनन्दघन रूप समता-प्रिया की चेतन रूप प्रिय के दर्शन की उत्कण्ठा परिलक्षित होती है। अपनी अन्तर्व्यथा की उडेलते हुए वह प्रियतम से प्रेमपूर्ण शब्दों में निवेदन करती है कि हे मिष्ठभाषी ! मैं तेरी मीठी वाणी पर न्योछावर होती हूँ। **तेरे बिना मेरा नहीं चल सकता।** तेरे अभाव में अन्य समस्त स्वजन-परिजन अनिष्ट लगते हैं। इतना ही नहीं, तेरे मुख के दर्शन किए बिना जीव को चैन नहीं पड़ती है। प्रेम-प्याले को पी-पीकर ही प्रिय के वियोग के सब दिन बिताए हैं। फिर भी अभी तक तेरा आगमन नहीं हुआ है। अब मैं तेरे आगमन समाचार किससे पूछूं, कहाँ तेरी खोज करूं और किसके साथ संदेश-पाती भेजूँ ? इसलिए हे आनन्दघन प्रभु ! अब तो तेरी असंख्यात प्रदेश रूप सेज प्राप्त हो जाए तो मेरे समस्त विरह-दुःखों का अन्त आ जाए।[2]

---

१. सुहम निगोदे न देखियो सखी०, बादर अति ही विसेस ॥ सखी० ।
पुढवी आऊ न लेखियो सखी०, तेऊ वाऊ न लेस ॥ स० ॥ २ ॥
वनसपती अति घण दिहा सखी०, दीठो नहीं दीदार ॥ स० ॥
बिती चौरिंदी जल लीहा, सखी०, गति सन्नी पण धार ॥स०॥ ३ ॥
सुर तिरि निरय निवास मां, सखी०, मनुज अनारज साथ ।
अप्पजता प्रतिभास मां, सखी०, चतुर न चढियो हाथ ॥ स० ॥ ४ ॥
इम अनेक थल जाणिये सखी०, दरसण विन जिनदेव ॥
आगम थी मति आणिए सखी०, कीजे निरमल सेव ॥ स० ॥ ५ ॥
—आनन्दघन ग्रन्थावली चन्द्रप्रभ जिन स्तवन, ।

२. वारी हूं बोलडे मीठडै ।
तुझ वाजू मुझ ना सरै, सुरिजन, लागत और अनीठडे ॥ १ ॥
मेरे जीय कुं कल न परत है, बिन तेरे मुख दीठडे ।
प्रेम पीयाला पीवत पीवत, लालन सब दिन नीठडे ॥ २ ॥
पूछूं कौन कहां धुं ढूंढू, किसकूं भेजूं चीठडे ।
आनन्दघन प्रभु सेजडी पावुं, भागे आन बसीठडे ॥ ३ ॥
—आनन्दघन ग्रन्थावली, पद १८ ।

मिलन की उत्कण्ठा

दर्शन की अभिलाषा के सदृश ही मिलन की अभिलाषा भी बड़ी ही मार्मिक होती है। आनन्दघन रूप समता विरहिणी ने अपनी मिलन की अभिलाषा की तीव्रता भी स्पष्ट पदावली में प्रस्तुत की है। उसकी मिलनोत्कण्ठा निम्नांकित पद में चित्रित हुई है—

मौने मिलावो रे कोई कंचन वरणो नाह।
अंजन रेख न आंखड़ी भावै, मंजन सिर पड़ो दाह ॥[1]

समता-प्रिया कहती है कि अरे, कोई स्वर्ण वर्ण वाले नाथ से मुझे मिला दो अर्थात् शुद्धात्मा-रूप प्रिय से मेरी भेंट करा दो। प्रिय-मिलन के अभाव में विरह के कारण आँखों में काजल की रेखा भी नहीं सुहाती है और स्नान करने पर तो ऐसा प्रतीत होता है कि जैसे सिर पर आग लगी हो। मिलन की अभिलाषा एक अन्य पद में भी बड़े ही प्रभावोत्पादक ढंग से अभिव्यक्त हुई है—

मौने माहरा माधविया नै, मिलवानो कोड।
मौने माहरा नाहलिया नै, मिलवानो कोड ॥
हूँ राखुं मांडी कोई बीजो मोने विलगो झोड ॥ १ ॥
मोहनियां नाहलिया पाखै माहरे, जग सवि उजड जोड।
मीठा बोला मन गमता नाहज विण, तन मन थाऔ चोड ॥ २ ॥
कांई ढौलियौ खाट पछेडी तलाई, भावै न रेसम सौड।
अवर सबै माहरे भला भलेरा, माहरे आनन्दघन सिरमोड ॥ ३ ॥[2]

आनन्दघन रूप समता-प्रिया को प्रिय-मिलन की 'उत्कट अभिलाषा' है। इसीलिए वह स्पष्ट शब्दों में कहती है कि मुझे अपने 'चेतन रूप स्वामी से मिलने का बड़ा चाव है' (कोड)। शुद्धात्म-प्रिय के अतिरिक्त अन्य सब बातें मुझे झंझट भरी लगती हैं। मनमोहन नाथ के मेरे समीप न होने से सारा संसार विजन-तुल्य या सुनसान-सा लगता है। इतना ही नहीं, मिष्ठभाषी मनभावन चेतन रूप नाथ के बिना मेरे तन-मन में पीड़ा हो रही है। साथ ही पलंग, खाट, पछेवड़ी (ओढ़ने के वस्त्र), गद्दी, तकिया, रेशम की रजाई आदि उपभोग की कोई भी चीज अच्छी नहीं लगती। मेरे लिए

१. आनन्दघन ग्रन्थावली, पद २२।
२. वही, पद २३।

अन्य सब पदार्थ तो भले ही भले हैं। केवल आनन्दघन रूप नाथ ही मेरे सिरमोर हैं। इसी तरह मिलन की उत्सुकता निम्नांकित पद में भी दृष्टिगत होती है—

तुम्ह भावै सो कीजै वीर, मोहि आन मिलावो ललित धीर[1]। समता विरहिणी अपने भाई विवेक से कहती है कि तुम्हें जो भी उचित लगे वह करो, किन्तु येन-केन प्रकारेण मुझे अपने प्रियतम से मिला दो। जब तक प्रिय-मिलन नहीं होता है, तब तक प्रियतम की प्रतीक्षा में विरहिणी का मार्ग की ओर ही ध्यान लगा रहता है। जो पथिक आते हुए दिखाई पड़ते हैं, उनसे प्रियतम के आगमन का सन्देश पूछती रहती है कि प्रियतम मुझसे कब आकर मिलेंगे। आनन्दघन रूप समता विरहिणी भी अपने भाई विवेक से सर्वप्रथम प्रियतम की कुशलता के समाचार पूछती है—

प्रान जीवन आधार कुं, खेम कुशल कहो बात।[2]

तदनन्तर उससे प्रिय-आगमन के समाचार पूछती है कि हे भाई विवेक ! तुम यह सच-सच बताओ कि प्रिय स्वामी यहां कब आएंगे अथवा नहीं आएंगे ?

सलूने साहिब आवैंगे, मेरे वीर विवेक कहौ न सांच[3]।

जब आनन्दघन की समता-विरहिणी प्रिय-मिलन के लिए अत्यधिक विह्वल और आतुर हो जाती है, धैर्य टूटने लगता है तब वह प्रिय-मिलन सम्बन्धी बात ज्योतिषी से पूछने के लिए बाध्य हो जाती है, क्योंकि अब तक वह सभी से अपनी विरह-व्यथा कह-कह कर थक गई। किन्तु प्रिय से मिलन नहीं हुआ। अतः विशिष्ट ज्ञानी गुरु जन रूप ज्योतिषज्ञ से वह अपने प्रिय-मिलन को बात पूछती है। प्रिय-मिलन के लिए अति व्याकुल विरहिणी समता द्वारा ज्योतिषज्ञ से पूछे गए प्रश्न का बड़ा ही सजीव एवं स्वाभाविक चित्रण निम्नांकित पंक्तियों में हुआ है।

राशि शशि तारा कला, जोसी जोइ न जोस।
रमता समता कब मिलै, भागै विरहा सोस[4] ॥

१. आनन्दघन ग्रन्थावली, पद ६८।
२. वही, पद ३७।
३. वही, पद ३८।
४. वही, पद २७।

अरे जोशीराज ! अपने पंचांग में राशिबल, चन्द्रबल, ग्रहबल, और लग्न-अंशबल आदि देखकर यह बताओ की रमता राम चेतन और उसकी पत्नी समता का मिलन कब होगा ? उसकी विरह-व्यथा कब दूर होगी ?

वास्तव में समता-विरहिणी लम्बे विरह से थक कर जर्जरित हो गई है। इसलिए कभी वह अपनी विरह-व्यथा के गीत अनुभव को सुनाती है तो कभी विवेक को और कभी अपनी सखी श्रद्धा के पास विरह-दुःख को कहकर हृदय हल्का करती है। यह मानवीय स्वभाव है कि वह अपने दुःख को अन्य व्यक्ति को सुनाकर अपने दुःख का बोझ कुछ हल्का करना चाहता है। इससे उसे कुछ शान्ति मिलती है। समता को विरह-काल अति दीर्घ और असह्य लगता है और जब उसके धैर्य का बांध टूट जाता है तब वह विरह-व्यथा से मुक्त होने के लिए ज्योतिषज्ञ का सहारा लेती है। यह शत-प्रतिशत सत्य है जब व्यक्ति चारों ओर से निराश और हताश हो जाता है तब वह अपना भविष्य जानने के लिए ज्योतिषशास्त्र का अवलम्बन लेता है। विशेषरूप से विरहिणी स्त्रियाँ ज्योतिष में अधिक विश्वास रखती हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि आनन्दघन के समय में भी ज्योतिषशास्त्र का अधिक प्रचार-प्रसार रहा होगा। सम्भवतः इसीलिए उन्होंने समता और चेतन के मिलन के विषय में ज्योतिषज्ञ से प्रश्न किया है।

मिलन की प्रतीक्षा

दर्शन और मिलन की अभिलाषा के साथ-साथ प्रतीक्षा और आशा की अवस्था की ध्वनि भी आनन्दघन में देखो जा सकती है। 'प्रतीक्षा' को फारसी काव्यशास्त्र की दृष्टि से 'इन्तजारी' और 'बेकरारी' की अवस्थाओं का मिला-जुला रूप कहा जा सकता है। जैसे प्रेमी या विरहिणी स्त्री अपने पति के आने की बाट जोहती रहती है, वैसे ही परमात्मा के साथ विशुद्ध प्रीति करने वाला साधक भी परमात्मा से विरह हो जाने से अन्तरात्मा में उनके पधारने की बाट जोहता या प्रतीक्षा करता रहता है। विशुद्ध आत्म-भाव के पथिक साधक आनन्दघन की अन्तरात्मा भी परमात्मा के पथ को निष्ठापूर्वक निहारने में लगी हुई है। वे जागृत होकर अन्तर्हृदय से पुकार उठते हैं :

पंथडों निहालुं बीजा जिन तणुं, अजित अजित गुण धाम।[1] आनन्दघन की अन्तरात्मा अनन्त गुणोंके धाम तथा किसी के द्वारा जीते नहीं गए ऐसे अजित जिन का मार्ग निहार रही है। निहारने का अर्थ देखना होता है किन्तु लाक्षणिक दृष्टि से इसका अर्थ अन्तरात्मा में स्थिर होकर परमात्म-दर्शन की तन्मयता है। इसी तरह अन्यत्र भी आनन्दघन की समता प्रिया कहती है कि मैं निशदिन अपने पति के आगमन की प्रतीक्षा करती रहती हूँ, अपलक दृष्टि से मार्ग निहारती रहती हूँ, किन्तु पता नहीं वह कब आएगा ? मुझ जैसी उसके लिए अनेक हैं, किन्तु उसके समान मेरे लिए दूसरा कोई नहीं :

> निसि दिन जोवुं वाटडी, घरि आवरे ढोला।
> मुझ सरीखे तुझ लाख है, मेरे तुंही ममोला ॥[2]

वस्तुतः उसे तो एक मात्र आशा-भरोसा अपने प्रिय का ही है। महाकवि तुलसीदास ने यथार्थ ही कहा है—

> एक भरोसो एक बल, एक आस बिस्वास।
> स्वाति बूंद घनस्याम हित, चातक तुलसीदास ॥[3]

चन्द्रमा को चकोर अनेक मिल सकते हैं, किन्तु चकोर के लिए तो चन्द्रमा एक ही है—

> चाहौ अनचाहौ जान प्यारे पै आनन्दघन,
> प्रीति रीति विषम सुरोम रोम रमी है।
>
> मोहि तुम एक तुम्है मो सम अनेक आहि
> कहा कहु चंदहि चकोरन की कमी है ॥[4]

---

१. आनन्दघन ग्रन्थावली, अजितजिन स्तवन।

२. आनन्दघन ग्रन्थावली, पद ३१।

३. तुलसी ग्रन्थावली, १५।

४. घनानन्द कवित्त, ३३।

इसी तरह दयाराम,[1] कबीर,[2] मीरा,[3] तुलसी[4] आदि ने भी इसी भाव को प्रकारान्तर से व्यक्त किया है।

आनन्दघन रूप समता-विरहिणी चेतन रूप प्रियतम के बिना रातदिन विरह में झुलस रही है। प्रिय की प्रतीक्षा में विरहिणी की आंखों ने छोटे-बड़े सबकी मर्यादा का अतिक्रमण कर दिया है और वे प्रिय के आगमन की प्रतीक्षा में द्वार की ओर टकटकी लगाकर अनवरत देख रही हैं। एक क्षण के लिए भी वे द्वार से हटना नहीं चाहतीं—

पिया बिन निस दिन झूरूं खरी री।
लहुड़ी बड़ी की कानि मिटाई, द्वार तै आंखैं कब न टरी री।[5]

विरहिणो की आंखें प्रिय को टकटकी लगाकर निरखने में लगी हुई हैं। सतत देखते रहने की तीव्र अभिलाषा उसकी कभी बुझती नहीं है। फिर भी, तृप्ति न मिल सकी। इसका कारण यह है कि परमात्मरूप प्रिय की मूर्ति अमृत-रस से परिपूर्ण है, संसार के किसी भी पदार्थ से उसकी उपमा (तुलना) नहीं दी जा सकती। उसकी दृष्टि में परम करुणामय शान्त-सुधारस छलक रहा है। इस कारण उसे देखने पर नेत्रों को तृप्ति ही नहीं होती—

अमी भरी मूरति रची रे, उपमा न घटे कोय।
शान्त सुधारस झलीती रे, निरखत तृप्ति न होय॥[6]

इसी भाव को भक्तामर-स्तोत्र में प्रस्तुत किया गया है कि 'शान्त-रस में रंगे हुए जिन परमाणुओं से आपका शरीर बना है, वे परमाणु जगत् में उतने ही थे। अतः तीनों भुवन में एक मात्र सुन्दर हे जिनवर! आपके

---

१. हूं सरखी बहु आपने, मारे तो एक आप।
—दयाराम

२. हमसे तुमको बहुत हैं, तुम से हमको नाहिं।
—कबीर

३. तुम से हमकूं कबरे मिलोगे हमसी लाख करोर।
—मीरा

४. तुम्ह से तुम्हहि नाथ मोको, मोसो जन तुमको बहुतेरे।
—तुलसीदास, गीतावली।

५. आनन्दघन ग्रन्थावली, पद १६।

६. आनन्दघन ग्रन्थावली, विमलजिन स्तवन।

जैसा किसी दूसरे का रूप नहीं है। आपका कोई उपमेय ही नहीं है।[1] उसकी आँखें तृप्ति का अनुभव नहीं करती और ये नेत्र जब अपने प्रिय को नहीं देख पाते हैं तो उसके प्रतीक्षापथ पर बिछे रहते हैं। इस सम्बन्ध में आनन्दघन रूप समता विरहिणी का कथन है— 'मार्ग को निहारते-निहारते आँखें स्थिर हो गईं', जैसे कि योगी समाधि में और मुनि ध्यान में होता है। वियोग की बात किससे कही जाए। मन को तो प्रिय का मुख देखने पर ही शान्ति हो सकती है—

पंथ निहारत लोअनै, टग लागी अडोला।
जोगी सुरती समाधि में, मानो ध्यान झकोला॥
कौन सुणे किसकुं कहूं, किसे मांडु खोला।
तेरे मुख दीठै टलै, मेरे मन का झोला॥[2]

इस प्रकार प्रियतम की प्रतीक्षा में पथ निहारते-निहारते नेत्र स्थिर हो चुके हैं। अब विरहिणी को मार्ग भी दिखाई नहीं देता। किन्तु यदि प्रियतम करुणा रूपी चाँदनी को फैलाए तो वह प्रिय के मुखचन्द्र को देख सकती है—

निसि अंधियारी घन घटारे, पाउं न वाट के फंद।
करुण कर तो निरवहुं रे, देखु तुझ मुखचन्द॥[3]

साथ ही वह आनन्द समूह रूप प्रभु को शीघ्र आकर उससे मिलने के लिए भी निवेदन करती है—

आनन्दघन प्रभु वेगि मिलो प्यारे, नहिं तो गंग तरंग बहूं री॥[4]

हे आनन्दघन प्रभु! शीघ्र आकर मिलो, अन्यथा मैं गंगा की तरंग में बह जाऊंगी। विरहिणी को प्रिय-विरह की मर्मान्तिक वेदना के कारण मृत्यु

---

१. यैः शान्तराग-रुचिभिः परमाणुभिस्त्वं,
निर्मापितस्त्रिभुवनैक-ललामभूत
तावन्त एव खलु तेऽप्यणवः पृथिव्यां,
यत्ते समानमपरं नहि रूपमस्ति॥
—भक्तामरस्तोत्र, १२।

२. आनन्दघन ग्रन्थावली, पद ३१।

३. वही, पद ३६।

४. वही, पद १४।

भी आसन्न लगती है। इसीलिए आनन्दघन रूप समता विरहिणी के प्राण प्रियतम के बिना इसी स्थान पर निकल रहे हैं—

सुनि अनुभव प्रीतम बिना, प्रान जात इहि ठांहि।[1]

आगे वह और अधिक स्पष्ट शब्दों में कहती है कि करोड़ों उपाय क्यों न किए जायें, किन्तु अब मैं आनन्दघन रूप प्रिय के बिना एक क्षण भी जीवित नहीं रह सकती :

आनन्दघन बिन प्रान न रहे छिन, कोरि जतन जो कीजे।[2]

यद्यपि दर्शन की आशा उन्हें रोक लेती है, किन्तु विलम्बजनित निराशा भी अपना गहरा रंग जमा लेती है और आनन्दघन रूप समता-विरहिणी प्रिय का आगमन न होने पर निराश होकर कह उठती है कि इस तरह से जिस घर में विरहिणी का पति बाहर चला गया हो, वह स्त्री तो हमेशा ही उदास रहेगी—

इह बिधि छे जे घर धणीरे, उससूँ रहे उदास।[3]

निराशा में आशा की किरण

घोर से घोर निराशा में भी आशा की किरण उसे दिखाई देती है। इसीलिए वह कहती है कि आनन्दघन प्रभु समता रूप निज घर में आकर हर प्रकार से उसकी गुण स्थान-आरोहण रूप आशा को पूर्ण करेंगे—

हर विधि आइ पूरी करै, आनन्दघन प्रभु आस॥[4]

क्योंकि आशा अमर है और उस आशा-किरण के सहारे ही अब तक उसने अपने प्राण टिकाए रखे हैं। अनुभव अत्यधिक आशावादी है। वह विरहिणी समता को धैर्य बँधाते हुए हर समय आश्वस्त करता रहता है। वास्तव में अनुभव रूपी भाई का आशावाद ही उसे आनन्द देता है और उसके अतिरिक्त कोई चारा भी नहीं है। वह समता की विरह-वर्णित-दशा को सुनकर उसके मनोनुकूल बात करता है और कहता है कि हे समता! अब तनिक धैर्य धारण करो। आनन्दघन प्रिय स्वयं तेरे यहाँ आ रहे हैं—

अनुभव बात बनाइकै, कहै जैसी भावै हो।
समता टुक धीरज धरो, आनन्दघन आवै हो॥

---

१. आनन्दघन ग्रन्थावली, पद ३३
२. वही, पद २४।
३. वही, पद २७।
४. वही, पद २७।
५. वही, पद ३२।

एक अन्य पद में भी अनुभव ने इसी तरह उसे प्रिय के घर आने का पूर्ण आश्वासन दिया है—

आतुरता नहीं चातुरी रे, सुनि समता टुक बात।
आनन्दघन प्रभू आइ मिलेंगे, आज घरे हर भांत ॥[1]

समता की विरह-व्यथा को सुनकर अनुभव कहता है कि इस तरह आतुरता रखने में बुद्धिमानी या चातुर्य नहीं है। जल्दबाजी से काम नहीं बनता। मैं कहता हूँ कि आनन्दघन प्रभु आज तेरे घर आकर अवश्य मिलेंगे। यहाँ आनन्दघन ने दोनों पदों में 'टुक' शब्द का प्रयोग कर आशा को नवपल्लवित किया है। इससे समता के हृदय में प्रिय-मिलन का आभास होता है। न केवल अनुभव अपितु मित्र विवेक भी समता की अथाह विरह-व्यथा को सुनकर उसे प्रिय के आने का आश्वासन देता है कि आनन्दघन प्रभु तेरे यहाँ आएँगे और आकर स्वभाव रूप सेज पर आनन्द रूप रंगरेलियां करेंगे—

मीत विवेक कहै हितूं, समता सुनि बोला।
आनन्दघन प्रभू आवसी, सेजडी रंग रोला ॥[2]

अनुभव और विवेक के अतिरिक्त उसकी प्रिय सखी श्रद्धा भी उसे प्रिय आगमन के लिए आश्वस्त करती हुई कहती है कि हे स्वामिनी! इतना अधिक खेद तुम मत करो। शनैः-शनैः प्रियतम प्रभु तुम्हारे पास आएँगे और तब आनन्द समूह रूप प्रभु का प्रेम तुमसे बढ़ जाएगा—

कहै सरधा सुनि सामिनी, एतो न कीजै खेद।
हेरइ हेरइ प्रभु आवही, बढ़े आनन्दघन मेद ॥[3]

अनुभव, विवेक और श्रद्धा इन तीनों के द्वारा आश्वासन देने पर स्वयं समता-विरहिणी को भी प्रियतम के आने की आशा बंध जाती है। निराशा में भी उसे अब आशा-किरण दिखाई दे रही है। उसे विश्वास हो गया कि विभाव दशारूपी रात्रि के विलीन होते ही स्वभाव दशा रूपी सूर्य प्रकट

१. आनन्दघन ग्रन्थावली, पद ३०।
२. वही, पद ३१।
३. वही, पद ३५।

होगा। और तब आनन्द रूपी प्रिय आकर मानों समता से वास्तविक रूप में मिल जाएगा।[1]

उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट विदित होता है कि आनन्दघन की अन्तरात्म-चेतना आशावादी है। इसका सर्वोत्तम उदाहरण अजितजिन स्तवन है। उनकी अन्तरात्म-चेतना परमात्म-पथ के दर्शन के लिए अत्यधिक उत्सुक है, किन्तु इस समय उसे उसकी उपलब्धि नहीं हो रही है, फिर भी वह आशा के सहारे जीवित है—इसका स्पष्ट दिग्दर्शन निम्नांकित पंक्तियों में किया है—

काल लब्धि लही पंथ निहालस्यूँ, ए आशा अवलम्ब।
ए जन जीवे जिनजी जाणज्य, आनन्दघन मत अंब ॥[2]

आनन्दघन की अन्तरात्म-चेतना परमात्म के दर्शन के लिए काललब्धि (विरह का काल पूरा होने) की प्रतीक्षा करती है और उसके जीने का श्रेष्ठ आधार यही है। चूँकि परमात्मपथ के दर्शन के लिए स्वभाव रमण रूप पुरुषार्थ द्वारा आत्म-शक्ति प्राप्त होने तक प्रतीक्षा करना आवश्यक है। इसी को दृष्टि पथ में रखकर वह कहती है कि हे प्रभु ! समय परिपक्व होते ही (काललब्धि) मैं अवश्य तुम्हारे दर्शन करूँगी, इसी आशा-प्रतीक्षा का अवलम्बन लेकर मैं जी रही हूँ। वस्तुतः मेरी आत्मा तो उस दिन के लिए उत्सुक है, जिस दिन मुझे तुम्हारे दर्शन होंगे। उसी दिन मेरी यह आत्म-साधना सफल होगी।

जैनधर्म में प्रत्येक कार्य की सफलता के लिए पाँच समवायी कारण माने गये हैं। वे हैं—काल, स्वभाव, नियति, कर्म और पुरुषार्थ। आत्म-विकास के लिए भी इन्हीं का महत्त्व है। आनन्दघन ने प्रस्तुत पद में 'काल' (काल-लब्धि) समवायी कारण का निर्देश किया है क्योंकि समय का परिपाक होने पर ही अमुक कार्य होता है। जैसे फसल अमुक समय पर ही पकती है। बीज बोते ही किसान को फल नहीं मिल जाता, उसे प्रतीक्षा करनी पड़ती है, धैर्य के साथ फसल पकने तक इन्तजारी करनी पड़ती है और अडिग विश्वास रखकर सक्रिय रहना पड़ता है, तभी उसे

१. आनन्दघन ग्रन्थावली, पद ३४।

२. आनन्दघन ग्रन्थावली, अजितजिन स्तवन।

सुन्दर फल मिलता है। यही बात परमात्म-दर्शन के सम्बन्ध में भी पूर्ण-रूपेण चरितार्थ होती है। स्वभाव रमण में पुरुषार्थ करते-करते जिस समय आत्म-शक्ति इतनी अधिक बढ़ जाती है कि दिव्यदर्शन (आत्म-प्रत्यक्ष) होते देर नहीं लगती, उसी समय को काल-लब्धि (समय का परिपाक) कहा जाता है। अतः आनन्दघन ने काल-लब्धि को ही परमात्म-दर्शन की आशा का अन्तिम आधार मानकर उसी के सहारे जीवन जीने तथा तब तक प्रतीक्षारत रहने की बात अभिव्यक्त की है।

यहाँ सहज प्रश्न होता है कि आनन्दघन ने 'आशा औरन की क्या कीजै' पद में तो आशा की उपेक्षा की है, जबकि उनके अन्य पदों में सर्वत्र आशावाद का स्वर गूँज रहा है? उक्त पंक्तियों में तो स्पष्ट रूप से उन्होंने आशा को बड़ा आधार माना है। तथ्यात्मक बात यह है कि 'आशा औरन की क्या कीजै' पद की आशा में और अन्य पदों में वर्णित आशा में आकाश-पाताल का अन्तर है। पहली आशा पराई है। उसमें भौतिक पदार्थों या विषयों को पाने की लालसा है। इसीलिए आनन्दघन ने स्पष्ट रूप से ऐसी आशा पर जीनेवालों को 'पूँछ हिलानेवाले कुत्ते' की उपमा दी है। यही नहीं, वह आशा परपदार्थों की दासी है। और इस आशा का आधार काल-लब्धि है। इसमें किसी से याचना नहीं की गई है और न परपदार्थों को प्राप्त करने की यह आशा है। यह तो आत्मा का अपने ही आत्म-स्वभाव में पुरुषार्थ करके काल-लब्धि प्राप्त होने पर परमात्म-दर्शन की आशा है।

इससे स्पष्ट होता है कि 'आशा औरन की क्या कीजै' पद में स्पष्टतः आशादासी के दास की बात कही गयी है, और उसमें आशादासी पर विजय प्राप्त करने का निर्देश किया गया है। अन्तरात्म-चेतना को इस प्रकार की आशा के अवलम्बन के अतिरिक्त कोई चारा ही नहीं है। इसीलिए आनन्दघन कहते हैं कि इसी आशा के आधार पर मेरे जैसा साधक जीवन जी रहा है। वास्तव में साधक के जीने का आधार भौतिक न होकर आध्यात्मिक होता है, क्योंकि साधक को जब तक पूर्ण-शुद्ध आत्म-दशा की उपलब्धि नहीं हो जाती, तब तक उस काल को वह आत्मशक्ति उपलब्ध करने में बिताता है। वह स्वभाव रमण में पुरुषार्थ करते-करते ही अपना जीवन पूर्ण करता है। यही कारण है कि आनन्दघन

ने काल परिपक्व होने तक परमात्म-दर्शन की प्रतीक्षा में रत रहने की आशा का अवलम्बन लेकर उसी के सहारे जीने का निश्चय किया है।

आनन्दघन की विरहजन्य-व्यथा का करुणाजनक दृश्य काव्य का मार्मिक स्थल है। आध्यात्मिक सन्त होने के कारण इनमें हृदय की गहरी अनुभूति है। सम्पूर्ण हिन्दी जैन-काव्य-साहित्य में सम्भवतः बनारसीदास के बाद आनन्दघन ने ही विरह-वेदना का इतना व्यापक एवं मार्मिक ढंग से आध्यात्मिक चित्रण किया है।

निष्कर्ष यह कि रहस्यवादी काव्य की दृष्टि से आनन्दघन का विरह-वर्णन सर्वोत्कृष्ट है। इन्होंने अपने 'आत्म-प्रियतम' के वियोग में अपने हृदय की जिस आकुलता का चित्रण किया है, उसमें कहीं भी कृत्रिमता नहीं दिखाई देती। इनका हृदय प्रतिपल प्रभु के विछोह में तड़पता रहता है। इसलिए कतिपय पदों में शुद्धात्मा से मिलनोत्कण्ठा की तीव्र भावुकता परिलक्षित होती है और रहस्यवाद की झलक स्पष्ट दिखाई देती है।

[illegible] आनन्दघन के विरह-मिलन से सम्बन्धित पदों को ऊपर-ऊपर से पढ़नेवालों को व्यावहारिक या लौकिक विप्रलम्भ शृंगार प्रधान प्रतीत होते हैं, किन्तु गहराई से देखने पर उनका समग्र काव्य आध्यात्मिक तथ्यों से परिपूर्ण प्रतीत होता है।

इस प्रकार, आनन्दघन के रहस्यवाद में विरहावस्था की विविध अभिव्यक्तियाँ पाई जाती हैं। उनके विरह-वर्णनों के भावात्मक-चित्रों से रहस्यवाद के सौन्दर्य में द्विगुणित वृद्धि हो गई है। वस्तुतः आनन्दघन की समग्र कृतियों का सूक्ष्मता से अवलोकन करने पर स्पष्ट हो जाता है कि उनमें भावात्मक अनुभूति की प्रमुखता है। भावमूलक अनुभूति ही रहस्यवाद का प्राण है, जो उनके काव्य में कबीर की अपेक्षा भी अधिक भावप्रवणता के साथ प्रस्फुटित हुई है।

विघ्न की अवस्था

विघ्नावस्था के अन्तर्गत वे सभी विकार, विभाव या परभाव आते हैं जो आत्मानुभूति में बाधक हैं। रहस्यवादी साधक को जब आत्म-अनात्म का विवेक हो जाता है और साधना के द्वारा परमतत्त्व की आंशिक अनुभूति होने लगती है, तब वह शुद्धात्म प्रिय से मिलने के लिए आतुर

उठता है। किन्तु प्रियतम तक पहुँचने में उसे मोह-मायाजन्य अनेक विघ्न-बाधाओं से जूझना पड़ता है। रहस्यवादी साधना के विकास की अवस्थाओं में प्रिय-मिलन की उत्कण्ठा जागृत होने के पश्चात् विघ्न की अवस्था आती है, जिसे अण्डरहिल ने 'द डार्क नाइट आफ द सोल' कहा है। यह अवस्था प्रिय-मिलन में बाधक होती है। सूफी रहस्यवादियों के मतानुसार प्रिय-मिलन में बाधक शैतान होता है और भारतीय रहस्य-वादी-साधक के अनुसार माया। सन्त आनन्दघन ने परमात्म-दर्शन में बाधक तत्त्वों-माया, ममता और कर्म को प्रमुख माना है।

माया

रहस्यवादी सन्त आनन्दघन ने कबीर की भाँति कर्म के अतिरिक्त आत्मा-परमात्मा के मिलन में माया को बाधक माना है। योगी की साधना माया के द्वारा ही भंग होती है। इसीलिए प्रायः सभी साधकों ने 'माया' को परमात्म-मिलन में अपना परम शत्रु माना है। गोरखनाथ ने माया को बाघिन के रूप में चित्रित किया है और कहा है कि यह माया रूपी बाघिन दिन को मन मोहती है और रात में सरोवर का शोषण करती है। मूर्ख लोग जानकर भी घर-घर में इस व्याघ्रा का पोषण करते हैं।[1] सन्त आनन्दघन ने भी कहा है कि मूर्ख मानव आनन्दघनमय आत्म रूपी हीरे को छोड़कर माया रूपी कंकर-पत्थर में मोहित हो गया है :

आनन्दघन हीरो जन छारे, नर मोह्यो माया कंकरी।[2]

इसी प्रकार उन्होंने 'माया' के द्वारा चेतन के छले जाने की बात भी अन्य पदों में कही है।

यह माया अज्ञान का प्रतीक है। जैनदर्शन में इसे मिथ्यात्व कहा गया है। जैनदर्शन के चार कषायों के अन्तर्गत माया भी एक है तथा इसे छल और कपटपूर्ण वृत्ति कहा गया है। इसका काम है जगत् को छलना। साथ ही यह माया सबको मोहित करनेवाली है। इसीलिए

---

१. दिवसै बाघणि मन मोहै राति सरोवर सोषै।
जाणि बुझि रे मुरिष लोया घरि-घरि बाघिण पोषै॥
—हिन्दी काव्यधारा, पृ० १६०।

२. आनन्दघन ग्रन्थावली, पद ३।

सन्त आनन्दघन ने भी इस मोहिनी माया का चित्रण बड़े-ही प्रभावोत्पादक ढंग से अनेक पदों में किया है। एक पद में उन्होंने स्पष्टरूप से कहा है कि 'जगत् को ठगनेवाली ऐसी मोहिनी माया ने चेतनराज को भी ठग लिया है।'[1] अन्यत्र भी उन्होंने कबीर की भांति ममता-माया को ठगिनी, धोखेबाज आदि कहा है।[2] न केवल आनन्दघन ने अपितु कवि भूधरदास ने भी माया को 'ठगनी' कहा है, क्योंकि वह समूचे संसार को ठगकर खा जाती है। जो इस पर तनिक भो विश्वास करता है, वह मूर्ख पीछे से पछताता है।[3] और कबीर ने तो इसे 'महाठगिनी' बताया है, चूंकि इसके जाल से ब्रह्मा, विष्णु और महेश भी बच नहीं सके।[4] सन्त पलटू के अनुसार माया ने किसी को ठगने से नहीं छोड़ा, किन्तु इसको किसी ने नहीं ठगा। जो इसको ठग सके उसे ही सच्चा भक्त समझना चाहिए।[5] इसी तरह, अनेक सन्तों, कवियों एवं साधकों ने माया को ठगिनी के रूप में अंकित किया है। माया का यह महामोहिनी रूप इतना प्रबलतम है कि वह जीव को किसी प्रकार नहीं छोड़ती है। भ्रम, मोह आदि विकारों से रहित प्राणी को भी अपने आकर्षक एवं मोहक रूप से छलपूर्वक लुभा

---

१. मोहनी मोहन ठग्यो, जगत ठगारी री।
दीजिए आनन्दघन दाद हमारी री।
—आनन्दघन ग्रन्थावली, पद ७६।

२. ठगोरी, भगोरी, लगोरी, जगोरी।
ममता, माया आतम लै मति, अनुभव मेरी और दगोरी।
—वही, पद १७।

३. सुनि ठगनी माया, तैं सब जग ठग खाया।
—टुक विश्वास किया जिन तेरा सो मूरख पछताया॥
भूधरदास, भूधर विलास, ८ वां पद, पृ० ५।

४. माया महाठगिनी हम जानी
तिरगुन फांसि लिये कर डोलै, बोलै मधुरी बानी॥
—कबीर, सबद, सन्त सुधारस।

५. माया ठगिनी जग ठगा इहकै ठगा न कोय।
पलटू यहिकै सो ठगै (जो) सांचा भक्ता होय॥
—पलटू, संतवाणी संग्रह, भाग १, पृ० २२३।

लेती है। यद्यपि यह निर्लज्ज है तथापि इसमें वह मोहक जादू है जिसमें अनन्त गुणों का भण्डार चेतन भी मोहित हो जाता है। आनन्दघन ने यथार्थ ही कहा है—

कहा निगोरी मोहनी मोहक लाल गंवार।[1]

यद्यपि चेतन माया पर मोहित हो गया है, किन्तु यह माया-ममता आखिर कहाँ से आई है और किस देश की रहनेवाली है? इसका तो उसे पता ही नहीं है।[2] वास्तव में भेड़ के समान यह मोहिनी माया संसार के पदार्थों से सम्बन्ध रखने वाली तथा अनिष्टकारी है। यह अमंगलकारी माया जिस घर में भी प्रवेश करती है, वहाँ अनेकानेक विपदायें खड़ी कर देती है। साथ ही, यह अत्यन्त लज्जा दिलाने का कारण होती है। अतः इससे एक कौड़ी जितना भी प्रयोजन सिद्ध नहीं होता।[3]

जैनदर्शन में माया का सम्बन्ध मोहनीय कर्म से है अर्थात् माया मोहनीय कर्म का ही एक भेद है। आठ कर्मों से मोहनीय कर्म प्रबलतम है। मोह के कारण ही चेतन पर भावों में भटक रहा है। काम, क्रोध, लोभ, मद, मत्सर, राग-द्वेष, तृष्णा, माया-ममता आदि मोह के ही विभिन्न रूप हैं। सामान्यतया मोह, माया और ममता पर्यायवाची अर्थ में ही प्रयुक्त होते हैं। सन्त आनन्दघन ने मोहनीय कर्म को 'मोहिनी' स्त्री का रूपक देकर उसके परिवार का सुन्दर चित्र खींचा है। मोहिनी की मिथ्या नामक कन्या है, क्रोध-मान उसके पुत्र हैं। माया का लोभ के साथ पाणिग्रहण हुआ है। अतः वह मोहिनी का जमाई है। इस प्रकार, इस मोहिनी का बहुत लम्बा-चौड़ा परिवार है।[4]

मोहिनी माया के इस प्रकार के और भी अनेक सुन्दर चित्र आनन्दघन ने खींचे हैं। यही मोहिनी माया आनन्दघन की रहस्यानुभूति में

१. आनन्दघन ग्रन्थावली, पद ३९।

२. आइ कहां ते माया ममता, जानु न कहा की वासी।
रीझि परै वाकै संग चेतन, तुम्ह क्युं रहे उदासी॥
वरजो न जाइ एकंत कंत कु, लोक में होवत हांसी॥
—वही, पद ४३।

३. वही, पद ४५।

४. वही, पद ३९।

बाधक रूप है। इसको तो मनुष्य मोहनीय कर्म का नाश करके ही जीत पाता है। कबीर ने माया की डायन के रूप में कल्पना की है। वे लिखते हैं—'माया रूपी डायन मेरे मन में रहती है। वह नित्य मेरे मन को विकृत करती है, इस डायन के पाँच लड़के हैं—काम, क्रोध, मद, मोह और लोभ। वे रात दिन मुझे नाच नचाते हैं।'[1]

ममता

आनन्दघन ने मोहिनी माया के साथ-साथ ममता को भी प्रिय-मिलन में बाधक माना है, क्योंकि चेतन समता रूपी स्व-पत्नी को छोड़कर ममता रूपी पर-पत्नी में आसक्त हो जाता है और दिन-रात ममता की सेज पर ही पड़ा रहता है, इससे समता चेतन से नहीं मिल पाती है। वह प्रियतम से निवेदन करती है कि हे प्रिय! अब तो ममता-गणिका का साथ छोड़िए। आपके और मेरे बीच जो अन्तर पड़ा हुआ है उसे दूर कीजिए। वास्तव में यह बिना पाये की अर्थात् निर्मूल ममता ही आपके और मेरे मिलन में बाधा डाल रही है। किन्तु चेतन देव तो ममतारूपी गणिका में मतवाले होकर उसी के रंग में रंगे हुए हैं। जब तक जड़त्वरूप इस ममता का साथ नहीं छूटता तब तक चेतना से समता का मिलाप नहीं हो सकता[2]। इस प्रकार ममता का उल्लेख आनन्दघन के पदों में बहुलता से हुआ है। एक पद में वे कहते हैं कि 'हे चेतन! जिसके साथ तुम खेल रहे हो वह तो संसार की दासी है। साथ ही, यह दुर्गति में ले जाने वाली धूर्त, कपटो, कृपण, अहितैषी आदि है।[3]

---

१. इक डांइन मेरे मन मै बसैरे, नित उठि मेरे जीय कौं डसै रे।
या डांइन के लरिका पांच रे, निसदिन मोहि नचावैं नाच रे॥
कहै कबीर हूं ताकौ दास, डांइनि कै संगि रहै उदास॥
—कबीर ग्रन्थावली, पदावली २३६।

२. प्यारे, अब जागो परम गुरु परम देव, मेटहु हम तुम बीच भेद।
आली लाज निगारो गमारी जात, मोहि आन मनावत विविध भांति॥
आली पेर निमूली चूनडी कांनि, मोहि तोहि मिलन बिच देत हानि॥
आली पति मतवाला और रंग, रमे ममता गणिका के प्रसंग।
अब जड़ ते जड़ता घात अंत, चित फूले 'आनन्दघन वसंत॥
—आनन्दघन ग्रन्थावली, पद ८३।

३. वही, पद ४५ एवं ४६।

ममना-माया के अतिरिक्त प्रिय-मिलन में बाधक कुबुद्धि, कुमति, आशा, तृष्णा आदि वैभाविक भावों का भी वर्णन आनन्दघन के पदों में हुआ है। उनके अनुसार मूलतः चेतन और समता के बीच वियोग-विरह करानेवाला 'कुभाव'[१] यानी विकृत भाव है, जो मोहिनी माया-ममता आदि आत्मा की वैभाविक अवस्था है।

परमात्म-दर्शन में बाधक घाती कर्म-पर्वत

आनन्दघन की अन्तरात्म-चेतना परमात्म-दर्शन के लिए अत्यधिक उत्कण्ठित है, किन्तु बीच में अनेक विघ्न-बाधाएँ खड़ी हो जाती हैं। परम रहस्य से साक्षात्कार करने का मार्ग बड़ा कण्टकाकीर्ण है, उसमें अनेक बाधाएँ आती हैं। चूँकि मानव सांसारिक जीव है, अतः परमात्मा के यथार्थ दर्शन में घाती कर्म रूपी पर्वत बाधक हो रहे हैं। इसीलिए आनन्दघन के अन्तर का स्वर फूट पड़ा—

घाती डूंगर आडा अति घणा, तुझ दरसण जगनाथ।
धीठाई करि मारग संचरूं, सैंगू कोइ न साथ॥[२]

हे जगन्नाथ! आपके दर्शन में विघ्नकारक घाती कर्मरूपी अनेक पहाड़ खड़े हैं। इसलिए मैं आपके दर्शन नहीं कर पा रहा हूँ। साहस करके कदाचित् आपके दर्शन के पथ पर चल पड़ूं तो साथ में कोई पथ-प्रदर्शक भी नहीं है। आनन्दघन ने इसके अतिरिक्त परमात्म-दर्शन में अन्य कठिनाइयाँ भी बतलाई हैं। जैसे—

१. मताग्रह या दुराग्रह,
२. तर्कवाद,
३. सद्गुरु की दुर्लभता,
४. पथ-प्रदर्शक का अभाव
५. सहयोगी का अभाव।[३]

---

१. विरह कु भावै सो मुझ कीया, खबर न पावुं धिग मेरा जीया।
हदीया देवूं बतावै कोई पीया, आवै आनन्दघन करूं घर दीया॥
—आनन्दघन ग्रन्थावली, पद १९।

२. आनन्दघन ग्रन्थावली, अभिनन्दनजिन स्तवन।

३. वही।

उपर्युक्त कठिनाइयों के साथ ही सबसे बड़ा विघ्न आत्म-गुणों का घात करने वाली घाती कर्मरूपी पर्वत परमात्म-दर्शन में रोड़े अटकाते हैं। ये घाती-पर्वत एक नहीं, अनेक हैं। परमात्म-दर्शन के लिए इन घाती कर्म रूपी पर्वतों को हटाना आवश्यक ही नहीं, नितान्त अनिवार्य है। अनेक घाती कर्म रूपी पर्वतों में भी मोहनीय कर्म सबसे बड़ा पर्वत है। यदि इस एक पर्वत को चूर-चूर कर दिया जाए तो शेष पर्वत स्वतः चकनाचूर हो जाते हैं। चन्द्रप्रभजिन स्तवन में आनन्दघन ने स्पष्ट रूप से कहा है कि परमात्मा के मुख-चन्द्र के दर्शन में बाधक मोहनीय कर्म है। परमात्मा (शुद्धात्मा) की सतत प्रेरणा से साधक क्रमशः कर्म रूपी पर्वतों को पार कर बारहवें क्षीण मोह गुणस्थान नामक शिखर पर पहुंच जाता है, जहाँ समस्त कर्म रूपी आवरण क्षीण हो जाते हैं। सभी मनोरथ पूर्ण करने वाले कल्पवृक्ष स्वरूप आनन्दघन परमात्मा को पा लेते हैं।[1]

मोहनीय कर्म का क्षय होने पर परमात्मा के मुख रूपी चन्द्रमा के दर्शन हो जाते हैं।

यद्यपि द्रव्य-दृष्टि से आत्मा और परमात्मा में ऐक्य है, समानता है, तथापि वर्तमान में आत्मा और परमात्मा के बीच में एक अन्तराल है। अतः यह प्रश्न होना स्वाभाविक है कि आत्मा और परमात्मा के बीच इस अन्तराल का कारण क्या है? इसका समाधान आनन्दघन ने पद्मप्रभ जिन स्तवन में किया है। आत्मा और परमात्मा के मध्य जो अन्तर है उसका एक मात्र कारण है 'कर्म'।[2] कर्मों के प्रगाढ़ आवरण के कारण ही आत्मा परमात्मा के दर्शन से वंचित है। कर्म रूपी आवरण का विच्छेद होने पर जीवात्मा और परमात्मा की यह दूरी समाप्त हो जाती है, आत्मा का परमात्मा से मिलन हो जाता है। जब तक आत्मा कर्मों से सम्पृक्त है, तब तक आत्मा और परमात्मा के बीच दूरी बनी रहेगी। अतः परमात्म-

---

१. प्रेरक अवसर जिनवरू सखी, मोहनीय क्षय थाय। सखी०।
कामित पूरण सुरतरू सखी, आनन्दघन प्रभु पाय ॥ सखी० ॥
आनन्दघन ग्रन्थावली, चन्द्रप्रभजिन स्तवन।

२. पद्मप्रभ जिन तुझ मुझ आंतरू, किम भांजे भगवंत।
कर्मविपाके कारण जोइनै, कोई कहै मतिवन्त ॥
—आनन्दघन ग्रन्थावली, पद्मप्रभजिन स्तवन।

मिलन का शुभ मनोरथ तभी पूर्ण हो सकता है जब कि कर्म और कर्म-बन्धन के कारणों पर विजय पाई जाय।

शुभ-अशुभ भावों से हटकर शुद्ध भावों-आत्मभावों या स्व-स्वरूप में प्रवृत्त होना या लीन होना ही परमात्म-मिलन का सत्पथ है। इसी तथ्य को आगे और अधिक स्पष्ट शब्दों में व्यक्त करते हुए आनन्दघन ने कहा है—

> जुंजन करणे अन्तर तुझ पड्यो, गुण करणे करि भंग।
> ग्रंथ उक्ति करि पंडित जन कह्यो, अन्तर भंग सुअंग ॥[1]

हे नाथ! कर्मों के योग (सम्बन्ध) से ही आपमें और मुझमें अन्तर पड़ा हुआ है। किन्तु इस अन्तर को गुणकरण (सद्‌गुणों की साधना) की प्रक्रिया के द्वारा दूर किया जा सकता है। जैन-ग्रन्थों में सहज प्रक्रिया तीन करणों में विभाजित है—(१) युन्जनकरण, (२) गुणकरण, और (३) ज्ञानकरण। ये तीनों करण जैन पारिभाषिक शब्द हैं। इनकी विशेष चर्चा योग-दृष्टि समुच्चय, योग-बिन्दु, योग-शास्त्र, योगद्वात्रिंशिका आदि योग-विषयक ग्रन्थों में है। तीसरे ज्ञानकरण का समावेश गुणकरण में होने से आनन्दघन ने यहाँ दो करणों का ही निर्देश किया है। आत्मा की कर्मों के साथ जुड़ने (संयोग) की प्रक्रिया को युंजनकरण कहते हैं और जिसमें आत्मा अपने वास्तविक गुणों—ज्ञान, दर्शन और चारित्र में रत या स्थिर होकर क्रिया करती है, उस क्रिया को गुणकरण कहते हैं। दूसरे शब्दों में, युंजनकरण की क्रिया आस्रव रूप है और गुणकरण की क्रिया संवर रूप है। मुनि ज्ञानसार ने भी ज्ञानकरण और गुणकरण के सम्बन्ध में कहा है :—

> ज्ञानकरण गुणकरण दो, ए सुभाव सम्बद्ध।
> गुण करणे समवाय फल, अचल अकल रिद्धि सिद्ध ॥[2]

वस्तुतः परमात्मा के साथ आत्मा के मिलन में बाधक कारण युंजन-करण की क्रिया है। इसीके कारण आत्मा का परमात्मा से मिलन नहीं हो पा रहा है। इससे स्पष्ट है कि आनन्दघन ने मुख्य रूप से आत्मा-

१. आनन्दघन ग्रन्थावली, पद्मप्रभजिन स्तवन।
२. वही, ५।

परमात्म-मिलन में विघ्नावस्था के रूप में युंजनकरण की प्रक्रिया को माना है। जब गुणकरण की प्रक्रिया के द्वारा युंजनकरण का नाश होगा तब आत्मा और परमात्मा के बीच का कर्म रूप पर्दा हट जाएगा, अन्तर दूर हो जाएगा और अनाहत नाद रूपी मांगलिक वाद्ययन्त्र बज उठेंगे। जीव रूपी यह सरोवर आनन्द रस से परिपूर्ण होकर अत्यन्त वृद्धि को प्राप्त होगा। आत्मा परमात्मा बन जाएगी।[1]

मिलन की अवस्था

रहस्यवादी साधक को यह बोध हो जाता है कि उसका प्रिय से वियोग अष्ट कर्मों के बन्धन अथवा माया-ममता के कारण है। राग-द्वेष, काम-क्रोध, लोभ-मोह, माया-ममता, आशा-तृष्णा आदि समस्त मनोविकार कर्म-बन्धन के कारण हैं और ये मनोविकार ही परमात्म-मिलन में बाधक हैं। फिर भी रहस्यवादी साधक का यह दृढ़ विश्वास रहता है कि कर्म-बन्धन टूटने पर परमात्मा रूप प्रिय से भेंट होगी, मिलन होगा। जब आत्मा पूर्णतया शुद्ध हो जाएगी, कर्मों से रहित हो जाएगी तभी प्रिय से मिलन सम्भव है।

वस्तुतः संयोग और वियोग ये दोनों एक प्रकार की भाव-दशाएँ हैं। जिस प्रकार विरह के लौकिक और आध्यात्मिक दो रूप हैं, उसी प्रकार मिलन के दो रूप हैं—एक लौकिक और दूसरा आध्यात्मिक। यह स्पष्ट है कि लौकिक मिलन वासनामय होता है। उसमें मन विषय-वासना से सना हुआ होता है, जब कि आध्यात्मिक-मिलन शरीर द्वारा नहीं होता, क्योंकि यह मिलन परमात्मा (शुद्धात्मा) से होता है। परमात्मा से मिलन शरीर और इन्द्रियों द्वारा तो हो ही नहीं सकता। काम और भोग का सम्बन्ध शरीर और इन्द्रियों तक सीमित है। आध्यात्मिक मिलन में विषय-वासना निःशेष हो जाती है। यह मिलन उच्च मानसिक धरातल पर होता है। मैत्रायण्युपनिषत् में मन के दो स्तर वर्णित हैं—एक शुद्ध मन

१. तुझ मुझ अन्तर अन्ते भाजसे, वाजस्यै मंगल तूर।
जीव सरोवर अतिशय वाधिस्यै, आनन्दघन रस पूर।
—आनन्दघन ग्रन्थावली, पद्मप्रभजिन स्तवन, ६।

और दूसरा अशुद्ध मन।[1] शुद्ध मन विषय-वासना (काम) से रहित होता है और अशुद्ध मन काम से सना हुआ होता है। परमात्म-मिलन शुद्ध मन के द्वारा ही सम्भव है। इस आध्यात्मिक-मिलन में वह तेज होता है जो मलिन वासनाओं को भस्म कर देता है और जीवन के चरम साध्य आनन्द की उपलब्धि करा देता है। इस प्रकार, आध्यात्मिक-मिलन अलौकिक होता है।

रहस्यवादी सन्त आनन्दघन ने विरह और मिलन दोनों के गीत गाए हैं। यद्यपि उनमें विरहानुभूति का स्वर ही अधिक गूंजता है, तथापि मिलन की अवस्था के भी कुछ चित्र पाये जाते हैं। जिस प्रकार आनन्दघन रूप समता विरहिणी ने अपने चेतन-प्रिय के विरह में अश्रुगीत बहाए हैं, उसी प्रकार उसने मिलन के हर्षगीत भी गाए हैं। यह बात अलग है कि मिलन के इन चित्रों में उतना तीव्र हर्षोन्माद दृष्टिगत नहीं होता जितनी विरह-वेदना की तड़पन। आनन्दघन के काव्य में विरह की अपेक्षा मिलन का चित्रण अत्यल्प है, तथापि यह चित्रण भी उन्होंने रूपकों के सहारे बड़े ही सुन्दर एवं भावपूर्ण ढंग से अभिव्यंजित किया है। यह कहना कदाचित् अधिक उपयुक्त होगा कि आनन्दघन का रहस्यवाद वास्तव में चेतन-चेतना के मिलन की भावात्मक अनुभूति है।

रहस्यवादी साधक जब विभिन्न रहस्यवादी अवस्थाओं को पार करता हुआ माया-ममता आदि समस्त विकारों-विभावों पर विजय प्राप्त कर लेता है, तब उसका शुद्धात्म रूप प्रियतम से मिलन होता है। यह नितान्त सत्य है कि विरहावस्था का अन्त होने पर ही प्रिय-मिलन की अवस्था आती है। निम्नांकित पद में चेतन और चेतना की विरहावस्था के अन्त और मिलन की अवस्था का वर्णन चकवा-चकवी के रूपक के द्वारा मनोरम ढंग से किया गया है। आनन्दघन का कथन है—

मेरे घट ज्ञान भान भयो भोर।
चेतन चकवा चेतना चकवी, भागौ विरह को सौर ॥१॥

---

१. मनो हि द्विविधं प्रोक्तं, शुद्धं चाशुद्धमेव च।
अशुद्धं काम संपर्काच्छुद्धं काम्म विवर्जितम् ॥
—मैत्रायण्युपनिषत्, ६।३४।

फैली चिहुं दिसि चतुर भाव रुचि, मिट्यो भरम तम जोर।
आप की चोरी आप ही जानत, ओरे कहत न चोर ।।२।।

अमल कमल विकच भये भूतल, मंद विषैं ससि कोर।
आनन्दघन इक बल्लभ लागत, और न लाख करोर ।।[1]

चेतन रूप चकवा और चेतना रूपी चकवी का जो अनादिकालीन विछोह था, वियोग था, विरह था, उस विरह के करुण-क्रन्दन का आज अन्त हो गया। विभाव-दशा समाप्त होकर हृदय में स्वभाव-दशारूपी सूर्य उदित हो गया। अरुणोदय होने से जैसे भूतल पर निर्मल कमल खिल जाते हैं, वैसे ही ज्ञान सूर्योदय से हृदय-कमल खिल उठा और वासना रूपी चन्द्र-किरणें मन्द हो गयीं। ऐसी स्थिति में केवल आनन्दमय आत्मा ही साधक को प्रिय लगती है। अन्य लाखों-करोड़ों सांसारिक प्रलोभन उसके समक्ष तुच्छ और निःसार प्रतीत होते हैं। इसका कारण यह है कि शुद्धात्मा के समक्ष सांसारिक वैभव-विलास नगण्य है। यहाँ आनन्दघन की विशिष्टता यह है कि विरह-मिलन के माध्यम से उन्होंने मिथ्यात्व-अंधकार निराकरण और कैवल्य बीज रूप सम्यक् ज्ञान के उदित होने पर बल दिया है। अब तक चेतन-चेतना का जो रागात्मक विरह था वह ज्ञानात्मक विरह में परिणत हो जाता है।

जब मिथ्यात्व अंधकार हृदय से दूर हो जाता है, तब चेतन निज घर की ओर प्रयाण करता है। चेतन के घर आने से समता के आनन्द का कोई ठिकाना नहीं है। बहुत दिन बाहर भटकने के बाद चेतन आज घर आ रहा है। वर्षों की प्रतीक्षा के बाद पिय के आगमन को सुनकर वह अत्यधिक प्रसन्न हो उठती है। समता आह्लादित होकर अपनी सखी से कहती है—'हे सखी, देखो आज चेतन घर आ रहा है। वह अनन्त काल तक ममता-माया आदि पर-परिणतियों के वश में होकर घूमता फिरा, अब उसने हमारी सुध ली है :—

आज चेतन घर आवै, देखो मेरे सहिओ।
काल अनादि कियो परवश ही अब निज चित ही चितावे ।।

---

१. आनन्दघन ग्रन्थावली, पद ७३।

२. वही, पद ५,।

समता (चेतना) का चेतन से मिलाप करानेवाले तत्त्व अनुभव और विवेक हैं। अनुभव और विवेक चेतना का चेतन-प्रियतम से मिलन कराकर तभी दम लेते हैं। देखिए :—

बंधु विवेकै पिवडौ बूझव्यो, वार्‌यो पर घर संग।
हेजैं मिलीया चेतन चेतना, वरत्यो परम सुरंग ॥[1]

विवेक बन्धु ने चेतन को समझाया और उसे ममता रूपी पर घर में जाने से रोका। परिणाम यह हुआ कि चेतन और चेतना सहज ही मिल गए, जिससे परमानन्द रूप प्रिय के साथ एक रंग प्राप्त हो गया अर्थात् चेतन और चेतना एक रूप हो गए। इसी तरह एक अन्य पद में अनुभव ने भी चेतन को समझाया। तब चेतनराज ममता से मुक्त होकर समता रूपी निज घर में आ गए। उनके आगमन से मानो वसन्त का आगमन हो गया।[2]

किन्तु प्रियतम का आगमन होने पर भी चेतना का उससे साक्षात्कार नहीं होता है, क्योंकि उसका कर्म रूपी घूंघट दोनों के प्रत्यक्ष-मिलन में बाधक है। अतः सखी उसे कर्म-घूंघट को हटाने का संकेत करती हुई कहती है—

आनन्दघन दरस पियासी, खोल घूंघट मुख जोवे ॥[3]

अन्त में कर्म रूपी घूंघट खुल जाता है और प्रियतमा प्रियतम से सुहाग प्राप्त करती है। वह आनन्द विभोर होकर कह उठती है :—

आज सुहागिन नारी, अवधू,
मेरे नाथ आप सुध लीनी, कीनी निज अंग चारी ॥[4]

हे आत्मन् ! मेरे नाथ ने आज स्वयं अनुग्रह करके मेरी सुध ली है और मुझे अपनी सहचरी बनाया है। इसलिए नारी आज सौभाग्यवती हुई। लम्बी प्रतीक्षा के बाद आए नाथ को प्रसन्न करने हेतु वह साधना रूपी विविध भांति के श्रृङ्गार करती है। उसने सद्‌गुणों के प्रेम की और श्रद्धा

---

१. आनन्दघन ग्रन्थावली, पद ४१।
२. वही, पद ७८।
३. वही, पद ८५।
४. वही, पद ८६।

के रंग में रंगी हुई रुचिकर झीनी साड़ी धारण की है, भक्ति रूपी मेंहदी रचाकर और भाव का सुखदायक अंजन लगाया है। तदनन्तर सहज स्वभाव रूपी चूड़ियाँ और स्थिरता रूपी बहुमूल्य कंगन धारण किया है। ध्यान रूप उर्वशी-गहना वक्षस्थल पर रखा है और पिय के गुण-रत्नों की माला (रत्नत्रय) को गले में पहना है। सुरत रूप सिन्दूर से मांग को सजाया है और निवृत्ति रूप वेणी को आकर्षक ढंग से गूंथा है। इस प्रकार, समता-प्रिया सोलहों श्रृङ्गार से सजकर प्रिय के मुक्ति-महल में जाने हेतु गुणस्थान रूप सीढ़ियों पर चढ़ती है, तब उसके घट में त्रिभुवन की सबसे अधिक प्रकाशमान अनुभव ज्ञान रूपी ज्योति प्रकट हो गई, जिससे केवल ज्ञान रूप शुद्धात्म-दर्पण में मन-मोहक प्रिय का रूप छलक उठा। प्रिय को देखते ही अजपाजाप की ध्वनि उत्पन्न हो गई और द्वार पर अनहदनाद के विजय नगारे बजने लगे। अब तो आनन्द-मेघ की अनवरत झड़ी लग गई और मन-मयूर उस आनन्द में एक तार हो गया-लवलीन हो गया :—

प्रेम प्रतीत राग रुचि रंगत, पहिरे जीनी सारी।
महिंदी भक्त रंग की राचो, भाव अंजन सुखकारी ॥२॥

सहज सुभाव चूरियां पेनी, थिरता कंगन भारी।
ध्यान उरवसी उर में राखी, पिय गुन माल आधारी ॥३॥

सूरत सिंदूर मांग रंग राती, निरतें बेनी समारी।
उपजी ज्योत उद्योत घट त्रिभुवन, आरसी केवल कारी ॥४॥

उपजी धुनि अजपा की अनहद, जीत नगारे वारी।
झड़ी सदा आनन्दघन बरखत, बन मोर एकन तारी ॥५॥[1]

आनन्दघन रूप आत्म-प्रिया का परम सौभाग्य है कि चिरकाल के पश्चात् उसके भीतर निरंजन देव स्वयं प्रकट हुए हैं। इसलिए वह दृढ़तापूर्वक कहती है कि अब निरंजन आत्मा ही मेरा पति है। इसका ही मुझे अवलंबन है। अब उसे इधर-उधर कहीं भटकने की और सिर झुकाने की आवश्यकता नहीं है और न किसी को प्रसन्न करने की। साथ ही, उसे अपने निरंजन रूप पति को देखने के लिए खंजन पक्षी के नेत्र के

१. आनन्दघन ग्रन्थावली, पद ८६।

लम्बे नेत्र और उन नेत्रों को सुन्दर बनाने के लिए अंजन की भी आवश्यकता नहीं है क्योंकि उसके अपने हृदय में ही निरंजन परमात्मरूप पति विराजित हैं। अन्तःकरण में सुशोभित निरंजन परमात्मा के कारण अब उसके समस्त पाप और भय दूर भाग गए हैं। उसका यह परमात्मरूप साजन साधारण नहीं है। वह कामधेनु और अमृत-कुंभ है। इतना ही नहीं, आनन्दमय परमात्मा उसके हृदय रूपी वन के केसरी सिंह हैं जो काम रूपी मदोन्मत्त हाथी का नाश करने वाले हैं—

अब मेरे पति गति देव निरंजन।
भटकूं कहां कहां सिर पटकूं, कहां करूं जन रंजन ॥१॥
खंजन दृग दृग नांहि लगावुं, चाहुं न चित वित अंजन।
संजन घट अन्तर परमातम, सकल दूरित भय भंजन ॥२॥
एहि काम-गवि, एहि काम घट, एहि सुधारस मंजन।
आनन्दघन घटवन केहरि, काम मतंगज गंजन ॥३॥[1]

इस प्रकार, जब चेतन-चेतना का मिलन हो जाता है, तब समस्त द्वैत भाव तिरोहित हो जाते हैं। पूर्णता की स्थिति आ जाती है। दोनों में कोई अन्तर ही नहीं रह जाता और उसकी चिरकालीन विरह-व्यथा समाप्त हो जाती है। द्वैत भाव केवल विरहावस्था तक प्रतिभासित होता है किन्तु जैसे ही मिलन की अवस्था आती है, द्वैत भाव मिट जाता है और साधक आत्मानुभव-रस का पान करने लगता है।

आत्म-समर्पण की अवस्था

रहस्यवाद की अवस्थाओं के सन्दर्भ में आत्मसमर्पण की अवस्था भी उल्लेखनीय है, क्योंकि आनन्दघन ने 'आत्म-अर्पण' की बात कही है। अतः इस प्रश्न पर किंचित् गहराई से विचार कर लेना अपेक्षित है।

सबसे पहले हमें यह स्पष्ट करना होगा कि 'आत्मार्पण' या 'आत्म-समर्पण' से आनन्दघन का क्या तात्पर्य है? जैन-परम्परा में आत्म-अर्पण या आत्म-समर्पण का अर्थ है—आत्मा को पर भाव से हटाकर स्वभाव-दशा की ओर ले जाना या 'स्व' में केन्द्रित होना। यह बहिर्मुखता का त्याग कर

१. आनन्दघन ग्रन्थावली, पद ८।

अन्तर्मुख होना है। आत्म-अर्पण का अभिप्राय है-आत्म-अवस्थिति या आत्म-रमण। निश्चय-दृष्टि से स्व-स्वरूप में अनवरत रमण करना ही आत्मार्पण है। आनन्दघन द्वारा वर्णित परमात्मा के चरणों में आत्मार्पण करने का अर्थ है देहादि वाह्य-पदार्थ-जैसे-पुत्र-कलत्र, धन-सम्पत्ति, मकान-खेत आदि के प्रति साधक की जो आसक्ति या ममत्व भाव है, उसका परित्याग कर आत्म-भाव में स्थित होना। दूसरे शब्दों में- बहिरात्मा का त्याग कर अन्तरात्ममुखी होकर परमात्म-भाव का चिन्तन करना।

आवश्यक सूत्र में स्थान-स्थान पर 'अप्पाणं वोसिरामी' शब्द का प्रयोग हुआ है। प्राकृत के 'अप्पा' शब्द का अर्थ है-'आत्मा' या 'अपनेपन का भाव'। और 'वोसिरामी' शब्द का अर्थ है—विसर्जन। इस प्रकार 'अप्पाणं वोसिरामी' का अर्थ होता है—आत्मा अर्थात् बहिरात्मा का विसर्जन। दूसरे शब्दों में, अपनेपन या ममत्व भाव का विसर्जन। आनन्दघन के पद में यह आत्म-अर्पण शब्द उपर्युक्त 'अप्पाणं वोसिरामी' की प्राचीन अवधारणा को ही प्रतिध्वनित करता है। यद्यपि उसमें कुछ भक्ति का सम्पुट भी जुड़ गया है। आगमों का 'अप्पाणं वोसिरामी' और आनन्दघन का आत्म-अर्पण एक अर्थ में पर्यायवाची कहे जा सकते हैं। जब आध्यात्मिक साधक 'अप्पाणं वोसिरामी' (मैं अपने आपका व्युत्सर्ग करता हूँ) कहकर आत्मा का विसर्जन करता है तो प्रश्न यह उपस्थित होता है कि क्या वह वास्तव में आत्मा का त्याग करता है? वस्तुतः वह आत्मा का त्याग नहीं करता, प्रत्युत आत्मा से पृथक् शरीर और शरीर से सम्बद्ध पर-पदार्थों के प्रति जो मूर्च्छाभाव है, रागभाव है या अपनेपन का भाव है, उसका त्यागकर स्व-स्वरूप से तादात्म्य स्थापित करता है। आत्मा ज्ञाता, द्रष्टा होकर समभाव में रमन करता है, जब तक पर-पदार्थों के प्रति, अनात्मीय तत्त्वों के प्रति ममत्व भाव हैं, तब तक शुद्धात्मा या परमात्मा के निकट नहीं पहुंचा जा सकता। किन्तु जहां सर्वतोभावेन आत्म-समर्पण होता है वहाँ आत्मा बहिरात्मभाव को दूर करके अन्तरात्म-भाव में प्रवेश करती है और परमात्मा से तादात्म्य स्थापित कर लेती है। आत्मा का आत्मा में ही समर्पण हो जाता है। पाश्चात्य नीतिशास्त्र में इसी बात को पूर्णतावादी विचारकों ने निम्न आत्मा के त्याग द्वारा उच्चात्मा के लाभ के रूप में समझाया है। आत्म-समर्पण में आत्मा का त्रिविध-भेद मिट जाता

जाता है और मात्र शुद्ध आत्म-तत्त्व रह जाता है, जो दर्पण की तरह निर्मल और निर्विकार है (उसका नाम चाहे जो हो)।

यहां यह भ्रान्ति होना स्वाभाविक है कि जहाँ आत्मा परमात्मा के चरणों में सर्वतोभावेन आत्म-समर्पण कर देता है, वहां उसके पृथक् अस्तित्व बने रहने का तो कोई अर्थ ही नहीं रह जाता। किन्तु जैन दर्शन में आत्मा से पृथक् परमात्मा नाम की कोई सत्ता मान्य नहीं होने से शुद्धात्मा के प्रति यह आत्मसमर्पण है।

इसी सन्दर्भ में दूसरा प्रश्न यह उठाया जा सकता है कि एक ओर जहां जैनदर्शन परमात्मा की पृथक् सत्ता को अस्वीकार करता है, वहीं दूसरी ओर, आनन्दघन परमात्मा के ही चरणों में आत्म-समर्पण करने पर बल देते हैं। यह विपर्यास क्यों ?

आध्यात्मिक साधक के लिए आत्म-समर्पण अर्थात् निम्नात्मा का विसर्जन करना तो आवश्यक होता है किन्तु मूल प्रश्न यह है कि वह किसके समक्ष आत्म-समर्पण करे ? इसी प्रश्न का समाधान करते हुए आनन्दघन कहते हैं :

सुमति चरण कँज आतम अर्पण, दर्पण जिम अविकार सुज्ञानी।[1]

हे आत्मज्ञानी ! दर्पण की तरह निर्मल-निर्विकार ऐसे सुमति जिन के चरणों में आत्म-अर्पण करो। यहाँ आनन्दघन का 'परमात्मा' से मतलब किसी व्यक्ति-विशेष से नहीं है, अपितु आत्मा की ही एक शुद्ध अवस्था विशेष से है। परमात्मा के स्वरूप का चित्रण करते हुए वे कहते हैं कि परमात्मा वह है जो ज्ञान के आनन्द से परिपूर्ण, संसार की समग्र उपाधियों से रहित, अतीन्द्रिय और अनन्त गुण समूह से समन्वित हो।[2] ऐसे अतीन्द्रिय परमात्मा के चरणों में आनन्दघन ने आत्म-अर्पण करने का निर्देश किया है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट ध्वनित होता है कि आनन्दघन के दर्शन में परमात्मा नामक कोई पृथक् स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। आत्मा ही पर-

---

१. आनन्दघन ग्रन्थावली, सुमतिजिन स्तवन ।

२. वही।

मात्मा है। 'अप्पा सो परमप्पा' का उद्‌घोष उनकी इन पंक्तियों में द्रष्टव्य है :

आतम परमातम अनुसारी, सीझे काज सवारी।[1]

आत्मा आत्म-अर्पण द्वारा किस प्रकार परमात्म-स्वरूप प्राप्त कर लेता है इसके लिए वे एक सुन्दर रूपक देते हैं :

जिन सरूप थइ जिन आराधे, ते सहि जिनवर होवे रे।
भृङ्गी इलिकाने चटकावे, ते भृङ्गी जग जोवे रे॥[2]

उनका स्पष्ट कथन है कि साधक यदि परमात्मरूप होकर परमात्मा की भक्ति करता है तो वह स्वयं परमात्म-स्वरूप हो जाता है। साधक राग-द्वेषादि वृत्तियों को छोड़कर तदाकार वृत्ति धारण कर जिनेश्वर की आराधना करता है, वह निश्चित् रूप से परमात्मा बन जाता है। यह एक लोक-प्रसिद्ध उक्ति है कि भ्रमर लट (एक कीट-विशेष को) चटका देता है, भनभनाता है और वह लट सत्रह दिनों में गगन में उड़नेवाली भ्रमरी बन जाती है। शास्त्रकारों ने इसे 'कीट-भ्रमर न्याय' कहा है। जिस प्रकार भ्रमर के ध्यान से कीट भ्रमर बन जाता है, उसी प्रकार परमात्मा के ध्यान से आत्मा परमात्मा बन जाता है।

इससे स्पष्ट है कि आनन्दघन के रहस्यवाद का मूलाधार आत्मा-परमात्मा ही है। वे उस परमात्मा के चरणों में आत्म-अर्पण करना चाहते हैं, जो शुद्धात्म रूप है। उनकी दृष्टि में यह आत्म-अर्पण बाह्य नहीं, आत्मा का ही शुद्ध स्वरूप या सार-तत्त्व है।

संक्षेप में, कहा जा सकता है कि आनन्दघन किसी अन्य के चरणों में आत्म-अर्पण करने की बात नहीं करते, उनका शुद्धात्मा के चरणों में आत्म-समर्पण करने का उद्‌घोष है। न केवल उन्होंने आत्म-अर्पण का कथन किया, है, अपितु आत्म-अर्पण का सम्यक् उपाय भी बतलाया है। इस सम्बन्ध में वे कहते हैं :—

---

१. आनन्दघन ग्रन्थावली, पद ७५।

२. आनन्दघन ग्रन्थावली, नमिजिन स्तवन।

बहिरातम तजि अन्तर आतमा, रूप थई थिर भाव सुज्ञानी ।
परमातमनुं आतम भाववूं, आतम अरपण दाव सुज्ञानी ॥[१]

बहिरात्म भाव को त्याग कर अन्तरात्म स्वरूप में स्थित होकर परमात्म स्वरूप का चिन्तन करना ही आत्म-अर्पण का श्रेष्ठ उपाय है। उनके अनुसार आत्मार्पण की अवस्था (तत्त्व) पर चिन्तन करने से साधक की बुद्धि निर्मल हो जाती है, समस्त संशय दूर हो जाते हैं और आत्मोपलब्धि रूपी संपदा प्राप्त हो जाती है, जो आनन्दघन रूप रस से युक्त है :—

आतम अर्पण वस्तु विचारतां, भरम टलै मति दोष सुज्ञानी ।
परम पदारथ सम्पति संपजै, आनन्दघन रस पोष सुज्ञानी ॥[२]

इस आत्म-अर्पण की अवस्था के सन्दर्भ में उन्होंने ऋषभजिन स्तवन में आत्म-अर्पण करने के पूर्व साधक को निष्कपट होने की चेतावनी भी दी है। वे कहते हैं—

कपट रहित थई आतम अर्पणा, आनन्दघन पद रेह ।[३]

साधक को त्म-अर्पण करने के पहले निष्कपट होना आवश्यक है, क्योंकि जब तक वह निष्कपट होकर आत्म-अर्पण नहीं करता, तब तक वह केवल दिखावा मात्र होगा। जहाँ कपट है, द्वैतभाव है, वहाँ परमात्मा के साथ अन्तरात्मा की एक-रूपता नहीं हो सकती। इसीलिए आनन्दघन ने साधक के निष्कपट होने पर बल दिया है।

इस प्रकार, हम देखते हैं कि आनन्दघन की आत्म-समर्पण या आत्म-अर्पण की अवस्था में किसी प्रकार के दम्भ, छल-प्रपंच या माया-जाल आदि को स्थान नहीं है। निष्काम और निःस्वार्थ-भाव से अन्तरात्मा का परमात्मा में अर्पित हो जाना-लीन हो जाना ही सच्ची आत्म-अर्पणता है। जब साधक अपने आत्म-तत्त्व से भिन्न-परभाव जिन्हें अभी तक वह अपना मानता आया है, उनका सर्वतोभावेन व्युत्सर्ग—अन्तःकरण से त्याग कर देता है तभी उसका आत्मार्पण सच्चा कहा जा सकता है। ऐसे समर्पण-कर्ता बहिरात्म भाव से सर्वथा मुक्त होकर अन्तरात्म-दशा में ही स्थिर

---

१ आनन्दघन ग्रन्थावली, सुमतिजिन स्तवन ।

२. वही ।

३. आनन्दघन ग्रन्थावली, ऋषभजिन स्तवन ।

होकर परमात्म अवस्था का चिन्तन करते हैं। यही नहीं, बहिरात्म-दशा के विसर्जन हो जाने से आत्मा की परमात्मा के साथ इतनी एकरूपता हो जाती है कि वह परमात्मरूप हो जाता है। वस्तुतः जैनदर्शन में साधक और सिद्ध, भक्त और भगवान्, आत्मा और परमात्मा भिन्न-भिन्न सत्ताएँ नहीं हैं। जैन-दृष्टि आत्मा और परमात्मा में परम अद्वैत मानती है, क्योंकि परमात्मा आत्मा की ही शुद्ध दशा है।

तादात्म्य अथवा आत्मोपलब्धि की अवस्था

आत्म-समर्पण की स्थिति के पश्चात् रहस्यवाद में अन्तिम अवस्था आत्मोपलब्धि अथवा अपरोक्षानुभूति की है। यही आत्मोपलब्धि या अपरोक्षानुभूति साधक के लिए सिद्धावस्था या मुक्तावस्था बन जाती है। कतिपय भारतीय रहस्यवादियों ने इसे तादात्म्य की अवस्था भी कहा है और अण्डरहिल ने इसे 'युनिटी आफ् द सोल' कहा है। साधक के इस स्थिति में पहुँचने पर हृदय की समस्त मोह-ग्रन्थियाँ विदीर्ण हो जाती हैं और आत्मा का परमात्मा से तादात्म्य हो जाता है। वस्तुतः रहस्यवादी साधक का अन्तिम लक्ष्य या परम साध्य इसी अवस्था को प्राप्त करना है। न केवल रहस्यवादियों का, अपितु दार्शनिकों का भी मुख्य प्रयोजन आत्म-दर्शन और आत्मोपलब्धि ही रहा है। इस अवस्था को उपनिषदों में 'ब्रह्म-भाव' की संज्ञा दी गई है। उनमें इस स्थिति का वर्णन बड़े विशद रूप में पाया जाता है। मुण्डकोपनिषद् में कहा गया है—"उस ब्रह्म के दर्शन होने पर हृदय की समस्त अज्ञान रूपी ग्रन्थियाँ नष्ट हो जाती हैं और सब प्रकार के संशय दूर हो जाते हैं। साधक के समूचे पाप-कर्म भी क्षय हो जाते हैं।[1]" इसी ब्रह्म-साक्षात्कार या आत्म-साक्षात्कार की आनन्दानुभूति का आस्वादन रहस्यवादी सन्त आनन्दघन ने भी किया है।

आनन्दघन ने भी उपनिषदों की ही भाँति आत्मोपलब्धि की दशा का वर्णन किया है। मुण्डकोपनिषद् की भाँति वे कहते हैं कि आत्मोपलब्धि होने पर समस्त दुःख और दुर्भाग्य नष्ट हो जाते हैं। उनका विश्वास है कि आत्मोपलब्धि होते ही साधक का संसार-सागर से निस्तार हो जाता

१. भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्व संशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे॥
—मुण्डकोपनिषद्, २।२।८।

है और उसका जीवन आनन्दमय बन जाता है। एक पद में आनन्दघन ने आत्मोपलब्धि की इस स्थिति का बड़ा ही मार्मिक चित्र प्रस्तुत किया है। विमलजिन स्तवन में वे मस्ती में झूम उठते हैं, उनका रोम-रोम पुकार उठता है—

> दुःख दोहग दूरै टल्या रे, सुख संपत सूँ भेट।
> धींग धणी माथे कियो रे, कुण गंजे नर-खेट ॥
> विमल जिन दीठा लोयणे आज, म्हारा सीझा वांछित काज ॥[1]

आज मैंने विमलजिन को दिव्य-नेत्रों से प्रत्यक्ष देख लिया है, मुझे उनका साक्षात्कार हुआ है। इससे मेरा मनोवांछित कार्य सिद्ध हो गया। परमात्म-तत्त्व का साक्षात्कार एवं आत्मोपलब्धि की दशा में आत्मा स्वयं परमात्मा बन जाता है। जैनदर्शन का प्राणभूत सूत्र है—'अप्पा सो परमप्पा'। इसीलिए आनन्दघन परमात्म-तत्त्व के दर्शन करके स्वयं को कृतकृत्य मानते हैं। यहाँ उनके द्वारा प्रयुक्त 'लोयण' शब्द में गूढ़ रहस्य भरा हुआ है। सामान्यतया 'लोयण' का अर्थ है नेत्र (लोचन)। लेकिन प्रश्न यह है कि क्या परमात्मा का वास्तविक साक्षात्कार या दर्शन चर्म-चक्षुओं से हो सकता है? इसका समाधान स्वयं आनन्दघन ने अजितजिन स्तवन में किया है। उन्होंने स्पष्टतः यह कहा है :—

> चरम नयन करि मारग जोवतो, भूल्यो सयल संसार।[2]

चर्म-चक्षुओं से परमात्म-पथ का दर्शन करने के भ्रम में तो समूचा संसार पड़ा हुआ है। किन्तु परमात्म-पथ के दर्शन के लिए तो दिव्य-चक्षु अर्थात् जिन-चक्षु चाहिए। उस मार्ग को किन चक्षुओं से देखा जाय इस सम्बन्ध में वे स्पष्ट कहते हैं :—

> जिण नयने करि मारग जोइए, नयण ते दिव्य-विचार।[3]

परमात्म-पथ देखने के लिए जिन अर्थात् परमात्म-रूपी नेत्रों की आवश्यकता है। आत्म-ज्ञान रूपी नेत्रों के द्वारा ही परमात्मा के मार्ग को देखा

---

१. आनन्दघन ग्रन्थावली, विमलजिन स्तवन।
२. आनन्दघन ग्रन्थावली, अजितजिन स्तवन।
३. वही।

जा सकता है। इसलिए यहाँ भी उनका 'लोयण' से अभिप्राय आत्म-ज्ञान रूपी दिव्य-नेत्रों से है।

परमात्मा का साक्षात्कार होते ही आत्मिक दृढ़ता बढ़ जाती है और इसीलिए वे दृढ़ आत्मबल के साथ कह उठते हैं कि जिसने परमात्मा रूपी नाथ को अपने सिर पर धारण कर लिया है यानी जिसे परमात्मा रूपी स्वामी का आधार मिल गया है उसे राग-द्वेष-मोहादि आन्तरिक शत्रु अपना शिकार कैसे बना सकते हैं? इसके साथ ही उन्हें परमात्म-दर्शन से सम्यग्दर्शन-ज्ञान रूप आत्मिक सुख-सम्पदा मिली है। वह पौद्गलिक सुख की तरह नाशवान् नहीं है, अपितु अखण्ड और अविनाशी है। इस सम्पदा के प्राप्त हो जाने पर कृतकृत्य होकर वे अपनी मस्ती में बोल उठते हैं—

म्हारा सीझा वांछित काज।

मेरे मनोवांछित कार्य आज सिद्ध हो गए। जिस आत्मिक-सुख-सम्पदा को प्राप्त करने का मेरा मनोरथ था, वह सफल हो गया। उन्होंने कहा है कि परमात्म-साक्षात्कार होने पर सब प्रकार के संशय समाप्त हो जाते हैं और निर्मल सम्यग्दर्शन प्रकट हो जाता है। जैसे, सूर्य की किरणों का जाल फैलते ही अन्धकार नष्ट हो जाता है, वैसे ही परमात्म-दर्शन होने पर संशय रूप अज्ञानान्धकार दूर हो जाता है। परमात्मा का साक्षात्कार होने के पश्चात् साधक में किसी प्रकार का संशय या संकल्प-विकल्प नहीं रह जाता, अपितु उसके सब संशय निर्मूल हो जाते हैं—

दरसण दीठे जिन तणो रे, संशय रहे न वेध।
दिनकर कर भर पसरतां रे, अन्धकार-प्रतिषेध ॥[1]

कुछ ऐसा ही भाव शान्तिजिन स्तवन में भी ध्वनित होता है:

ताहरे दरसणै निस्तर्यो, मुज सीधां सवि काम रे।[2]

आपके दर्शन से यानी परमात्मा का साक्षात्कार होने से मेरा संसार-सागर से निस्तार हो चुका है और मेरे सभी कार्य सिद्ध हो गए हैं। उक्त कथनों से स्पष्ट विदित होता है कि आनन्दघन का परमात्मा से साक्षात्कार हुआ और फलतः उनके समस्त दुःख-दुर्भाग्य एवं संशय दूर हो गए।

---

१. आनन्दघन ग्रन्थावली, विमलजिन स्तवन।
२. आनन्दघन ग्रन्थावली, शान्तिजिन स्तवन।

परमात्मा से साक्षात् भेंट अर्थात् आत्मोपलब्धि होने पर आत्मा परमात्म-स्वरूप हो जाता है। इस अवस्था को आनन्दघन ने निम्नलिखित शब्दों में प्रकट किया है—

> अहो अहो हुं मुजने कहूँ, नमो मुज नमो मुज रे।
> अमित फल दान दातारनी, जेथी भेंट थई तुज रे॥[1]

परमात्मा के दर्शन को पाकर मैं धन्य हो उठा। मेरे जन्म-जन्म के बन्धन कट गए, तब मैं अपने आपको ही बार-बार नमन करता हूँ। अभिप्राय यह है कि जब साधक को परमात्म-स्वरूप की वास्तविक अनुभूति होती है, आत्मदेव का दर्शन होता है, तब आत्मा आत्मा को ही नमन करता है, क्योंकि उस अवस्था में आत्मा और परमात्मा दोनों अभिन्न रूप में प्रतिभासित होते हैं। इसी दृष्टि से आनन्दघन ने अपनी आत्मा को प्रफुल्लित होकर साधुवाद दिया है, नमन किया है, भाग्यशाली एवं कृतकृत्य माना है।

वस्तुतः आत्मोपलब्धि वह दशा है जब साध्य और साधक, भक्त और भगवान् के सारे द्वैत समाप्त हो जाते हैं। आत्मा का ही परमात्म-स्वरूप में बोध होता है, आस्वाद होता है, उस दशा में आत्मा और परमात्मा में कोई दूरी नहीं रह जाती है। जो आराधक था, वही आराध्य बन जाता है। कहा भी गया है—'[illegible]'। इस आत्मोपलब्धि का अपरिमित फल मोक्ष है, संसार-चक्र से मुक्ति है, जिसे पाकर कुछ भी पाना शेष नहीं रह जाता। उक्त पंक्तियों में आनन्दघन ने परमात्मा के साथ अद्वैत की अनुभूति करके ही परम शान्ति के अधिष्ठान स्वात्मा को नमस्कार किया है। भक्ति के माध्यम से उक्त स्तवनों में परमात्म-साक्षात्कार का कितना अनुभूतिमय चित्र उपस्थित किया है। इतना ही नहीं, उनका 'परचा' (परिचय) आनन्दघन रूप परमात्म-स्वरूप से भी हुआ था। इस बात को उन्होंने बड़े ही मार्मिक ढंग से अभिव्यक्त किया है :—

> साधो भाई अपना रूप जब देखा।
> करता कौन करनी फुनि कैसी, कौन मांगेगो लेखा॥

---

१. आनन्दघन ग्रन्थावली, शान्तिजिन स्तवन।

साधु संगति और गुरु की कृपा तें मिटि गइ कुल की रेखा।
'आनन्दघन' प्रभु परचो पायो, उतर गयो दिल भेखा ॥[1]

हे सज्जनों! जब मैंने आत्म-दर्शन किया, आत्म-साक्षात्कार किया, तब मैंने यह जाना कि द्रव्य-दृष्टि से आत्मा न तो कर्मों का कर्ता और भोक्ता है और न शुभाशुभ कर्म-फलों का लेखा-जोखा रखनेवाला है। सत्संग और सद्गुरु के अनुग्रह से चिरकालीन हृदय के भीतर जमी हुई अहंकारादि वृत्तियाँ दूर हो गयीं। अभी तक मैं कुल-वंश, गच्छ आदि की मर्यादा से आबद्ध था, किन्तु सज्जनों के समागम में आने एवं सद्गुरु के प्रसाद से आज मैं इन सब से ऊपर उठ कर निज-स्वरूप में स्थित हो गया। स्व-स्वरूप में स्थित होने से आनन्दमय परमात्मा से मेरा परिचय हो गया और इसका परिणाम यह हुआ कि मुझे अपने परमात्म-स्वरूप का बोध हो गया। अब आत्मा और परमात्मा का भेद समाप्त हो गया।

संक्षेप में, आनन्दघन का भावात्मक अनुभूतिमूलक रहस्यवाद एक वृक्ष की भाँति है, जिसका बीज परमात्म-प्रेम है, अंकुर आध्यात्मिक विरह है, आत्म-दर्शन फूल है और परमात्मस्वरूप की उपलब्धि मधुर-फल है।

---

१. आनन्दघन ग्रन्थावली, पद ७।

सहायक ग्रन्थ-सूची

जैन तथा अन्य ग्रन्थ

अभिधान राजेन्द्र कोश—(सात भाग)— श्रीमद्विजय राजेन्द्रसूरि जी, श्रीजैन श्वेताम्बर समस्त संघ, रतलाम, सन् १९१३।

अभिधान चिन्तामणि— हेमचन्द्र [illegible] शास्त्री, चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी-१।

अमरकोश—अमरसिंह-टीकाकार हरगोविन्द, चौखम्भा संस्कृत सीरीज, सन् १९६८।

अनुयोगद्वार सूत्र—(वृत्ति सहित) श्रीमद्मलधारीय हेमचन्द्रसूरि, शाह गुलाबचन्द लल्लूभाई, भावनगर, सन् १९३९।

अन्ययोगव्यवच्छेदिका—आचार्य हेमचन्द्र

अध्यात्मसार—उपाध्याय यशोविजय, केशरबाई ज्ञान भण्डार, स्थापक, संघवी-नगीनदास करमचंद, प्रथम आवृत्ति, वि० सं० १९९४।

अध्यात्मोपनिषत्—उपाध्याय यशोविजय, केशरबाई ज्ञान भंडार, स्थापक, संघवी-नगीनदास करमचन्द, प्रथम आवृत्ति, वि० सं० १९९४।

अध्यात्ममतपरीक्षा—उपाध्याय यशोविजय (देखिए-न्यायाचार्य श्रीयशोविजयजीकृत ग्रन्थमाला)।

अनेकान्त व्यवस्था प्रकरण—प्रथम [illegible] यशोविजय, तत्त्वबोधिनी वृत्ति श्रेष्ठी ईश्वरदास मूलचन्द, श्रीविजय लावण्यसूरि ज्ञान मन्दिर, बोटाद (सौराष्ट्र), वि० सं० २००८।

अध्यात्म-प्रवचन—उपाध्याय अमरमुनि-सम्पा० मुनि दुलराज, आदर्श साहित्य संघ, चूरू (राजस्थान), १९७३।

अपभ्रंश और हिन्दी में जैन रहस्यवाद—डा० वासुदेव सिंह, समकालीन प्रकाशन, वाराणसी, प्रथम संस्करण, सं० २०२२।

अष्टपदी—उपाध्याय यशोविजय ।

अध्यात्म पदावली—सम्पा० राजकुमार जैन, भारतीय ज्ञानपीठ, प्रथम संस्करण, शकसंवत्, १९५४ ।

अष्टादश-उपनिषत—(प्रथम खण्ड) वैदिक-संशोधन-मण्डलम्, पुण्य-पत्तनम्, प्रथम संस्करण, शक संवत् १८८० ।

अध्यात्म-रहस्य—पं० [illegible]-जुगलकिशोर मुख्तार, प्रका०-वीर-सेवा-मन्दिर, २१, दरियागंज, दिल्ली, प्रथम आवृत्ति, १९५७ ।

अथर्ववेद—संस्कृति संस्थान, बरेली, १९६२ ।

अध्यात्म दर्शन—भाष्यकार-मुनि नेमिचन्द्र म०, विश्ववात्सल्य प्रकाशन समिति, आगरा-२, प्रथम संस्करण, १९७६ ।

अष्ट पाहुड़—आचार्य कुन्दकुन्द, रावजी भाई छगनभाई देसाई, परमश्रुत प्रभावक मण्डल, श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम, अगास ।

अष्टक प्रकरण—श्री हरिभद्रसूरि, श्री महावीर जैन विद्यालय, गोवालिया, टैंक रोड, बम्बई, प्रथम आवृत्ति, सन् १९४१ ।

अकलंकग्रन्थत्रयम्—(स्वोपज्ञ विवृत्ति सहितं लघीयस्त्रयम्, न्यायविनिश्चयः, प्रमाणसंग्रहश्च) : अकलंकदेव-सम्पादक-'न्याय कुमुदचन्द्र', सिंधी जैन ग्रन्थमाला, अहमदाबाद-कलकत्ता, प्रथम आवृत्ति, विक्रम सं० १९९६ ।

आचारांग सूत्र—पंचम गणधर सुधर्मास्वामी, सम्पा०-मुनि जम्बू विजय, श्री महावीर जैन विद्यालय, बम्बई ४०००३६ प्रथम संस्करण, ई० सन् १९७७ ।

आचारांग निर्युक्ति—आचार्य भद्रबाहु, श्री सिद्धचक्र-साहित्य प्रचारक समिति, सन् १९३५ ।

आचारांग चूर्णि—श्री जिनदासगणी, श्री ऋषभदेवजी-केशरी-मलजी श्वेताम्बर संस्था, रतलाम, सन् १९४१ ।

आगमयुग का जैनदर्शन—पं० दलसुख मालवणिया-सम्पा० विजयमुनि शास्त्री, सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा, प्रथम प्रवेश, १९६६ ।

आप्तमीमांसा (देवागम)—स्वामी समन्तभद्राचार्य, हिन्दी टीकाकार- पं० जयचन्द्रजी, मुनि अनन्तकीर्ति ग्रन्थमाला समिति, कालबादेवी रोड, बम्बई, प्रथम आवृत्ति ।

आनन्दघन ग्रन्थावली—सम्पा०- महताबचन्द खारैड, 'विशारद' विजयचन्द जरगड, जयपुर-३, प्रथम आवृत्ति, सं० २०३१ ।

आनन्दघन चौबीसी प्रमोदायुक्त— सम्पा० प्रभुदास बेचरदास पारेख, श्री जैन श्रेयस्कर मण्डल-महेसाणा, पुनरावृत्ति, सन् १९५७ ।

आनन्दघन चौबीसी—विवे० मोतीचन्द गिरधरलाल कापडिया, श्रीमहावीर जैन विद्यालय, बम्बई-३६, प्रथम आवृत्ति, ई० स० १९७० ।

आनन्दघनजी नां पदों, भाग १—विवे० मोतीचन्द गिरधरलाल कापडिया, श्री महावीर जैन विद्यालय, बम्बई-३६, द्वितीय आवृत्ति, १९५६ ।

आनन्दघनजी नां पदो, भाग २—विवे० मोतीचन्द गिरधरलाल कापडिया प्रका०- श्री महावीर जैन विद्यालय, बम्बई-३६, प्रथम आवृत्ति, १९१४ ।

आनन्दघन पद-संग्रह—आचार्य बुद्धिसागर सूरि, श्री अध्यात्म ज्ञान प्रसारक मण्डल, बम्बई ।

आनन्दघन एक अध्ययन—डा० कुमारपाल देसाई, आदर्श प्रकाशन, जुम्मा मस्जिद सामे, गांधी रोड, अहमदाबाद-३८०००१, प्रथम आवृत्ति, १९८० ।

अध्यात्म-दर्शन—भाष्यकार-मुनि नेमचन्द्र म०, विश्ववात्सल्य प्रकाशन समिति, लोहामण्डी, आगरा-२, प्रथम संस्करण, १९७६ ।

आ० प्रवर आनन्द ऋषि अभिनन्दन ग्रन्थ—सम्पादक- श्रीचन्द सुराना, 'सरस', प्रकाशक- श्री महाराष्ट्र स्थानकवासी जैन संघ, साधना सदन, नाना पेठ, पूना-२, सन् १९७५ ।

आधुनिक हिन्दी काव्य में रहस्यवाद—डा० विश्वनाथ गौड़, नन्दकिशोर एण्ड सन्स, चौक, वाराणसी, प्रथम संस्करण, १९६१ ।

आलाप सिद्धि—

आलाप पद्धति—रचयिता- देवसेन, चौरासी मथुरा, प्रथम संस्करण, वीर० नि० २४५९ ।

आत्मसिद्धि शास्त्र—श्रीमद् राजचन्द्र, अनुवादक-सम्पा०- पं० जगदीशचन्द्र शास्त्री, एम० ए०, श्री परमश्रुत प्रभावक मण्डल, खाराकुआँ, बम्बई-२, प्रथम आवृत्ति, सन् १९३७ ।

आवश्यक-निर्युक्ति—आचार्य भद्रबाहु स्वामी ।

इसिभासियाइं—अनु० मनोहर मुनि, सुधर्मा ज्ञानमन्दिर, १७०, कांदावाडी, बम्बई नं० ४ ।

ईशोपनिषद्—गीता प्रेस, गोरखपुर ।

उत्तराध्ययन सूत्र—(आत्मारामकृत हिन्दी टीका सहित) जैन शास्त्र माला कार्यालय, लाहौर, सन् १९३९-४२ ।

उपदेशतरंगिणी—श्री रत्नमन्दिर गणि, भूराभाई हर्षचन्द्र, अभ्युदय प्रेस, वाराणसी, वी० सं० २४३७ ।

उवासग दसांग—(उपासकदशांगसूत्रम्) - नियोजक- श्री कन्हैयालाल जी स०, श्री अ० भा० श्वे० स्था० जैन शास्त्रोद्धार समिति, राजकोट (सौराष्ट्र), तृतीय आवृत्ति, वि० सं० २०१७ ।

उपनिषत्संग्रह—(प्रथम और द्वितीय भाग) - मोतीलाल बनारसी दास चौक, वाराणसो (उ० प्र०), प्रथम संस्करण, सन् १९७० ।

एक सौ पच्चीस (१२५) एक सौ पचास (१५०) तीन सौ पचास (३५०) गाथाओंना स्तवनों—रचयिता- उपाध्याय यशोविजय, संशोधक- श्री सद्ज्ञानविजयगणी, जैनविद्याविजय प्रिंटिंग प्रेस, अहमदावाद, प्रथम आवृत्ति, वि० सं० १९७५ ।

ऋग्वेद— स्वाध्याय मण्डल, वसन्त-श्रीपादसातवलेकर, भारत मुद्रणालय, औन्धनगर (जि० सतारा), द्वितीय आवृत्ति, सन् १९४० ।

ओघनिर्युक्ति—आचार्य भद्रबाहु स्वामी (द्रोणाचार्य वृत्ति), आ० विजय दान सूरि जैन ग्रन्थमाला।

औववाइय सूत्र—(औपपातिक सूत्र) - अनुवादक-मुनि उमेशचन्द्र जी 'अणु', श्री अखिल भारतीय साधुमार्गी जैन संस्कृति रक्षक संघ, सैलाना (म० प्र०) प्रथम आवृत्ति, सन् १९६३।

कबीर का रहस्यवाद—डा० रामकुमार वर्मा, प्रका०-साहित्य भवन (प्रा.) लिमिटेड, इलाहाबाद-३, ११वां संस्करण, १९७२।

कबीर और जायसी का रहस्यवाद और तुलनात्मक अध्ययन—ले०-डा० गोविन्द त्रिगुणायत, साहित्य सदन, देहरादून-१, तृतीय संस्करण, १९७१।

कबीर ग्रन्थावली—सम्पा०- डा० भगवत्स्वरूप मिश्र, विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा-३, प्रथम संस्करण, १९६९।

कबीर ग्रन्थावली—सम्पा०- श्यामसुन्दर दास, काशी नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, १९२८।

कठोपनिषद्—गीता प्रेस, गोरखपुर।

कबीर साहित्य की परख—आचार्य परशुराम चतुर्वेदी, भारती भण्डार, इलाहाबाद, सम्वत् २०२१।

कबीर साहब—सम्पा०- विवेकदास, कबीर वाणी-प्रकाशन केन्द्र, वाराणसी, प्रथम संस्करण, १९७८।

कर्मग्रन्थ (प्रथम भाग)—श्रीमद् देवेन्द्रसूरि, अनुवादक-पं० सुखलाल जी संघवी, जवाहरलाल नाहटा, श्री आत्मानन्द जैन पुस्तक प्रचारक-मण्डल, आगरा, द्वितीय आवृत्ति, सन् १९३९।

कार्तिकेयानुप्रेक्षा—स्वामिकार्तिकेय- (स्वामि-कुमार) - सम्पा०-पं० कैलाश चन्द्र शास्त्री, श्री परमश्रुत प्रभावक-मण्डल, श्रीमद् राजचन्द्र जैन शास्त्रमाला, अगास, प्रथम आवृत्ति, ई० स० १९६०।

काव्यालंकार—आचार्य भामह-भाष्यकार-देवेन्द्रनाथ शर्मा, बिहार-[illegible], पटना, वि० सं० २०१९।

काव्यादर्श—आ० दण्डी-अनु० व्रजरत्नदास, व्रजरत्नदास-श्री कमलमणि ग्रन्थमाला-कार्यालय, बुलानाला, काशी, १९८८ ।

काव्यालंकार-सार-संग्रह (उद्भट) एवं लघुवृत्ति की व्याख्या—व्याख्याकार- डा० राममूर्ति त्रिपाठी, मोहनलाल भट्ट सचिव, प्रथम शासन निकाय, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, प्रथम संस्करण, सन् १९६६ ।

काव्य-प्रकाश—मम्मट-टीकाकार - डा० सत्यव्रत सिंह, चौखम्बा विद्या-भवन, बनारस-१ ।

केनोपनिषद्—गीता प्रेस, गोरखपुर ।

गुजरात के सन्तों की हिन्दी वाणी—सम्पा० डा० अम्बाशंकर नागर, गुर्जर भारती, दूधियो बिल्डिग, गांधीरोड, अहमदाबाद-१, प्रथम संस्करण, सन् १९६९ ।

गुजरात के हिन्दी गौरव ग्रन्थ—ले० डा० अम्बाशंकर नागर, गंगा पुस्तक माला कार्यालय, लखनऊ, १९६४ ।

गुजरात के कवियों की हिन्दी काव्य साहित्य को देन—लेखक-डा० नटवरलाल अम्बालाल व्यास, विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा, १९६७ ।

गोरखबानी—सम्पा०-पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल, हिन्दी साहित्य-सम्मेलन, प्रयाग, द्वितीय संस्करण, वि० सं० २००३ ।

गोरक्ष सिद्धान्त-संग्रह—

गोम्मटसार (कर्मकाण्ड)—नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती, श्री परमश्रुत प्रभावक मण्डल, श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम, अगास, चतुर्थ आवृत्ति, ई० स० १९७२ ।

घनानन्द कवित्त—सम्पा०-विश्वनाथप्रसाद मिश्र, सरस्वतीमन्दिर जतनबर, वाराणसी, षष्ठ संस्करण, सं० २०२६ वि० ।

घनानन्द और आनन्दघन—आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र, परिषद्, काशी, प्रथमावृत्ति, सं० २००२ ।

चर्पटपंजरिका—आचार्य शंकर ।

छान्दोग्योपनिषद्—गीताप्रेस, गोरखपुर।

जायसी ग्रन्थावली—पं० रामचन्द्र शुक्ल, काशी नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, १९२४।

जैनदर्शन मनन और मीमांसा—मुनि नथमल, सम्पा०-विजय मुनि शास्त्री, श्री सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा, प्रथम संस्करण, १९६६।

जैन ऐतिहासिक रासमाला—(भाग १) संशोधक-मोहनलाल दलीचन्द देसाई, श्री अध्यात्मज्ञान प्रसारक-मण्डल, बम्बई, प्रथम आवृत्ति, वि० सं० १९६९।

जैन तत्त्वादर्श—(उत्तरार्द्ध)-श्री आत्मारामजी म०, श्री आत्मानन्द जैन महासभा, पंजाब, हेड आफिस, अंबाला शहर, तृतीय संस्करण, ई० स० १९३६।

जैन मरमी आनन्दघन का काव्य—(लेख)-ले० आचार्य क्षितिमोहन सेन, अंक 'वीणा', पत्रिका, वर्ष १२, अंक १, नवम्बर, सन् १९३८।

जैन काव्य दोहन—(भाग १)-संग्रहकर्ता-श्रीमनमुख लाल रवजी भाई मेहता, अहमदाबाद, १९१३।

जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश—(भाग १-४)-क्षुल्लक जिनेन्द्र वर्णी, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, प्रकाशन कार्यालय, दुर्गाकुण्ड मार्ग, वाराणसी-५, प्रथम संस्करण, १९७०।

ठाणांग सूत्र—(स्थानांग सूत्र)-संयो०-पं० मुनि अमोलक ऋषि म०, राजा बहादुरलाल सुखदेव सहाय ज्वालाप्रसाद जी जौहरी।

तत्त्वार्थ सूत्र—आचार्य उमास्वाति, विवे०-पं० सुखलालजी संघवी, सम्पा०-पं० कृष्णचन्द्र जैनागम दर्शन शास्त्री एवं पं० दलसुख मालवणिया, श्री मोहनलाल दीपचन्द चोकसी, जैनाचार्य श्री आत्मानंद जन्म शताब्दी स्मारक ट्रस्ट बोर्ड, बम्बई-३, प्रथम संस्करण, १९९६।

तत्त्वार्थ राजवार्तिक सूत्र—आचार्य अकलंकदेव, सम्पा०-पं० गजाधरलाल जैन, साहित्य शास्त्री, श्री पन्नालाल जैन, काशी, चन्द्रप्रभा मुद्रणालय, सन् १९१५।

तुलसी ग्रन्थावली—

तैत्तिरीयोपनिषद्—गीताप्रेस, गोरखपुर ।

दशवैकालिक निर्युक्ति भाष्य—

दशवैकालिक सूत्र—श्री शय्यंभवसूरि, श्री अखिल-भारतीय साधुमार्गी जैन संस्कृति रक्षक संघ, सैलाना (म० प्र०), द्वितीय आवृत्ति, सन् १९६४ ।

दर्शन और चिन्तन—खण्ड १-२-पं० सुखलालजी, पं० सुखलालजी सन्मान समिति, गुजरात विद्या सभा, भद्र, अहमदाबाद-१, ई० सन् १९५७ ।

द्रव्यसंग्रह—श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती, टीकाकार-पं० अमृतलाल दर्शन-साहित्याचार्य, सद्बोध रत्नाकर कार्यालय, लक्ष्मीपुरा, सागर (म० प्र०), सन् १९६८ ।

द्रव्यगुण पर्यायनो रास—उपाध्याय यशोविजय ।

द्वादशार नयचक्र—(प्रथम विभाग) : आचार्य मल्लवादी, सम्पा० आचार्य विजय - लब्धिसूरि, चन्दुलाल जमनादास शाह, मंत्री-लब्धिसूरीश्वर जैन ग्रन्थमाला, छाणी (बड़ौदरा स्टेट), वि० सं० २००४ ।

द्वात्रिंशत् द्वात्रिंशिका—आचार्य सिद्धसेन ।

दोहाकोश—सिद्ध सरहपाद-सम्पा०-राहुल सांकृत्यायन, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना-३, प्रथम संस्करण, वि० सं० २०१४ ।

धवला—अमरावती, प्रथम संस्करण ।

धम्मपद—सम्पा०-श्री सत्कारि शर्मा बंगीय, चौखम्बा-विद्याभवन, वाराणसी-५, द्वितीय संस्करण, सन् १९७७ ।

धर्मविलास—(धानत विलास)-धानतराय, जैन ग्रन्थरत्नाकर कार्यालय, बम्बई, प्रथम संस्करण, १९१४ ।

नयचक्र—रचयिता-श्री माइल्ल धवल (देवसेनकृत सानुवाद-आलाप पद्धति तथा विद्यानन्द कृत तत्त्वार्थवार्तिक के नयविवरण सहित) : सम्पादक-पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, दिल्ली-६, प्रथम संस्करण, सन् १९७१ ।

नय-रहस्य—उपाध्याय यशोविजय (देखिए-न्यायाचार्य श्री यशोविजयजी कृत ग्रन्थमाला)।

नयचक्रसार—श्रीमद् देवचन्द्र जी म०।

नायाधम्म कहाओ—

नाथ सम्प्रदाय—हजारीप्रसाद द्विवेदी, हिन्दुस्तानी एकेडमी, उ० प्र०, इलाहाबाद, १९५०।

नारद भक्तिसूत्र—

नियमसार—आचार्य कुन्दकुन्द, जैन ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई, सन् १९१६।

निशीथ चूर्णि—(सभाष्य)-श्रीजिनदास गणि, सन्मति ज्ञानपीठ, लोहामण्डी, आगरा, प्रथम संस्करण, सन् १९५७।

निजानन्द-चरितामृत—रचयिता-पं० कृष्णदत्त शास्त्री, सम्पा०-पं० हरिप्रसाद शर्मा, संत सभा श्री नवतनपुरी धाम, जामनगर, वि० सं० २०२१।

न्यायाचार्य—श्री यशोविजयजी कृत ग्रन्थमाला, श्री जैन धर्म प्रसारक सभा, भावनगर, विक्रम संवत् १९६५।

पंचास्तिकाय—आचार्य कुन्दकुन्द, श्री परमश्रुत प्रभावक मण्डल, श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम, अगास, तृतीय आवृत्ति, वि० सं० २०२५।

परमात्म-प्रकाश—योगीन्दु [illegible] ए० एन० उपाध्ये, परमश्रुत प्रभावक मण्डल, श्रीमद् रामचन्द्र आश्रम, अगास, तृतीय संस्करण, सन् १९७३।

प्रश्नव्याकरण सूत्र—(पण्हावगरणं)–वृत्तिसहित, (प्रथम एवं द्वितीय खण्ड)–श्री ज्ञान विमलसूरि, सम्पा०–पं० मफतलाल झवेरचन्द, श्रीमुक्ति विमल जी जैन ग्रन्थमाला, अहमदाबाद, वि० सं० १९९५।

प्रवचनसार—कुन्दकुन्दाचार्य, प्रका०–श्री परमश्रुत प्रभावक मण्डल, श्रीमद् रामचन्द्र आश्रम, अगास, तृतीय आवृत्ति, सन् १९६४।

प्रमाणनयतत्त्वालोकालंकार

प्रमाणनयतत्त्वालोक—वादिदेव सूरि–विवे० और अनुवादक–पं० शोभाचन्द्र भारिल्ल, आत्म-जागृति कार्यालय, श्री जनगुरुकुल शिक्षण संघ, ब्यावर, प्रथम आवृत्ति, १९४२।

प्रशमरति प्रकरण—आचार्य उमास्वाति–अनु०–पं० राजकुमार साहित्याचार्य, श्री परमश्रुत प्रभावक मण्डल, जौहरी बाजार, बम्बई-२, प्रथम आवृत्ति, ई० स० १९५०।

प्रज्ञापना सूत्र—आर्य श्यामाचार्य–आ० मलयगिरि विरचित टीका–अनुवाद सहित–अनुवादक एवं संशो०–पं० भगवानदास हर्षचन्द्र, शारदा प्रेस, जैन सोसायटी, अहमदाबाद, सं० १९९१।

पाइअ-लच्छी नाममाला—महाकवि धनपाल, सम्पा० बेचरदास जीवराज दोशी, श्री शादीलाल जैन आर० सि० एच० बरड एण्ड को०, बम्बई–३, प्रथम आवृत्ति, १९६०।

पाइअ सद्द महण्णवो—सम्पा०–डा० वासुदेवशरण अग्रवाल, प्राकृत ग्रन्थ परिषद्, वाराणसी–५, द्वितीय संस्करण, १९६३।

पाहुड़ दोहा—मुनि रामसिंह, कारंजा जैन पब्लिकेशन सोसाइटी, कारंजा (बरार), १९३३।

पातंजल योगदर्शन—महर्षि पतंजलि, योगभाष्य विवृति के व्याख्याकार–स्वामी ब्रह्मलीन मुनि, भगवान् श्री कबीर स्वामी का मन्दिर, दालगिया महोल्ला, महीधरपुरा, सूरत (गुज०), सन् १९५८।

परमार्थ स्वाध्याय ग्रन्थ संग्रह—श्री जैन ग्रन्थ प्रकाशक सभा, भावनगर, सन् १९३९।

पुरुषार्थसिद्ध्युपाय—आचार्य अमृतचन्द्र, परमश्रुत-प्रभावक मण्डल, श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम, अगास, पंचम आवृत्ति, सन् १९६६।

बनारसी-विलास—कविवर पं० बनारसीदास, नानूलाल स्मारक ग्रन्थमाला, जयपुर, सं० २०११।

ब्रह्मविलास—भैया भगवतीदास, जैन रत्नाकर कार्यालय, बम्बई, द्वितीय आवृत्ति, सन् १९२६।

ब्रह्मविद्योपनिषद्—गीताप्रेस, गोरखपुर ।

बृहदारण्यकोपनिषद्—गीताप्रेस, गोरखपुर ।

बृहदारण्यक ब्राह्मण—गीताप्रेस, गोरखपुर ।

बृहद्द्रव्य-संग्रह—श्रीनेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती, संशो०-पं० मनोहरलाल शास्त्री, श्रीपरमश्रुत प्रभावक मण्डल, श्रीमद् राजचन्द्र जैनशास्त्र माला, अगास, तृतीय आवृत्ति, वि० सं० २०२२ ।

बौद्ध गान ओ दोहा—(बंगला में)-सम्पा०-महामहोपाध्याय पं० हरप्रसाद शास्त्री, बंगीय साहित्य परिषद्, कलकत्ता, द्वितीय मुद्रण, बंगाब्द १३३८ ।

बौद्ध एवं गीता के आचार दर्शन के सन्दर्भ में, जैन आचार दर्शन का तुलनात्मक अध्ययन—डा० सागरमल जैन ।

भगवती सूत्र—(व्याख्या प्रज्ञप्ति) - अभय देवसूरि कृत वृत्ति सहित, श्री ऋषभदेवजी केशरमलजी जैन श्वेताम्बर संस्था, रतलाम, द्वितीय संस्करण, सन् १९३९-१९४० ।

भक्तिकाव्य में रहस्यवाद—डा० रामनारायण पाण्डेय, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली-७, प्रथम संस्करण, १९६६ ।

भगवद्गीता—गीता प्रेस, गोरखपुर ।

भक्तामर-स्तोत्र—रचयिता-मानतुंगाचार्य (देखिए—श्री जैनधर्म प्रकरण रत्नाकर) ।

भगवती सूत्र—(व्याख्या प्रज्ञप्ति-पंचम अंग-प्रथम खण्ड)-श्री सुधर्मा स्वामी, श्री अभयदेवसूरिकृत विवरण सहित । अनु० एवं सं० - पं० बेचरदास जीवराज, श्री मनसुखलाल रवजी भाई मेहता, श्री जिनागम-प्रकाशक सभा, १०७ धनजी स्ट्रीट, बम्बई वि० सं० १९७४ ।

भारत की अन्तरात्मा—अनु० विश्वम्भरनाथ त्रिपाठी, १९५३ ।

भारतीय संस्कृति और साधना (द्वितीय खण्ड)—महामहोपाध्याय डा० गोपीनाथ कविराज, बिहार - राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, १९६४ ।

भागवत् पुराण (द्वितीय खण्ड)—ले०-महर्षि वेदव्यास, मोतीलाल जालान, गीता प्रेस, गोरखपुर, पंचम संस्करण, सं० २०२१ ।

भूधर-विलास—

मराठी साहित्यांतील मधुराभक्ति—डा० प्रह्लाद नरहर जोशी (पुणे, १९५७)।

महादेव-स्तोत्र—(आचार्य हेमचन्द्र, देखिए- परमार्ष स्वाध्याय ग्रन्थ संग्रह)।

मध्यमक शास्त्र—नागार्जुन, बुद्धिस्ट संस्कृत टेक्सट्स, नं० १०, मिथिला विद्यापीठ, सं० २०१६।

महाराष्ट्र शब्दकोश (भाग ६)—

माण्डूक्योपनिषद्—गीताप्रेस, गोरखपुर।

मीरा और उनकी प्रेमवाणी (मीरा बाई की पदावली, खण्ड–१), लेखक-ज्ञानचन्द जैन, एम० ए०, अध्योध्या सिंह, विशाल भारत बुक डिपो, १९५-ए, हरिसन रोड, कलकत्ता, प्रथम संस्करण, सन् १९४५।

मुण्डकोपनिषद्—गीताप्रेस, गोरखपुर।

मेदिनी कोश—भट्टमल, चौखम्बा संस्कृत ग्रन्थमाला।

मैत्रायण्युपनिषद्—गीताप्रेस, गोरखपुर।

मोक्ष पाहुड़ (मोक्ष-प्राभृत)—आचार्य कुन्दकुन्द (देखिए अष्ट पाहुड़)

मोक्ष-मार्ग प्रकाशक—श्री टोडरमलजी, जिनवाणी प्रचारक कार्यालय, ८०, लोअर चित्तपुर रोड, कलकत्ता, प्रथम आवृत्ति, सन् १९३९।

यजुर्वेद-मुद्रिता—अजमेर वैदिक यंत्रालय, वि० सं० १९५६।

युक्त्यानुशासन—

योगसार प्राभृत—आचार्य अमितगति, सम्पा०- जुगलकिशोर मुख्तार, 'युगवीर', भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, वाराणसी–५, प्रथम संस्करण, सन् १९६८।

योगशास्त्र—आचार्य हेमचन्द्र, श्री विजय कमल केशर ग्रन्थमाला, चतुर्थ संस्करण, वि० सं० १९८०।

योगावतार द्वात्रिंशिका—उपाध्याय यशोविजय।

योगवासिष्ठ—सम्पा०- वासुदेव लक्ष्मण शास्त्री, तुकाराम जावेजी, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, सन् १९१८।

योगवासिष्ठ और उनके सिद्धान्त—ले०- भीखनलाल आत्रेय, तारा प्रिंटिंग वर्क्स, बनारस, द्वितीय संस्करण, १९५७।

योगसार—योगीन्दु मुनि, परमश्रुत प्रभावक मण्डल, बम्बई, १९३७।

योगदर्शन—महर्षि पतंजलि, टीकाकार - हरिकृष्णदास गोयन्दका, घनश्यामदास जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर, द्वितीय संस्करण, सं० २०११।

योगबिन्दु—आचार्य हरिभद्रसूरि, सेठ ईश्वरदास मूलचन्द, श्री जैन ग्रन्थ प्रकाशक सभा, अहमदाबाद, सन् १९४०।

योगदृष्टिसमुच्चय—आचार्य हरिभद्रसूरि (देखिए- श्री हरिभद्रसूरि ग्रन्थ संग्रह)।

रहस्यवाद—आचार्य परशुराम चतुर्वेदी, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना-४, प्रथम संस्करण, वि० सं० २०२०।

रहस्यवाद—डा० राजेन्द्रसिंह रायजादा, गुलाब कुमारी रा० रायजादा, सोंदरडा, वाया केशोद ३६२२२०, प्रथम आवृत्ति, १९८०।

राजस्थान एवं गुजरात के मध्यकालीन सन्त एवं भक्त कवि—ले०-डा० मदनकुमार जानी, जवाहर पुस्तकालय, मथुरा।

रायपसेणी सूत्र—सम्पा०- बेचरदास जीवराज दोशी, वि० सं० १९९४।

राधाकृष्णदास ग्रन्थावली—

रैदास की बानी—

लोकतत्त्वनिर्णय—आचार्य हरिभद्रसूरि, (देखिए- श्री हरिभद्रसूरि ग्रन्थ संग्रहः)।

विशेषावश्यक भाष्य—(भाग-१) आचार्य जिनभद्र गणि - सम्पा० - पं० दलसुख मालवणिया, लालभाई दलपतभाई, भारतीय संस्कृति विद्यामन्दिर, [illegible], प्रथम संस्करण, १९६६।

विशेषावश्यक भाष्य—(द्वितीय भाग) : आचार्य जिनभद्रगणि, सम्पा०-पं० दलसुख मालवणिया, लालभाई दलपतभाई भारतीय संस्कृति विद्या मन्दिर, अहमदाबाद-९, प्रथम संस्करण, १९६८।

वीतक—स्वामी लालदासजी।

वेदान्त औौ सूफी-दर्शन—रमा चौधरी, कलकत्ता, १९४४ ई०।

सन्मति तर्क प्रकरण—आचार्य सिद्धसेन दिवाकर-श्री अभयदेवसूरि प्रणीत तत्त्वबोध विधायिनी व्याख्या (प्रथम काण्ड, प्रथम विभाग), श्री जैन ग्रन्थ प्रकाशन सभा, भावनगर, वि० सं० १९९६।

समयसार—आचार्य कुन्दकुन्द, रावजी भाई छगनभाई देसाई, परमश्रुत प्रभावक मण्डल, अगास, द्वितीय आवृत्ति, ई० सन् १९७४।

संथारापोरिसी सूत्र—(देखिए श्री जैनधर्म प्रकरण रत्नाकर, पृ० १७१)।

सर्वदर्शन संग्रह—श्रीमत् सायण माधवाचार्य, प्राच्यविद्या संशोधन मन्दिर, बम्बई, प्रथम संस्करण, १९२४।

समयसार टीका—आचार्य अमृतचन्द्र।

समाधि तंत्र—आचार्य पूज्यपाद, वीर-सेवा मन्दिर, सरसावा, भरहानपुर, प्रथम संस्करण, वि० सं० १९७६।

सन्तवाणी संग्रह, भाग १—

सर्वसारोपनिषद्—गीताप्रेस, गोरखपुर।

सर्वार्थ सिद्धि (तत्त्वार्थवृत्ति)—श्री पूज्यपाद स्वामी, कल्लाप्पा भरमाप्पा निटेव, कोल्हापुर, प्रथम आवृत्ति, शकाब्द १८२५।

सन्मति टीका—

समयसार नाटक—कविवर पं० बनारसीदासजी, आगरा, सस्तीग्रन्थमाला, ७।३३ दरियागंज, दिल्ली, प्रथम आवृत्ति, वीर निर्वाण सं० २४७६।

संयुत्त निकाय—अनु०-भिक्षु जगदीश काश्यप, भिक्षु धर्मरक्षित एम० ए०, महाबोधि सभा, सारनाथ, बनारस, प्रथम संस्करण, सन् १९५४ ।

साहित्यकोश—ज्ञानमण्डल प्रकाशन, सं० २०१५ ।

साडात्रण सो गाथाओ नुं स्तवन—उपाध्याय यशोविजय, श्री महावीर जैन सभा, खम्भात (गुजरात), प्रथम आवृत्ति, वि० सं० १९७५ ।

सीमंधर स्वामी नुं विनती रूप सवा सौ गाथा नुं स्तवन—रचयिता-उपाध्याय यशोविजय, श्रीमहावीर जैन सभा, खंभात, जैन-विद्याविजय, अहमदाबाद, प्रथम आवृत्ति, वि० सं० १९७५ ।

सुन्दर-दर्शन—

सुबालोपनिषद्—गीताप्रेस, गोरखपुर ।

सूत्रकृतांग सूत्र—(श्रीमद्शीलांकाचार्य वृत्तियुक्तम्)-सम्पा० एवं संशो०-मुनि श्री जम्बूविजयजी, मोतीलाल बनारसीदास, इण्डोलाजिक ट्रस्ट, बंगलारोड, जवाहर नगर. दिल्ली-७, प्रथम संस्करण, सन् १९७८ ।

सूक्ति त्रिवेणी—सम्पादक-उपाध्याय अमरमुनिजी, सन्मति ज्ञानपीठ, लोहामण्डी, आगरा-२, प्रथम प्रकाशन, सन् १९६८ ।

षड्दर्शन समुच्चय (टीका सहित)- भारतीय ज्ञानपीठ, देहली ।

षड्दर्शन समुच्चय :—आचार्य हरिभद्रसूरि (देखिए-श्री हरिभद्रसूरि ग्रन्थ संग्रह) ।

श्वेताश्वेतरोपनिषद्—गीताप्रेस, गोरखपुर ।

श्रीमद्देवचन्द्र—(भाग-१)-संशोधक-आचार्य बुद्धिसागर सूरि, श्री अध्यात्म ज्ञान प्रसारक मण्डल, द्वितीय आवृत्ति, ई० स० १९२९ ।

श्री जैनधर्म प्रकरण रत्नाकर—योजक-आचार्य विजयरामसूरि, श्री सुरेन्द्रसूरि जैन तत्त्व ज्ञान पाठशाला, अहमदाबाद, सन् १९६६ ।

श्रीप्रकरण—रत्नाकर (भाग १)-भीमसिंह माणक, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, सन् १९०३।

श्री हरिभद्रसूरि ग्रन्थ संग्रह—श्री जैनग्रन्थ प्रकाशक सभा, भावनगर, सन् १९३९ ई०।

श्री महावीर जैन विद्यालय-रजत महोत्सव स्मारक ग्रन्थ—संपा०-मोतीचन्द गिरधरलाल कापडिया और चन्दुलाल साराभाई मोदी, महावीर जैन विद्यालय, गोवालिया टैंक, बम्बई-२६, ई० सन् १९१५-४०।

श्वेताश्वेतरोपनिषद्—गीनाप्रेमं, गोरखपुर।

स्याद्वादमंजरी—(कारिका टीकासह)-हेमचन्द्राचार्य-अन्ययोग-व्यवच्छेद द्वात्रिंशिका स्तवन, टीका मल्लिषेण सूरि प्रणीता-सम्पा०-डा० जगदीशचन्द्र जैन, श्रीपरमश्रुत प्रभावक मण्डल, श्रीमद्-राजचन्द्र आश्रम, अगास, तृतीय आवृत्ति, ई० स० १९७०।

श्री महावी जैन विद्यालय-रजत महोत्सव ग्रन्थ—

श्रीमद्‌राजचन्द्र—(प्रथम खण्ड) - अनु०-हंसराज जैन, परमश्रुत प्रभावक मण्डल, श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम, अगास, प्रथम संस्करण, सन् १९७४।

श्री भैरव पद्‌मावती कल्प—आ० मल्लिषेण सूरि-सम्पा०-प्रो० के० वी० अभ्यंकर, एम० ए०, साराभाई मणिलाल नवाब, अहमदाबाद, प्रथम आवृत्ति, ई० सन् १९३७।

श्री समेतशिखरतीर्थना ढालियां—प्रेषक शेठ पन्नालाल उमाभाई, सम्पा०-पू० आचार्य विजयपद्मसूरि-श्री जैन सत्यप्रकाश, वर्ष १३, अंक-६, क्रमांक-१५०।

हिन्दी साहित्य का इतिहास—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, ११ वां संस्करण, सं० २०१४।

हिन्दी काव्यधारा—राहुल सांकृत्यायन, किताब महल, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण, १९४५।

हिन्दी-पद-संग्रह—डा० रामसिंह तोमर, सम्पा०-डा० कस्तूरचंद कासलीवाल, साहित्यशोध विभाग, दिगम्बर जैन अ० क्षेत्र श्री महावीरजी, जयपुर, प्रथम संस्करण, १९६५।

हिन्दी जैन भक्तिकाव्य और कवि—डा० प्रेमसागर जैन, भारतीय ज्ञानपीठ, वाराणसी, १९६४।

ज्ञानसाराष्टक—उपाध्याय यशोविजय, केशरबाई ज्ञानभण्डार स्थापक, संघवी नगीनदास करमचन्द, प्रथम आवृत्ति, वि० सं० १९९४।

ज्ञानार्णव---आचार्य शुभचन्द्र-अनुवादक-पं० बालचन्द्र शास्त्री, जैन संस्कृति संरक्षक संघ, सोलापुर, प्रथम आवृत्ति, सन् १९७७।

अंग्रेजी ग्रन्थ

An Introduction to Tibetan-Mysticism : Lama Govind Anagarika : Rider Company; London, 1959.

Asta Pahuda of Kundkundacharya : Part I- Introduction by Jagat Prasad.

Comparative Religion : A. C. Bonquet : Pelican Series; 1953.

Counter Attack from the East : C. E. M. Joad.

The Concise Oxford Dictionary : p. 782 (Word-Mystic), Oxford, 1961.

Eastern Religions and Western Thought : Dr. S. Radhakrishnan, Oxford, University Press; (II Edition).

Exploring Mysticism : First Staal.

Foundation of Tibetan Mysticism : Lama Anagarika Govind.

Gorakhanath and Kanfata Yogis : Briggs, Calcutta, 1938.

शुद्धिपत्रक

पृष्ठ संख्या	पंक्ति संख्या	अशुद्ध पाठ	शुद्ध पाठ
७	१	गूढ़पाद	गूढ़वाद
१५	सन्दर्भ	क्र०सं० २.३.१	क्र०सं० १.२.३
१६	१	भावानात्मक	भावनात्मक
४५	१	स्पस्प	स्वरूप
४८	८	सरलता	सरसता
४९	२०	कीलत	झीलत
५६	१५	अनुभूतियां	अनुश्रुतियाँ
५६	२५	नहूय मूला	नहयमूला
७३	६	इसमें	इससे
७५	२१	दिगम्बर	श्वेताम्बर
७६	३	दिगमंबर	दिगम्बर
७७	६	सती में	शती में
७८	३	लग	तक
७८	९	तपागच्च	तपागच्छ
८४	१२	आनन्द	आनन्दघन
९०	२०	झूरवं	झूरुं
९२	६	निसीनी कहां बताबुरं	निसाणी कहां बतावुंरे
९४	१८	पड़यै	पइए
१०१	२४	धीरे	थीरे
१०२	२५	प्रिया	त्रिया
१०३	२	समता भावदशा	समता रूप स्वभाव दशा
१०४	७	मांगे	भांगे
१०६	२३	पीरा	वीरा
११०	१०	कुमती	कुमति
११२	२०	चेतना-चेतना	चेतन-चेतना
१२०	२	में	की
१३५	३	समाभिरूढ़	समभिरूढ़
१३८	१६	घी	धी
१४५	२४	अपेक्षा	उपेक्षा
१५०	११	कलपना	कल्पना
१६८	३०	रड़षड़े	रड़बड़े

१८७	९	हैरेविलट्स	हैरेक्लिटस
१९१	१८	नहीं है	नहीं होता है
१९७	१०	बिन	बिच
१९८	२५	कथानानुसार	कथनानुसार
२००	२७	खोर घूमत मप	खोइ घूमत मन
२०३	२	धानतराय	द्यानतराय
२१३	१५	इसी	ऐसी
२१३	२९	रागे	रोग
२१४	१	के	से
२१४	१३	इस	इम
२१५	३	इस	इम
२१८	२५	की	से
२४१	७	बैठ	बेड
२५२	२२	जैनागर्मों	जैनागमों
२५३	१४	अविशुद्ध जु	अविशुद्ध सविशुद्ध जु
२५३	१५	मुद्दहे	सद्दहे
२५३	१७	द्विभाव दशा की अशुद्ध	विभाव दशा की दृष्टि से अशु
२६८	१३	यशोऽस्मि	यज्ञोऽस्मि
२६८	२७	अपजाजाप	अजपाजाप
२७१	१९	अनुभूयेत	अनुभूयते
'२७९	५	अंती	अनंती
२८६	१५	विरहजन	विरहजन्य
२८८	१७	हमेली	समेली
२८९	२०	लेकर	लाकर
२९९	१२	तलकि-तलकि	तलफि-तलफि
३०२	७	की उडेलते	को उँढेलते
३०७	१८	झलीती	झिलती
३११	१०	जाणज्य	जाणजो
३२१	४	नाव	नाद
३२७	२३	रमन	रमण
३२८	१	जाता है और	है और